समपण :—

स्वर्गीय पूज्य पिता के चरणों
में
जिनका आशीर्वाद सदा
मेरे साथ रहा है

अपनी बात

अपने खोज-कार्य को पुस्तक-रूप में प्रकाशित होते देख कर, मेरे मन में अनेक स्मृतियाँ जाग्रत हो रही हैं। आज उन सबकी याद मुझे आ रही है जिनका किंचित सहारा, प्रोत्साहन तथा स्नेह और जिनका पुण्य आशीर्वाद मुझे मेरे जीवन में पग-पग बढ़ा सका है। और जब मैं मुड़ कर गत-जीवन की ओर देखता हूँ तो लगता है मुझको लेकर मेरे पास अपना जैसा कुछ नहीं है। यदि मेरे जीवन से वह सब कुछ निकाल दिया जाय जो दूसरों के स्नेह और आशीर्वाद का है तो लगता है मैं शून्य को घेरे हुए परिधि मात्र रह जाऊँगा।

आज मुझे सबसे अधिक उन गुरुजनों का स्मरण आ रहा है जिन्होंने मेरे विद्यार्थी-जीवन के पग-पग पर मुझे सहारा दिया है। उनका स्नेह-पूर्ण प्रोत्साहन ही था जो मेरी विवश निराशाओं में भी मुझे आशा और आश्वासन देता रहा है। परीक्षाओं में जब-जब अपनी विवशता और दूसरों के अन्याय के कारण मेरा प्राप्य मुझे नहीं मिला, मेरे उन गुरुजनों ने ममत्वपूर्ण स्नेह के स्वर में यही कहा था—"अध्ययन और आज की इन परीक्षाओं में कोई संबंध नहीं, रघुवंश, वाणी के मंदिर में साधना ही सच्ची परीक्षा है।" सो सब कुछ तो मैं नहीं कर सका, लेकिन उनके स्नेह से जो प्रोत्साहन और प्रेरणा मिलती रही थी, उसी के फलस्वरूप मैं इस रास्ते इतना आगे बढ़ सका हूँ—यह मेरा विश्वास है।

विश्वविद्यालय के विद्यार्थी-जीवन में मुझे सब से अधिक संघर्ष करना पड़ा है। पर गुरु-जनों की कृपा मुझ पर रही है और उनका मैं आभारी हूँ। होस्टल-जीवन में मुझे जो सुविधाएँ प्राप्त थी उसके लिए अपने होस्टल के सेक्रेटरी पं० अनन्दीप्रसाद जी दुबे और

...र्डन पं० देवीप्रसाद जी का मैं कृतज्ञ हूँ। पूज्य दुबे जी के सहज स्वभाव के लिए मेरे मन में अत्यंत श्रद्धा है। श्रद्धेय कुलपति पं० अमरनाथ झा जी ने समय-समय पर जो सहायता और सुविधाएँ मुझे प्रदान की, उनके बिना मेरा कार्य सम्भव नहीं था और मैं उनकी उदारता के प्रति अनुग्रहीत हूँ। पूज्य डा० धीरेन्द्र वर्मा जी ने मेरे कार्य के विषय में समय-समय पर परामर्श आदि से मुझे सहायता दी है, और उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

पूज्य डा० रामकुमार वर्मा जी के निरीक्षण में मैंने यह कार्य किया है। और उन्होंने निरन्तर अपना बहुमूल्य समय देकर मेरी सहायता की है। उनके स्नेह और अनुग्रह दोनों के लिए मैं कृतज्ञ हूँ। पूज्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने जो स्नेह और अपना समय मुझे दिया, वह स्मरणीय है। मैं कई सप्ताह तक शांति निकेतन में उनके साथ रहकर जो स्नेह और परामर्श पा सका, उसके लिए नहीं जानता किस प्रकार कृतज्ञता प्रकाशन करूँ।

श्रद्धेया शुभ श्री महादेवी जी ने व्यस्त और अस्वस्थ स्थिति में भी इसके लिए दो शब्द लिखने का कष्ट उठाया है। उनका जो सहज स्नेह मुझे प्राप्त है, उसके लिए क्या कहूँ। साथ ही इधर क... वर्षों में जो स्नेह और सहयोग मुझे अपने परम आत्मीय और सुह... मित्रों, रामलाल, आत्माराम, केशवप्रसाद, गंगाप्रसाद पाण्डेय, रामसि... तोमर और ब्रजमोहन जी से मिलता रहा है—उसका इस अवसर... स्मरण अनायास ही आ जाना स्वाभाविक है—हम अपने सं... की निकटता में ऐसे ही है।

इस शोध-कार्य को लेकर कुछ ऐसे आत्मीय मित्रों की स्मृ... भी मेरे मन में खींच गयी है, जो मेरे हर्ष-विषाद का कारण... भाई ओमप्रकाश ने यदि मुझे एम० ए० पास करने के... प्रोत्साहन न दिया होता, तो शायद ही यह कार्य मैं प्रारम्भ... करता। बहन [illegible] और भाई रामानन्द ने मिलाने का

इन्हीं का है। इन दोनों ने मेरी आर्थिक कठिनाई के प्रारम्भिक वर्षों में जो सहायता दी है, उसके बिना मैं इलाहाबाद नहीं रह सकता था। स्वर्गीय मथुराप्रसाद की याद तो आज मेरे विद्यार्थी जीवन की सबसे निर्मम कसक है—वे मेरे एम० ए० के सहपाठी थे और उनका स्नेह और हास्य मेरे लिए सबसे सबल प्रेरणा शक्ति थी।

खोज-कार्य के संबंध में श्री पृथ्वीनाथ जी ने पुस्तकालय और पुस्तकों को खोजने में, श्री 'क्षेम' जी ने पुस्तकों की सूची बनाने में और हमारे लाइब्रेरी के उपाध्यक्ष श्री त्रिवेदी जी तथा श्री मिश्र जी ने जो सौजन्यता तथा सहायता दी है उसके लिए मैं अत्यंत आभारी हूँ।

इस पुस्तक के छपने का श्रेय भाई हरीमोहन दास और श्री पुरुषोत्तमदास जी टंडन को है, उनकी इस कृपा के लिए मैं आभारी हूँ। साथ ही हिन्दी साहित्य प्रेस के कर्मचारियों का भी कृतज्ञ हूँ।

अन्त में मैं पाठकों से क्षमा मागूँगा, क्योंकि पुस्तक में छपाई और प्रूफ संबंधी अनेक भूलें रह गई हैं जिनको अगले संस्करण में ही सुधारा जा सकेगा।

फाल्गुन कृष्ण ७, २००५ **रघुवंश**

दो शब्द

दृश्य प्रकृति मानव-जीवन को अथ से इति तक चक्रवाल की तरह घेरे रहती है। प्रकृति के विविध कोमल-कठिन सुन्दर-विरूप, व्यक्त-रहस्यमय रूपों के आकर्षण-विकर्षण ने मनुष्य की बुद्धि और हृदय को कितना परिष्कार और विस्तार दिया है इसका लेखा जोखा करने पर मनुष्य प्रकृति का सब से अधिक ऋणी ठहरेगा। वस्तुतः संस्कार-क्रम में मानवजाति का भावजगत ही नहीं उसके चिन्तन की दिशायें भी प्रकृति के विविध रूपात्मक परिचय तथा उससे उत्पन्न अनुभूतियों से प्रभावित हैं।

ऐसी स्थिति में काव्य, जो बुद्धि के मुक्त वातावरण में खिला भावभूमि का फूल है प्रकृति से रंग रूप पाकर विकसित हो सका तो आश्चर्य्य नहीं।

हमारे देश की धरती इतनी विराट है कि उसमें प्रकृति की सभी सरल कुटिल रेखायें और हल्के गहरे रंग एकत्र मिल जाते हैं। परिणामतः युग विशेष के काव्य में भी प्रकृति की अनमिल रेखायें और विरोधी रंगों की स्थिति अनिवार्य है। पर इन विभिन्नताओं के मूल में भारतीय दृष्टि की वह एकता अक्षुण्ण रहती है जो प्रकृति और जीवन को किसी विराट समुद्र के तल और जल के रूप में ग्रहण करने की अभ्यस्त है।

हमारे यहाँ प्रकृति जीवन का वातावरण ही नहीं आकार भी है। हमारी प्रकृति की काव्य-स्थिति में देवता से देवालय तक का अवरोह और देवालय से देवता तक का आरोह दोनों ही मिलते हैं।

सम्पूर्ण वैदिक वाङमय इस प्रकृति देवता के अनेक रूपों की अवतार-कथा है जो इस देश की समृद्ध कल्पना और भाव-वैभव की

चित्रशाला है।

वैदिककाल के ऋषि प्राकृतिक शक्तियों से सभीत होने के कारण उनकी अर्चना वन्दना करते थे, ऐसी धारणा संकीर्ण ही नहीं भ्रान्त भी है। उषा, मरुत, इन्द्र, वरुण जैसे सुन्दर, गतिशील, जीवनमय और व्यापक प्रकृति रूपों के मानवीकरण में जिस सूक्ष्म निरीक्षण, सौन्दर्यबोध और भाव की उन्नत भूमि की अपेक्षा रहती है वह अज्ञान-जनित आतंक में दुर्लभ है। इसके अतिरिक्त मनोविकार और उनकी अभिव्यक्ति ही तो काव्य नहीं कहला सकती। काव्य की कोटि तक पहुँचने के लिए अभिव्यक्ति को कला के द्वार से प्रवेश पाना होता है।

हमारे वैदिक कालीन प्रकृति-उद्गीथ भाव की दृष्टि से इतने गम्भीर और व्यञ्जना की दृष्टि से इतने पूर्ण और कलात्मक हैं कि उन्हें अनुभूत न कहकर स्वतः प्रकाशित अथवा अनुभावित कहा गया है।

इस सहज सौन्दर्य-बोध के उपरान्त जो जिज्ञासामूलक चिन्तना जागी वह भी प्रकृति को केन्द्र बना कर घूमती रही। वेदान्त का अद्वैतमूलक सर्ववाद हो या सांख्य का द्वैत मूलक पुरुष-प्रकृतिवाद सब चिन्तन-सरणियाँ प्रकृति के धरातल पर रह कर महाकाश को छूती रहीं।

उठती गिरती लहरों के साथ उठने गिरने वाले को जैसे सब अवस्थाओं में जल की तरलता का ही बोध होता रहता है उसी प्रकार वैदिककाल के अलौकिक प्रकृतिवाद से संस्कृत काव्य की स्नेह सौहार्दमयी संगिनी प्रकृति तक पहुँचने पर भी किसी विशेष अन्तर का बोध न हो यह स्वाभाविक है।

संस्कृत काव्यों के पूर्वार्ध में प्रकृति ऐसी व्यक्तित्वमती और स्पन्दनशील है कि हम किसी पात्र को एकाकी की भूमिका में नहीं [illegible]। कालिदास या भवभूति की प्रकृति को जड़ और मानव भिन्न

स्थिति देने के लिए हमें प्रयास करना पड़ेगा। जिस प्रकार हम पर्वत, वन, निर्झर आदि से शून्य धरती की कल्पना नहीं कर सकते उसी प्रकार इन प्रकृति रूपों के बिना मानव की कल्पना हमारे लिए कठिन हो जाती है।

संस्कृत काव्य के उत्तरार्ध की कथा कुछ दूसरी है। भाव के प्रवाह के नीचे बुद्धि का कठोर धरातल अपनी सजल एकता बनाये रहता है, किन्तु उसके रुकते ही वह पंकिल और अनमिल दरारों में बँट जाने के लिए विवश है।

हिन्दी काव्य को संस्कृत काव्य की जो परम्परा उत्तराधिकार में प्राप्त हुई वह रूढिगत तो हो ही चुकी थी साथ ही एक ऐसे युग को पार कर आई थी जो संसार को दुःखमय मानने का दर्शन दे चुका था। जीवन की देशकाल गत परिस्थितियों ने इस साहित्य-परम्परा को इतना अवकाश नहीं दिया कि वह अपनी कठोर सीमा रेखाओं को कुछ कोमल कर सकती। परन्तु जिस प्रकार जीवन के लिए यह सत्य है कि वह अंश-अंश में पराजित होने पर भी सर्वांश में कभी पराजित नहीं होता उसी प्रकार प्रकृति भी अपराजित हो रही है। हर नवीन युग की भावभूमि पर वह ऐसे नये रूप में आविर्भूत होती रहती है जो न सर्वतः नवीन है और न पुरातन।

हिन्दी काव्य का मध्ययुग अनेक परस्पर विरोधी सिद्धान्तों, आदर्शों और परम्पराओं को अपनी वैयक्तिक विशेषता पर सँभाले हुए है। उसने अपने उत्तराधिकार में मिले उपकरणों को अपने पथ का सम्बल मात्र बनाया और जहाँ वे भारी जान पड़े वहीं उनके कुछ अंश को निसंकोच फेंक कर आगे पग बढ़ाया। आज वर्तमान के वातायन से उन सुदूर अतीत के यात्रियों पर दृष्टिपात करते ही हमारा मस्तक सम्मान से नत हो जाता है, अतः उनके काव्य की कोई निष्पक्ष विवेचना सहज नहीं। विस्तार की दृष्टि से भी यह कार्य अधिक समय और अध्यवसाय की अपेक्षा रखता है। दर्शन और

भाव की दृष्टि से यह काव्ययुग ऐसा विविध रूपात्मक हो उठा है कि उसकी किसी एक विशेषता के चुनाव में ही जिज्ञासा थक जाती है।

निर्गुण के मुक्त आकाश में सगुणवाद की इतनी सजल रंगीन बदलियाँ घिरी रहती हैं कि पैनी दृष्टि भी न आकाश पर ठहर पाती है और न घटाओं पर स्थिर हो पाती है। साधना के अकूल सिकता-विस्तार में माधुर्य भाव के इतने फूल खिले हुए हैं कि न रुकने वाले कठोर पग भी ठहर-ठहर जाते हैं। अव्यक्त रहस्य पर व्यक्त तत्व ने इतनी रेखायें खींच दी हैं की एक की नापतोल में दूसरा नपता-तुलता रहता है।

ऐसे युग की प्रकृति और उसकी काव्य-स्थिति के सम्बन्ध में शोध का कार्य विषय की विविधता के कारण एक दिशा मे नहीं चल पाता।

भाई रघुवंश जी ने इस युग के काव्य और प्रकृति को अपनी शोध का विषय स्वीकार कर एक नई दिशा की सफल खोज की है।

शोधमूलक प्रबन्धों के सम्बन्ध में प्रायः यह धारणा रहती है कि उनमें शोधकर्त्ता का अध्यवसाय मात्र अपेक्षित है, मौलिक प्रतिभा उसके लिए अनावश्यक है। इस धारणा का कारण यहाँ के मौलिककृती और चिन्तनशील विद्वान के बीच की खाई ही कही जायगी जो विदेशी भाषा के प्राधान्य के कारण बढ़ती ही गई।

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक प्रतिभावान साहित्यिक और अध्यवसायी जिज्ञासु हैं अतः उनके प्रबन्ध में चिन्तन और भाव का अच्छा समन्वय स्वाभाविक हो गया है। हिन्दी के क्षेत्र में आने से पहले संस्कृत ही उनका विषय रहा है, अतः उनके अध्ययन की परिधि अधिक विस्तृत है।

किसी कृति को त्रुटि रहित कहना तो उसके लेखक के भावी विकास का मार्ग रुद्ध कर देना है। विश्वास है कि प्रस्तुत अध्ययन की त्रुटियों में भी विद्वानों को भावी विकास के संकेत मिलेंगे।

प्रयाग, १७-२-४६

महादेवी

प्रकृति और हिन्दी काव्य

आमुख

§ १—प्रस्तुत कार्य्य को आरम्भ करने के पूर्व हमारे सामने 'प्रकृति और काव्य' का विषय था। प्रचलित अर्थ में इसे काव्य में प्रकृति-चित्रण के रूप में समझा जाता है, पर हमारे सामने यह विषय इस रूप में नहीं रहा है। जब हमको हिन्दी साहित्य के भक्ति तथा रीति कालों को, लेकर इस विषय पर खोज करने का अवसर मिला, उस समय भी विषय को प्रचलित अर्थ में नहीं स्वीकार किया गया है। हमने विषय को काव्य में प्रकृति संबन्धी अभिव्यक्ति तक ही सीमित नहीं रखा है। काव्य को कवि से अलग नहीं किया जा सकता, और कवि के साथ उसकी समस्त परिस्थिति को स्वीकार करना होगा। यही कारण है कि यहाँ प्रकृति और काव्य का संबन्ध कवि की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति दोनों के विचार से समझने का प्रयास किया गया है, साथ ही काव्य की रसात्मक प्रभावशीलता को भी दृष्टि में रक्खा गया है। विषय की इस विस्तृत सीमा में प्रकृति और काव्य संबन्धी अनेक प्रश्न सन्निहित हो गए हैं। प्रस्तुत कार्य्य में केवल 'ऐसा है' से सन्तुष्ट न रहकर, 'क्यों है?' और 'कैसे है?' का उत्तर देने का प्रयास किया गया है। कार्य्य के विस्तार से यह स्पष्ट है कि इस विषय से संबन्धित इन तीनों प्रश्नों के आधार पर आगे बढ़ा गया है। सम्भव है यह प्रयोग नवीन होने से प्रचलित के अनुरूप न लगता हो; और प्रकृति तथा काव्य की दृष्टि से युग की व्यापक पृष्ठ-भूमि और आध्यात्मिक साधना संबन्धी विस्तृत विवेचनाएँ विचित्र लगती हों। परन्तु विचार करने से यही उचित लगता है कि विषय की यथार्थ विवेचना वैज्ञानिक रीति से इन तीनों ही प्रश्नों को लेकर की जा सकती है।

विषय प्रवेश

§ २—हम अपने प्रस्तुत विषय में जिस प्रकृति और काव्य के विषय पर विचार करने जा रहे हैं, उनके बीच मानव की स्थिति निश्चित है। मानव को लेकर ही इन दोनों का संबन्ध सिद्ध है। आगे की विवेचना में हम देखेंगे कि अपनी मध्य-स्थिति के कारण मानव इन दोनों के संबन्ध की व्याख्या में अधिक महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि प्रथम भाग की विवेचना मानव और प्रकृति के संबन्ध से प्रारम्भ हो कर प्रकृति और काव्य के संबन्ध की ओर अग्रसर हुई है। आगे हम देख सकेंगे कि मानव अपने विकास में प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त करता रहा है: और काव्य मानव के विकसित मानस की अभिव्यक्ति है। यही प्रकृति और काव्य के संबन्धों का आधार है। दूसरे भाग में युग संबन्धी अनेक व्याख्याएँ इसी दृष्टि से की गई हैं जिनके माध्यम से विषय संबन्धी प्रश्नों का उत्तर मिल सका है।

मानव की मध्य स्थिति

§ ३—प्रत्येक क्षेत्र में जहाँ सिद्धान्त की स्थापना की जाती है दो रीतियाँ काम में लाई जाती हैं। निगमन (Deduction) के द्वारा विशेष सिद्धान्त को साधारण सत्यों के आधार स्थापित करते हैं और विगमन (induction) में साधारण सत्यों के माध्यम से विशेष सिद्धान्तों तक पहुँचते हैं। इस कार्य में इन दोनों ही रीतियों को प्रयोग मे लाया गया है। कला और साहित्य के क्षेत्र मे यह आवश्यक भी है। इनमें साधारण सत्यों की स्थिति अधिक निश्चित नहीं है यह बहुत कुछ कल्पना और प्रस्तुतीकरण पर निर्भर है। इसी कारण प्रथम भाग में प्रकृति और काव्य के विषय की मानव से संबन्धित विभिन्न शास्त्रों के आधार पर विवेचना की गई है। इस विवेचना में मानव और प्रकृति के संबन्ध को दर्शन, तत्त्ववाद, मानसशास्त्र, मानव-शास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र आदि के माध्यम से समझने का प्रयास किया गया है। इस प्रणाली में निगमन का आधार अधिक लिया

काव्य की सीमा का निर्देश

गया है। दूसरे भाग में निश्चित कालों के काव्य के अध्ययन को प्रस्तुत करके सिद्धान्तों को एकत्रित किया गया है; यह विगमन प्रणाली है। अन्य जिन् शास्त्रों के सिद्धान्तों का आश्रय लिया गया है वह साधारण सहज बोध के आधार पर ही हो सका है। यह सहज बोध का आधार प्रस्तुत विषय के अनुरूप है; आगे इस पर प्रथम भाग के प्रथम प्रकरण में विचार किया गया है।

§ ४—हमारे खोज-कार्य्य की सीमा में हिन्दी साहित्य के भक्ति तथा रीति काल स्वीकृत हैं। परन्तु प्रस्तुत विषय की दृष्टि से इन दोनों कालों को अलग मानकर चलना उचित नहीं होगा, ऐसा कार्य्य के आगे बढ़ने पर समझा गया है। इसलिए इन दोनों को हमने सर्वत्र हिन्दी साहित्य का मध्ययुग माना है। संक्षेप के विचार से अनेक स्थलों पर केवल मध्ययुग कहा गया है। भारतीय मध्ययुग को अलग करने के लिए उसके लिए सर्वदा 'भारतीय मध्ययुग' का प्रयोग किया गया है। भक्ति-युग के प्रारम्भ से रीति-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ मिलती रही हैं और भक्ति-काव्य की परम्पराएँ बाद तक बराबर चलती रही हैं। यह बहुत कुछ अवसर और संयोग भी हो सकता है कि युग के एक भाग में एक प्रकार के महान कवि अधिक हुए। यद्यपि राजनीतिक वातावरण का प्रभाव रीति-काल की प्रेरणा के रूप में अवश्य स्वीकार किया जायगा। परन्तु इन कारणों से अधिक महत्त्वपूर्ण बात इन कालों को मध्ययुग के रूप में मानने के लिए यह है कि अधिकांश भक्त-कवि साहित्यिक आदर्शों का पालन करते हैं और अधिकांश रीतिकालीन कवि साधक न होकर भी भक्त हैं। इस के अतिरिक्त जैसा कहा गया है विषय के विचार से इन कालों को एक नाम से कहना अधिक उपयोगी रहा है। ऐसा करने से एक ही प्रकार की बात को दोबारा कहने से बचा जा सका है और साथ ही कार्य्य में सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। प्रकृति के विचार से रीति-काल भक्ति-काल के समक्ष बहुत संक्षिप्त हो जाता।

युग की समस्या

इस प्रकार भक्ति-काल तथा रीति-काल के लिए सर्वत्र मध्ययुग का प्रयोग किया गया है।

§ ५—मध्ययुग के काव्य की प्रवृत्तियों के विषय में विचार करते समय 'स्वच्छंदवाद' का प्रयोग हुआ है। यह शब्द अंगरेजी शब्द 'Romanticism' से वहुत कुछ समता रखते हुए भी विलकुल उसी अर्थ में नहीं समझा जा सकता है। इसका विभेद वहुत कुछ विवेचना के माध्यम से ही व्यक्त हुआ है। यहाँ यह कह देना ही पर्याप्त है कि इनमें जीवन की उन्मुक्त अभिव्यक्ति का विषय समान है, पर प्रकृति संबन्धी दृष्टि विन्दुओं का भेद है। आगे की विवेचना में काव्य में प्रकृति-रूपों की व्याख्या करते समय प्रकृतिवादी रूपों का उल्लेख तुलनात्मक दृष्टि से किया गया है। इस तुलनात्मक अध्ययन से इस युग के काव्य में प्रकृति के स्थान के प्रश्न पर अधिक प्रकाश पड़ सका है और प्रकृतिवादी दृष्टि की उपेक्षा का कारण भी स्पष्ट हो गया है। प्रकृतिवादी या रहस्यवादी साधक का प्रयोग ऐसे ही प्रसंगों में हुआ है जिनका अर्थ उन कवि अथवा रहस्यवादियों से है जिन्होंने प्रकृति को अपना माध्यम स्वीकार किया है।

स्वच्छदवाद और प्रकृतिवाद

§ ६—मध्ययुग के काव्य को समझने के लिए एक वात का जान लेना आवश्यक है। वह है इस युग का रूपात्मक रूढ़िवाद (Formalism); वस्तुतः जिस अर्थ में हम आज इसे लेते हैं, उस युग के लिए यह ऐसा नहीं था। वस्तुतः भारतीय आदर्शवाद में जो 'सादृश्य' की भावना स्वर्गीय कल्पना से रूप ग्रहण करती है, उसी का यह परिणाम था। भारतीय कला तथा साहित्य में परम्परा या परिपाटी आदर्श के रूप में निहित चली आती थी, और उसका अनुकरण साहित्य तथा कला का आदर्श बन गया था। इसी कारण अधिकतर मध्ययुग के काव्य में लगता है किसी एक ही प्रकार (टाइप) का

रूपात्मक रूढ़िवाद

अनुकरण है। किसी युग के काव्य को समझने के लिए उसके वातावरण और आदर्शों को जान लेना आवश्यक है। साधारण आलोचना के ग्रंथ में इस बात की स्वतंत्रता हो सकती है कि हम अपने विचार और आदर्शों से किसी युग पर विचार करें। परन्तु खोज-कार्य्य में हमारे सामने युग का प्रत्यक्षीकरण और उसकी वास्तविक प्रवृत्तियों की व्याख्या होनी चाहिए। इसी सिद्धान्त की दृष्टि से प्रस्तुत कार्य्य में युग को उसकी भावना के साथ समझने के प्रयास में उसकी रूपात्मक रूढ़िवादिता को स्वीकार किया गया है।

शब्द और शैली

§ ७—विषय का क्षेत्र नवीन होने के कारण शब्द तथा शैली दोनों की कठिनाइयाँ सामने आई हैं। शब्दों के विषय में केवल उन्हीं नवीन शब्दों को अपनाया गया है जिनके लिए शब्द नहीं थे अथवा उचित शब्द नहीं मिल सके। नवीन शब्दों को प्रसंग के साथ बोध-गम्य करने का प्रयास किया गया है, फिर भी इस विषय में कुछ कठिनाई अवश्य हो सकती है। कुछ शब्दों का प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयोग किया गया है। इनमें 'विज्ञान' शब्द अधिक महत्त्व-पूर्ण है। आइडिया (Idea) के अर्थ में आइडिलिज़्म के समानार्थ में विज्ञानवाद का प्रयोग हुआ है। इसके प्रचलित अर्थ के लिए भौतिक विज्ञान (Science) शब्द का प्रयोग किया गया है। यद्यपि इसके साथ वैज्ञानिक (Scientist) शब्द को प्रचलित अर्थ में स्वीकार किया गया है। इससे विवेचना में कोई भ्रम भी नहीं हो सकता, क्योंकि पहले अर्थ के साथ 'विज्ञानवाद' तथा विज्ञान-तत्त्व तथा विज्ञान-वादी शब्द ही बनते हैं। कुछ शब्दों की सूची अन्त में सुविधा की दृष्टि से दे दी गई है। शैली की दृष्टि से भी कुछ कठिनाइयाँ सामने रही हैं। सम्पूर्ण कार्य्य में संभव है कुछ विचार तथा उदाहरण दुहरा गए हों, क्योंकि कार्य्य के विभाजन की दृष्टि से ऐसा हो सकता था। भरसक ऐसा होने से बचाया गया है; फिर भी इस विषय में त्रुटियों के लिए क्षमा याचना की जा रही है।

विषय संबन्धी निष्कर्षों को व्याख्या के साथ ही स्पष्ट कर दिया गया है। इसलिए उनको एकत्रित रखने की आवश्यकता नहीं हुई।

प्रयाग विश्वविद्यालय,
प्रयाग
११ जनवरी, १९४८ ई०

विषय निर्देशक

प्रथम भाग

प्रकृति और काव्य

प्रथम प्रकरण

द्वितीय प्रकरण

द्वितीय भाग

हिन्दी साहित्य का मध्य युग (प्रकृति और काव्य)

प्रथम प्रकरण

द्वितीय प्रकरण

संबन्ध—पृष्ठ भूमि—बारहमासों की उन्मुक्त भावना—मुक्तकों में इसका रूप—ऋतु वर्णन काव्य—कुछ अन्य रूप।

नवम प्रकरण

अष्टम प्रकरण

प्रथम भाग

प्रकृति और काव्य

प्रथम प्रकरण

प्रकृति का प्रश्न

(रूपात्मक और भावात्मक)

प्रकृति क्या है

§१—प्रश्न उठता है प्रकृति क्या है ? काव्य के संबन्ध को लेकर जिसकी व्याख्या करनी है, वह प्रकृति है क्या ? आवश्यक है कि इस शब्द के प्रयोग की सीमाओं को निर्धारित कर लिया जाय। साथ ही यह भी विचार लेना उचित होगा कि व्यापक अर्थ में प्रकृति शब्द क्या बोध कराता है; परम्परा इसे किस अर्थ में ग्रहण करती है; तथा तत्त्ववाद में इसका किस पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग होता है। और इन सबके साथ हमारे निर्धारित अर्थ की संगति भी होनी चाहिए। यहाँ प्रकृति शब्द अङ्गरेज़ी भाषा के 'नेचर' शब्द के लगभग समान अर्थों में समझा जा सकता है। परन्तु यह 'नेचर' शब्द भी अपने प्रयोगों की विभिन्नता के कारण कम भ्रामक नहीं है। परम्परा के

सहज बोध को लेकर यही मान्य है। तत्त्ववाद में विरोधी विचारों को लेकर दोनों तत्त्वों की एकान्त भिन्नता समझी जा सकती है। परन्तु सहज बुद्धि इसे ग्रहण नहीं कर सकेगी। उसके लिए तत्त्ववादियों का भौतिक-तत्त्व हो अथवा विज्ञान-तत्त्व हो, वह तो उन्हें प्रकृति के चेतन अचेतन भाव-रूपों में सोच समझ सकेगा। वह विज्ञानात्मक आइडिया की व्याप्ति में विश्व को सचेतन भावमय प्रकृति समझ पाता है और भौतिक पदार्थ के प्रसार में विश्व को अचेतन रूपमय प्रकृति मानता है। व्यापक अर्थ में प्रकृति विश्व की सर्जनात्मक प्रतिकृति समझी जाती है। आगे की विवेचना में देखना है कि इस सहज बोध के दृष्टिकोण ने किस प्रकार दार्शनिकों के विभिन्न विरोधी मतवादों को समन्वय का रूप देने का प्रयास किया है। और साथ ही इस समन्वय के आधार को प्रस्तुत करना है जो काव्य जैसे विषय में आवश्यक है।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर लेनी आवश्यक है। हम आमुख में प्रकृति और काव्य के मध्य में मानव की स्थिति की ओर संकेत कर चुके हैं। परन्तु प्रकृति को समस्त सर्जनात्मक अभिव्यक्ति स्वीकार कर लेने पर मानव भी प्रकृति के ही अन्तर्भूत हो जाता है। फिर प्रकृति संबन्धी हमारी उलझन कठिन हो जाती है। जब हम, मनस्-युक्त शारीरी अपने से अलग-थलग किसी प्रकृति का उल्लेख करते हैं तो वह क्या है? परन्तु सहज बोध इस विषय में अधिक सोच विचार का अवकाश नहीं देता है। वह तो मानवीय मनस् को एक धरातल पर स्वीकार करके चलता है। इस धरातल पर मनस् और उसको धारण करने वाले शरीर को (साथ ही जैसा आमुख में उल्लेख किया गया है मनुष्य के निर्माण-भाग को भी) छोड़कर अन्य समस्त सचेतन

हम देखेंगे कि किस प्रकार भारतीय साधना में इस भावधारा की प्रमुखता रही है।

विषय काव्य, मानवीय जीवन और समाज के विकास का एक अंग है। इसलिए हमारे विवेचन का आधार सहज बोध के अनुरूप होना ही चाहिए। जहाँ तक मानवीय समस्याओं को समष्टि रूप से समझने का प्रश्न है तत्त्ववाद और भौतिक-विज्ञान एकांगी हैं। एक तो अति-व्याप्ति के दोष से हमारे सामने विरोधी विचारों को उपस्थित करता है जो साधारण व्यक्ति की बुद्धि और अनुभव के पकड़ में नहीं आ सकते। दूसरा अपनी सीमा में इतना संकुचित है कि उससे हमारी जिज्ञासा को संतोष भी नहीं मिलता और व्यापक प्रश्न भी अधूरे रह जाते हैं। इस कारण हमारी विवेचना का आधार प्रमुखतः सहज बोध ही रहेगा। इससे दर्शन और विज्ञान (भौतिक) के सिद्धान्तों के समन्वय का अवसर मिलेगा। साथ ही विवेचना का विषय प्रस्तुत कार्य की परम्परा से अधिक दूर नहीं हो सकेगा।

§३—प्रकृति के स्वरूप के विषय में विचार करने के पूर्व एक उल्लेख और भी कर देना आवश्यक है। इस प्रकरण की व्याख्या किसी विकासोन्मुखी परम्परा या ऐतिहासिक क्रम का अनुसरण न करके अपने प्रतिपादन के क्रम से चलेगी। ऐसी स्थिति में दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक

विवेचना क क्रम

चाहिए और न साधारण व्यक्ति का अर्थ जन साधारण से ही लेना चाहिए। इस विषय में स्टाउट का कथन इस प्रकार है—'व्यावहारिक योग्यता के लिए जो कुछ सिद्धान्त वस्तुतः अपरिहार्य रूप से निश्चित हैं वे सहज बोध द्वारा स्वीकृत माने जाते हैं। फिर भी दार्शनिक ही अपने उच्च स्तर से तथा अपनी प्रणाली से इसकी उपादेयता का निश्चय कर सकता है। लेकिन जब दार्शनिक इस प्रकार आगे बढ़ता है, वह केवल एकान्त रूप से जन साधारण को संबोधित नहीं करता। सहजबोध के नाम पर वह जो कुछ बलपूर्वक कहेगा, व्यापक रूप से मानवीय अनुभवों की तुलनात्मक विवेचना पर ही आधारित होगा।' (माइन्ड ऐण्ड मैटर; प्रथम प्रकरण, कामनसेंस ऐन्ड फिलासफी पृ० ६)

और अचेतन सृष्टि प्रसार को प्रकृति स्वीकार किया जाता है। प्रश्न हो सकता है कि सहज बोध के स्वयं-सिद्ध निर्णय को स्वीकार करने के लिए कुछ आधार भी है अथवा यों ही मान लिया जाय। अगले प्रकरण के शरीर और मनस् संबन्धी अनुच्छेद में इस विषय में तत्त्ववादियों और वैज्ञानिकों के मतों की विवेचना की जायगी। लेकिन सहज बोध का मत उपेक्षणीय भी नहीं है।

सहज बोध की दृष्टि

§२—वस्तुतः सहज बोध की दृष्टि हमारे लिए आवश्यक भी है। हमारा विषय साहित्य है, हमारा क्षेत्र काव्य का है। काव्य में तर्क से अधिक अनुभूति रहती है जो समन्वय के सहज आधार पर ही ग्रहण की जा सकती है। साथ ही काव्यानुभूति में प्रवेश पाने की शर्त रसज्ञता है विद्या का वैभव नहीं। इसलिए भी सहज बोध का आधार हमारी विवेचना के लिए अधिक उचित है। देखा जाता है कि वैज्ञानिकों और तत्त्ववादियों का मत अपनी सीमाओं में सत्य होकर भी एक दूसरे का बहुत कुछ विरोधी होता है। तत्त्ववाद के तर्क हमको ऐसे तथ्यों पर पहुँचा देते हैं, जो साधारण व्यक्ति के लिए आश्चर्य का कारण हो सकता है पर उनके विश्वास की वस्तु नहीं। इस प्रकार के विरोधों को दूर करने के लिए तथा सत्य को बोध-गम्य बनाने के लिए साधारण व्यक्ति के सम्मुख समन्वय का विचार रखना आवश्यक है। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के लिए भी सहज बोध के साक्ष्य पर उसे छोड़ने के पूर्व, विचार कर लेना आवश्यक है। साधारण व्यक्ति और सहज बोध के साक्ष्य का यह तात्पर्य नहीं है कि वह अवैज्ञानिक या अतार्किक मत है अथवा निम्नकोटि की बुद्धि से संबन्धित है। इसका अर्थ केवल यह है कि वह सहजग्राही है। पर वह स्वतः भी अपनी सीमा में वैज्ञानिक तथा तार्किक दृष्टि है।[२] हमारी विवेचना का

---

२ यहाँ सहज बोध सर्व साधारण से संबन्धित नहीं माना जाना

विषय काव्य, मानवीय जीवन और समाज के विकास का एक अंग है। इसलिए हमारे विवेचन का आधार सहज बोध के अनुरूप होना ही चाहिए। जहाँ तक मानवीय समस्याओं को समष्टि रूप से समझने का प्रश्न है तत्त्ववाद और भौतिक-विज्ञान एकांगी हैं। एक तो अति-व्याप्ति के दोष से हमारे सामने विरोधी विचारों को उपस्थित करता है जो साधारण व्यक्ति की बुद्धि और अनुभव के पकड़ में नहीं आ सकते। दूसरा अपनी सीमा में इतना संकुचित है कि उससे हमारी जिज्ञासा को संतोष भी नहीं मिलता और व्यापक प्रश्न भी अधूरे रह जाते हैं। इस कारण हमारी विवेचना का आधार प्रमुखतः सहज बोध ही रहेगा। इससे दर्शन और विज्ञान (भौतिक) के सिद्धान्तों के समन्वय का अवसर मिलेगा। साथ ही विवेचना का विषय प्रस्तुत कार्य की परम्परा से अधिक दूर नहीं हो सकेगा।

विवेचना क क्रम

§३—प्रकृति के स्वरूप के विषय में विचार करने के पूर्व एक उल्लेख और भी कर देना आवश्यक है। इस प्रकरण की व्याख्या किसी विकासोन्मुखी परम्परा या ऐतिहासिक क्रम का अनुसरण न करके अपने प्रतिपादन के क्रम से चलेगी। ऐसी स्थिति में दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक

चाहिए और न साधारण व्यक्ति का अर्थ जन साधारण से ही लेना चाहिए। इस विषय में स्टाउट का कथन इस प्रकार है—'व्यावहारिक योग्यता के लिए जो कुछ सिद्धान्त वस्तुतः अपरिहार्य रूप से निश्चित हैं वे सहज बोध द्वारा स्वीकृत माने जाते हैं। फिर भी दार्शनिक ही अपने उच्च स्तर से तथा अपनी प्रणाली से इसकी उपादेयता का निश्चय कर सकता है। लेकिन जब दार्शनिक इस प्रकार आगे बढ़ता है, वह केवल एकान्त रूप से जन साधारण को संबोधित नहीं करता। सहजबोध के नाम पर वह जो कुछ बलपूर्वक कहेगा, व्यापक रूप से मानवीय अनुभवों की तुलनात्मक विवेचना पर ही आधारित होगा।' (माइन्ड ऐण्ड मेटर; प्रथम प्रकरण, कामनसेंस ऐन्ड फिलासफी पृ० ६)

सिद्धान्तों में विपर्यय हो सकता है। यह भी सम्भव है कि विकास की किसी प्राथमिक स्थिति को बाद में उठाया जाय और विकास की अन्य कड़ी का उल्लेख पहले ही कर दिया जाय। यहाँ उद्देश्य विषय की सच्ची और पूर्ण व्याख्या उपस्थित करना है। उसमें कोई भी दार्शनिक सिद्धान्त या ऐतिहासिक सत्य प्रस्तुत विषय के समर्थन के लिए कहीं भी उपस्थित हो सकता है।

भौतिक प्रकृति

यहाँ भौतिक प्रकृति से भौतिक-तत्त्व रूप प्रकृति का अर्थ नहीं है। इस स्थल पर भौतिक प्रकृति का प्रयोग मनस् के द्वारा इन्द्रिय-प्रत्यक्षों से अनुभूत प्रकृति के रूप से अलग करके समझने के लिए हुआ है। इसको इस प्रकार कह सकते हैं कि द्रष्टा के विचार से अलग करके दृश्य जगत का जो रूप हो सकता है; उस पर इस विभाग में विचार किया जायगा। व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा सम्भव नहीं है, पर तत्त्ववाद इस प्रकार की विवेचनाओं का अभ्यस्त है। और इन्हीं विवेचनाओं की समीक्षा भी यहाँ करनी है। हम देखेंगे कि तत्त्ववादियों की भौतिक-प्रकृति संबन्धी विवेचनाओं में भी प्रकृति में सन्निहित भाव और रूप का प्रश्रय लिया गया है। यह सहज बोध के अनुरूप है।

भौतिक-तत्त्व और विज्ञान तत्त्व

§४—मिथयुग मानव की प्रवृत्तियों का विकास-युग था। उस समय जैसे मानवीय चेतना प्रकृति के सचेतन क्रोड़ से मनस् की स्वचेतन स्थिति में प्रवेश कर चुकी थी। इस युग का अध्ययन मानवीय प्रवृत्तियों तथा भावों के विकास के लिए आवश्यक है। साथ ही मानव की अध्यात्म संबन्धी रहस्यात्मक चेतना का मूल भी इसी में खोजा जा सकता है। परन्तु इस युग के बाद ही, वरन जब मानव उस युग की स्थिति से अलग हो ही रहा था, वह विश्व रूप प्रकृति के प्रति प्रश्नशील हो उठा। यह सब क्या है, कैसे है और क्यों है। अपने

चारो ओर की नाना-रूपात्मक, आकार-प्रकारमयी, ध्वनि-नादों से युक्त, प्रवाहित गतिमान् परिवर्तनशील सृष्टि, प्रकृति के प्रति मानव स्वयं ही धीरे-धीरे जागरूक हुआ—प्रश्नशील हुआ। इसी आधार पर आगे चल कर सर्जन का दार्शनिक प्रश्न सामने आता है और आदि तत्त्व की खोज होती है। पूर्व पश्चिम के अनेक तत्त्ववादियों ने अनेक उत्तर दिए। कोई जल कहता था तो कोई अग्नि। इस व्याख्या के समानान्तर वैदिक-युग के देवताओं की प्रतिद्वन्द्विता का स्मरण आता है। कभी आदि देव सूर्य हैं तो कभी इन्द्र। इन एक और अनेक भौतिक-तत्त्वों से संबन्धित मतवादों के साथ ही वस्तु पदार्थों की तत्त्वतः विज्ञानात्मक स्थिति माननेवाले मत प्रमुख होते गए। जिस प्रकार भौतिक मतवादों में पदार्थ के वस्तु-रूपों पर बल दिया गया, उसी प्रकार विज्ञानात्मक मतवादों में पदार्थ के मनस् से संबन्धित भावों को लेकर चला गया। मनस् का विज्ञानात्मक स्थिति से संबन्ध अगले प्रकरण में अधिक स्पष्ट हो सकेगा। वस्तुतः तत्त्ववाद की दृष्टि में जो भौतिक है वह साधारण अर्थ में प्रकृति का रूप है और जो विज्ञान है वह भाव माना जा सकता है। विज्ञानवादियों में भी अद्वैत तथा द्वैत का मतभेद चला है। यद्यपि तत्त्ववाद में इस सर्जन के सत्य को लेकर अनेक मत प्रचलित रहे हैं; लेकिन आगे चल कर विज्ञानवादियों और भौतिकवादियों की स्पष्ट विरोधी स्थिति उत्पन्न हो गई। एक विज्ञान तत्त्व के माध्यम से समस्त प्रकृति-सर्जना को समझने का प्रयास करता है; तो दूसरा सर्जन-विकास के आधार पर भौतिक-तत्त्वों द्वारा मनस् की भी व्याख्या करने का दावा रखता है।

भारतीय तत्त्ववाद

§५—भारतीय तत्त्ववाद यूनानी तत्त्ववाद के समान ही प्राचीन है और महान है। वरन भारतीय दर्शन की परंपरा अधिक प्राचीन तथा व्यापक कही जा सकती है। यहाँ इस समस्या से हमारा कोई संबन्ध नहीं है। हमें तो दोनों ही तत्त्ववादी परंपराओं की समीक्षा में सहज बोध के योग्य

तथ्यों को देखना और ग्रहण करना है। भारतीय दर्शन में वैदिक काल से ही प्रकृति का प्रश्न मिथ संबन्धी रहस्य भावना से हटकर विश्व के रूप में उपस्थित हुआ था। अनेक लोकों के देवता अनेक होकर भी विश्व एक है। यह एकत्व का विश्वास वैदिक ऋषियों को एक परम सत्य की ओर ले गया। सर्जन और विकास दोनों का भाव इसमें मिलता है। वेदों में इन्द्रियातीत परावर सत्ता का उल्लेख भी मिलता है जो विज्ञानात्मक कही जा सकती है। साथ ही पृथ्वी और स्वर्ग की भावना प्रारम्भ से ही भौतिक-तत्त्व तथा विज्ञान-तत्त्व का संकेत देती है। अनन्तर उपनिषद्-काल तक भौतिकवादी वेदों के सप्रपंच के साथ निष्प्रपंच विश्व की व्याख्या की जाने लगी। आत्मा और विश्वात्मा के रूप में विज्ञान-तत्त्व को ही अधिक महत्त्व मिला। आत्म-तत्त्व विश्व का अन्ततम सर्जनात्मक सत्य माना गया। भौतिक स्थिति विश्व की वाहरी रूपात्मकता है, जिसकी कल्पना से ही ब्रह्म (विश्वात्मा) तक पहुँचा जा सकता है। उपनिषदों के मनीषियों में अद्भुत समन्वय बुद्धि है, और इसी कारण उनमें विरोधी बातों का उल्लेख जान पड़ता है। पर वस्तुतः प्रकृति के भाव और रूप दोनों को लेकर मानव चल सका है। और आत्मवाद के रूप में उपनिषद चरम विज्ञानवाद तक पहुँचते हैं—'वही तू है और मैं ब्रह्म हूँ।' व्यक्ति और विश्व दोनों एक हैं, सत्य अमर है। मनुष्य और प्रकृति, फिर इन दोनों तथा परमतत्त्व में कोई भेद नहीं है। बौद्ध तत्त्ववाद विश्व के विषय में नितान्त यथार्थवादी था। विश्व की क्षणिकता, परिवर्तनशीलता पर ही उसका विश्वास था। बाद में बौद्ध तत्त्ववाद के विकास में भौतिकवाद से विज्ञानवाद की ओर प्रवृत्ति रही है। नागार्जुन के शून्यवाद में तो विज्ञान-तत्त्व जैसे अपने चरम में खो जाता है पर वैभाषिकों का मत समन्वयवादी रहा है।

भारतीय दर्शन के मध्य-युग में न्याय-वैशेषिक तत्त्ववादी भौतिकवादी हैं और अनेकवादी यथार्थ पर चलते हैं। इन्होंने आत्मा को

एक द्रव्य मात्र माना है, इससे स्पष्ट है कि इन्होंने आत्म-तत्त्व को व्यापक तत्त्व नहीं स्वीकार किया है। ये अरस्तू के समान सभी तत्त्वों को यथार्थ मानकर चलने के पक्ष में हैं। इनके साथ ही सांख्य-योग के तत्त्ववादी भी अनेक को मान कर चलने वाले यथार्थ को स्वीकार करते हैं। परन्तु उनके मतवाद में पुरुष की प्रमुखता के रूप में विज्ञानवादी दृष्टिकोण भी है। निश्चल और निष्क्रिय पुरुष के प्रति-बिम्ब को ग्रहण कर प्रकृति क्रिया-शील हो उठती है। यह मतवाद प्लेटो के विज्ञानात्मक आइडिया के समकक्ष है। आगे चलकर शंकर के अद्वैतवाद में माया के सिद्धान्त को लेकर समन्वय की चेष्टा है, पर वह ब्रह्म को परमसत्य मानकर विज्ञानवाद की ओर ही अधिक जान पड़ता है। इस युग में रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत में प्रमुखतः यह समन्वय अधिक प्रत्यक्ष हो सका है। तर्क और युक्ति के अनुसार शंकर का समन्वय अधिक ठीक है: रामानुजाचार्य का मत सहज व ध के लिए अधिक सुगम रहा है। और अगले भाग में हम देखेंगे कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के काव्य में इसी समन्वयवाद का आधार रहा है।

§६—यूनान में, सर्वप्रथम अयोनियन तत्त्वजिज्ञासुओं ने मिथ के आधार के विना ही विश्व के भौतिक स्वरूप की व्याख्या प्राकृतिक कारणों से करने का प्रयास किया। उनके मत में भौतिक-तत्त्वों की प्रधानता का कारण, चतुर्दिक फैले हुए विश्व के प्रति उनकी जागरूकता तथा अपनी ज्ञान इन्द्रियों के प्रत्यक्ष पर आश्रित होना समझना चाहिए। योरप में इन्होंने ही आदि तत्त्व पर विचार किया। इन्होंने समस्त भौतिक विभिन्नता और परिवर्तन को किसी परम तत्त्व के स्वरूप परिवर्तन के आधार पर सिद्ध किया है। साधारणतः परीक्षण से भी सिद्ध होता है। एक पदार्थतत्त्व दूसरे पदार्थ-तत्त्व में परिवर्तित होता रहता है: इस प्रकार आदि तत्त्व इन वर्तमान रूपों में परिवर्तित होकर स्थिर है। यह संबन्ध

यूनानी तत्त्ववाद

गति और प्रवाह को लेकर है। फिर क्रम, व्यवस्था और समवाय के आधार पर दिक् के द्वारा विश्व की व्याख्या करने का प्रयास किया गया।[3] अनन्तर प्रकृति के परिवर्तन और भव सर्जन पर निरन्तर दीपशिखा की भाँति प्रज्ज्वलित तथा नष्ट होते विश्व की व्याख्या की गई।[४] अभी तक ये सभी मत भौतिकवादी थे और तत्त्ववादियों का ध्यान प्रकृति के भौतिक रूप पर ही सीमित था। बाद में नितान्त परिवर्तन पर अविश्वास किया गया। विश्व का नियम स्थिरता निश्चित हुआ। कुछ भी अन्य नहीं हो सकता, बिलकुल भिन्न वस्तु नहीं हो सकती। परिवर्तन ससीम का होता है, इन्द्रियातीत असीम का नहीं। आदि तत्त्व का सम्मिलन होता है सर्जन नहीं।[५] इस सिद्धान्त के अन्तर्गत इन्द्रियातीत असीम की कल्पना में ही विज्ञानवाद के बीज सन्निहित हैं। यह मत अपनी व्याख्या में विज्ञानवादी लग कर भी सिद्धान्त की दृष्टि से भौतिकवादी है। इसमें चार आदि तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। परन्तु सर्जन की क्रिया शक्ति में जो नाम-रूप परिवर्तनों की व्याख्या की गई है वह संकलन और विकलन के आधार पर की गई है जो राग-द्वेष के समान भावात्मक माने गए हैं। यह प्रकृति की भावात्मकता ही तो विज्ञानवाद की पृष्ठ-भूमि है।

तत्त्ववाद के क्षेत्र में चाहे वह पाश्चात्य दर्शन हो अथवा भारतीय दर्शन, लगभग एक समान परम्परा मिलती है। पहले विभिन्न मतों का प्रतिपादन होता है, फिर विषम स्थिति के कारण ज्ञान पर सन्देह किया जाने लगता है। ज्ञान पर सन्देह का अर्थ है कि उसके माध्यम से परम सत्य को जानना अविश्वसनीय माना जाता है। अन्त में व्यावहारिक क्षेत्र में ज्ञान को स्वीकार करके समन्वय की

---

३ पाइथागोरस : दिक् और संख्या का सिद्धान्त।

४ हेराक्लायटस् : परिवर्तन का सिद्धान्त

५ एम्पोडाक्लीस : स्थिरतावाद

चेष्टा की जाती है। सोफ़ियों ने ज्ञान पर सन्देह किया। परन्तु प्लेटो ने विचारात्मक ज्ञान को विश्व के आदि सत्य को समझने के लिए स्वीकार किया और समन्वयवादी मत उपस्थित किया है। वे परमाणु-वादी अनेकता के साथ भावात्मक विज्ञान को मानते हैं। प्लेटो का आइडिया विज्ञान मनस् को ही आधार रूप से स्वीकार करता है। लेकिन यह विज्ञानमय आइडिया मनस् ही नहीं वरन परावर असीम है। इस सामान्य से ही विशेष विज्ञान-रूप ग्रहण करते हैं। यह एक प्रकार का प्रतिबिंबवाद कहा जा सकता है। साथ ही प्लेटो शुद्ध पूर्ण परावर विज्ञान की वाह्य-दृश्यात्मकता के लिए अभावात्मक पदार्थ की कल्पना भी करते हैं। इस प्रकार उनके सिद्धान्त में व्यावहारिकता को लेकर जैसे भौतिक और विज्ञान दोनों तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। समन्वय की दृष्टि से इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के जगत् को समझने के लिए इस भावात्मक विज्ञान-तत्त्व से भिन्न अभावात्मक तत्त्व स्वीकार करना पड़ा। यह शंकर की माया से भिन्न है, क्योंकि यह अभावात्मक तत्त्व विज्ञान-तत्त्व से निम्न श्रेणी का माना गया है, वैसे सत्य है। अपने आप में यह समस्त विशिष्टताओं से शून्य आकारहीन अप्रमाणित और अविचारणीय है। प्रकृति का अस्तित्व इसी अभाव-तत्त्व पर जब विज्ञान-तत्त्व प्रभाव डालता है तभी संभव है। जिस प्रकार किरण आतशी शीशे पर पड़कर अनेक में प्रकट होती है, उसी प्रकार विज्ञान-तत्त्व रूप भावात्मक आइडिया भौतिक-तत्त्व रूप अभावात्मकता में अनेक रूप धारण करता है। फिर भी प्लेटो के सिद्धान्त का झुकाव विज्ञानवाद की ओर है और इसी की प्रतिक्रिया अरस्तू के भौतिकवाद में मिलती है।

योरप का मध्ययुग अंधकार का युग था, इसमें दर्शन और विज्ञान दोनों की विचार-धाराओं का लोप रहा। इस युग में केवल धर्म और अध्यात्म का प्रकाश मिलता है। वाद के नवयुग में यूनानी परम्परा के आधार पर ही दार्शनिक मतों का प्रतिपादन और विकास हुआ है। और तत्त्ववाद में विज्ञानवादी और भौतिकवादियों की

स्थिति लगभग उसी प्रकार रही। साथ साथ दोनों के समन्वय का प्रयत्न भी हुआ है। विज्ञानवादियों में यदि स्पिनोज़ा और बार्कले का नाम लिया जा सकता है तो भौतिकवादियों में हाब्स और ह्यूम का उल्लेख किया जा सकता। हेगल और कान्त ने विज्ञान-तत्त्व के साथ भौतिक-तत्त्व की भी स्वीकृति दी है इस प्रकार वे समन्वयवादी कहे जा सकते हैं। इस युग में प्रयोगवादी तथा युक्तिवादी आधार पर भी द्वैताद्वैत की प्रतिद्वन्द्विता चलती रही है। इस युग में भौतिक-विज्ञानों के विकास के साथ हमारी अन्तर्दृष्टि भौतिक-पदार्थों में अधिक हो गई है। हमारा मानसिक स्थितियों का ज्ञान भी मानसशास्त्र के सहारे बढ़ गया है। ऐसी स्थिति में दोनों मतों के प्रतिपादक भी हैं और उनका समन्वय करने वाले तत्त्ववादी भी।

§७—इन समस्त दार्शनिक तत्त्ववादों की सूत्र-रूप व्याख्या के पश्चात् देखना है कि सहज बोध किस सीमा तक इनको ग्रहण कर सकता है। साधारण व्यक्ति यथार्थ जगत् को स्वीकार करके चलता है। इस यथार्थ के विरुद्ध जब तक पर्याप्त कारण नहीं मिलता वह ऐसा ही करेगा। किसी वृक्ष को देखकर हम वृक्ष ही समझते हैं (आकार-प्रकार, रंग-रूपमय)। परम सत्य न मानकर भी हम सत्य उसे अवश्य मानते हैं। पर इस यथार्थ के प्रति सन्देह करने के कारण हैं। द्रव्य और गुण, इन्द्रियों के विरोधी तथा भ्रमात्मक प्रत्यक्ष इस सन्देह के माध्यम हैं। इन विरोधों को, यथार्थ को अस्वीकार करने के लिए अपर्याप्त भी सिद्ध किया जा सकता है। परंतु ऐसी स्थिति में विश्व को समझने के लिए बहुत सी अदृश्य आवश्यकताओं की उलझनें उत्पन्न हो जायँगी। इस प्रकार सहज बोध के लिए सामन्य यथार्थ के परे किसी इन्द्रियातीत सत्ता को मानना आवश्यक हो जाता है। सहज बोध के द्वारा साधारण व्यक्ति परिणामवादी होता है। और इस विश्वास से भी यही सिद्ध होता है। परिणामवाद की क्रियात्मक शृंखला भावात्मक

सहज बोध की स्वीकृति

विज्ञान-तत्त्व की ओर ले जाती है। साथ ही उसका क्रमिक विकास भौतिक-विज्ञानों के भविष्य कथन में सहायक होता है। यद्यपि परिणामवाद में कारण ही कार्य का परभाग है, इसलिए अधिक दूर तक उसे सत्य नहीं माना जा सकता है। इसका तात्पर्य केवल इतना है कि प्रत्येक घटना की संकेत देनेवाली सत्य-स्थिति, किसी विशेष समय में, अन्य सत्यों से संबन्ध रखने वाली संकेतिक घटनाओं के प्रसरित भाग को आत्मसात् किए रहती है। फिर भी परिणामवाद से संबन्धित विश्वास में सहज बोध प्रकृति में भौतिक के साथ किसी अन्य सत्ता को भी स्वीकार करता है। इस प्रकार सहज बोध से हम प्रकृति के रूप और भाव दोनों पक्षों को ग्रहण कर लेते हैं। और यही तो तत्त्वादियों के भौतिक-तत्त्व तथा विज्ञान-तत्त्व का आधार है। ऐसा ही हम ऊपर की विवेचना में देख चुके हैं।

दृश्य प्रकृति

मन और शरीर

६८—दृश्य-जगत् का प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो चुका है। हम निश्चित कर चुके हैं कि तत्त्ववाद की एक स्थिति ऐसी है जिसे सहज बोध ग्रहण कर सकता है। इस सीमा पर हम भौतिक प्रकृति को भावात्मक विज्ञान-तत्त्व और रूपात्मक भौतिक-तत्त्वों में स्वीकार कर चुके हैं। साधारणतः जिसे प्रकृति संबन्धी भाव और रूप कह सकते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से जब मनस् और वस्तु को स्वीकार कर लेते हैं, तब मनस् का प्रतिबिम्ब वस्तु पर पड़ने से दृश्य जगत् की सत्ता मानी जा सकती है। दृश्य जगत् के संबन्ध में मनस् का महत्त्व अधिक है। मनस् ही द्रष्टा है। यही मनस् मानव के संबन्ध में मानस या मन माना जा सकता है। इस मन के साथ उसके धारण करने वाले शरीर का प्रश्न भी आ जाता है। मन की क्रिया शरीर के आधार पर है। उसकी प्रक्रिया मस्तिष्क पेशियों और स्नायु तन्तुओं से

परिचालित है। साधारणतः यह स्वीकार किया जाता है। परन्तु शरीर भौतिक तत्त्व है और मन (मनस् का ही रूप होने से) विज्ञान-तत्त्व है। हम इन दोनों ही तत्त्वों को स्वीकार कर चुके हैं। अब प्रश्न है कि ये विभिन्न तत्त्व क्रियाशील कैसे होते हैं। और इस प्रक्रिया का प्रभाव दृश्यात्मक प्रकृति पर क्या पड़ता है।

समानान्तरवाद

क—मन और शरीर के संबन्ध पर विचार करने वाले तत्त्ववादियों ने विभिन्न प्रकार से इस संबन्ध की कल्पना की है। मन और वस्तु को अलग स्वीकार करनेवाले विचारकों ने मानवीय मानस को मनस्-तत्त्व रूप मन और वस्तु-तत्त्व रूप मस्तिष्क से युक्त माना है। इन दोनों की अलग तथा भिन्न स्थिति के कारण इनमें क्रिया-प्रतिक्रिया का क्रमिक संबन्ध नहीं स्थापित हो सकता। केवल इनकी पूर्णतः समस्थिति स्वीकार की जा सकती है। इनमें से एक मानसिक स्थिति से तथा दूसरी शारीरिक घटना से संबन्धित हो सकती है। इसी क्रिया-प्रतिक्रिया को मनस्-भौतिक समानान्तरवाद के नाम से कहा गया है।[१] कुछ तत्त्ववादी भौतिक-विज्ञानों के आधार पर एकान्त प्रक्रियावाद को मानते हैं। उसी प्रकार कुछ विज्ञान-तत्त्व के आधार पर दूसरे भौतिक-तत्त्वों का विकास मानते हैं। इसको इस प्रकार समझा जा सकता है कि एक मत से, मन से मस्तिष्क परिचालित है और दूसरे मत में मस्तिष्क की विषमता ही मन की व्याख्या है। पतन्तु स्वयं भौतिक विकासवादियों ने जीवन के मानसिक स्तर का कोई समुचित उत्तर नहीं पाया है। विलियम जेम्स स्वीकार करते हैं कि नैसर्गिक वरण का सिद्धान्त मानसिक विषमताओं और उसके विकास को स्पष्ट नहीं करता। इस आधार पर भौतिक विकास से उत्पन्न मनस् की कल्पना नहीं की जा सकती।

---

१ साइकोफिज़िकल पैरेलरिज़्म (जेम्स वार्ड से)

ख—समानान्तरवाद में दोनों तत्त्वों को अलग अलग माना गया है और उनकी प्रक्रिया में कार्य-कारण का संबन्ध स्वीकार किया गया है, जो उचित नहीं। मानसिक भावना और इच्छा आदि का पूर्ण विश्लेषण मानस-शास्त्र नहीं कर सका है। और विभिन्न भौतिक-विज्ञानों के द्वारा जीवन का प्रश्न हल नहीं हो सका है। ऐसी स्थिति में यह कहना उचित नहीं है कि किसी सीमा पर ये दोनों एक दूसरे को स्पर्श कर सकते हैं। अपनी अपनी घटनात्मक स्थिति में ये पूर्ण संबन्धी हो सकते हैं। भौतिक घटनाएँ किसी स्थान से संबन्धित होती हैं और मानसिक घटना किसी मानस के इतिहास में स्थित। फिर इनमें कार्य-कारण का संबन्ध कैसे सम्भव हैं। परन्तु इससे यह भी सिद्ध नहीं कि इन दोनों में कोई पूर्ण संबन्ध नहीं है। दृश्यात्मक प्रकृति मन की भावात्मकता से संबन्धित है; और शरीर के साथ रूपात्मक स्थिति में है। इस दृष्टि से भी दोनों के संबन्धी होने में तो कोई विरोध नहीं हो सकता। डेकार्टे इनको 'लगभग एक तत्त्व' मानते हैं। कुछ तत्त्ववादी मनस् को शारीरिक विकास के माध्यम से समझते हैं। और इन मतवादों से कम से कम यह सिद्ध होता है कि इनमें एक संबन्ध स्थापित हो सकता। जिस सहज बोध के स्तर पर हम विवेचना कर रहे हैं उसमें समन्वय की प्रवृति प्रमुख है।

सचेतन प्रक्रिया

ग—यद्यपि द्वन्द्वात्मक तत्त्वों में क्रिया-प्रतिक्रिया सम्भव नहीं मानी जाती फिर भी सहज बोध के स्तर पर मन और मस्तिष्क के विषय में इसकी कल्पना की जा सकती है। यदि भौतिक तत्त्व केवल निम्न कोटि का विज्ञान-तत्त्व ही है, अथवा परिणामवाद में केवल क्रमिक संबन्धों की स्थिति भर है; तब तो इनमें क्रिया-प्रतिक्रिया सम्भव ही है। उस समय यह समानान्तर होने के समान है। पर ऊपर हम सिद्ध कर चुके हैं कि अपने अपने क्षेत्र में स्वतंत्र मानकर भी इन दोनों में संबन्ध स्वीकार किया जा

दोनों ओर से

सकता है। यह सचेतन प्रक्रिया का संबन्ध है। ऐसा स्वीकार कर लेने पर मानसिक घटनाओं में कुछ शारीरिक घटनाओं का सम्मिलन होता है और उसी प्रकार शारीरिक अवस्थाओं पर मानसिक स्थितियों का प्रभाव पड़ता है। यही सचेतन-प्रक्रिया है जिसे हम स्वीकार कर सकते हैं। इसके विरोध में स्वतः क्रिया-शक्ति का प्रश्न उठाया जा सकता है, क्योंकि इससे कार्य-कारण स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु स्वतः क्रिया-शक्ति परीक्षण से असफल ठहरती है। मन की सम्पूर्ण चेतना केवल भौतिक-शक्ति के द्वारा सिद्ध नहीं होती, साथ ही मन की इच्छा-शक्ति को समझने के लिए मस्तिष्क के स्नायु-तन्तुओं की प्रक्रिया पर्याप्त नहीं है। इस प्रकार दोनों ओर से सचेतन प्रक्रिया को स्वीकार करके ही हम सहज बोध के साथ तत्त्ववाद और भौतिक विज्ञानों के मत का संतुलन कर सकते हैं। इससे एक ओर बाह्य रूपात्मक प्रकृति का स्वरूप मानसिक आधार पर स्थापित हो जाता है और दूसरी ओर मनस् के विकास के लिए जो परिवर्तन मानव इतिहास में हुए हैं उनकी व्याख्या भी हो जाती है। यहाँ हमारी विवेचना का तात्पर्य केवल यह है कि प्रकृति में रूप और भाव जो दो पक्ष स्वीकार किए गए हैं उनको ग्रहण करने के लिए हमारे मन और शरीर की सचेतन-प्रक्रिया आवश्यक है। सहज बोध के स्तर पर हम किसी की उपेक्षा नहीं कर सकेंगे। अगले प्रकरणों में इस बात पर अधिक प्रकाश पड़ सकेगा कि इन्द्रियों द्वारा ग्रहीत प्रकृति चित्रों से जो संबन्ध हमारे शरीर के स्नायु-तन्तुओं या मस्तिष्क के कोष्ठों से है अथवा शारीरिक अनुभावों का जो प्रभाव भावनाओं पर पड़ता है उनका मानव की कलात्मक प्रवृत्ति के विकास में क्या योग रहा है।

९—ऊपर की समस्त विवेचना के बाद हम सहज बोध के उस धरातल पर स्थिर होते हैं, जिस पर शरीर से अनुप्राणित मनस् द्रष्टा है और भौतिक जगत् दृश्य है। मन जिस शरीर के संबन्ध से सचेतन है उससे एक विशेष स्थिति

दृष्टा और दृश्य

में संबन्धित भी है ; साथ ही विश्व की अनेक वस्तुओं को विभिन्न घटनात्मक स्थितियों में पाता है। मन इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा भौतिक वस्तुओं का स्थिति-ज्ञान प्राप्त करता है। परन्तु ये स्थितियाँ एक ही समय में अथवा विभिन्न समय में अन्य मन की गोचर विषय हो सकती हैं। शरीर में इन्द्रियों का विभाजन (साधारणतः मान्य) भौतिक तत्त्वों के अनुरूप हुआ है। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि मन अपनी प्रतिकृति भौतिक तत्त्वों पर इन्द्रियों के माध्यम से ही डालता है। यह एक ही सत्य को कहने की दो भिन्न रीतियाँ हैं। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वस्तु-गुण उनकी स्थितियों के आधार पर है अथवा प्रत्यक्षीकरण की क्रिया पर निर्भर है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह इस प्रकार मान्य है। क्रियात्मक प्रवृत्ति के रूप में तन्मात्राओं गन्ध, रस, रूप-स्पर्श और ध्वनि की स्थितियों का बोध मन नासिका, जिह्वा, चक्षु, स्पर्श आदि ज्ञान-इन्द्रियों के माध्यम से ही करता है। परन्तु इनके आधार में भौतिक तत्त्वों के रूप में स्थित पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश हैं। मन केवल इन्द्रिय प्रत्यक्षों के आधार पर नहीं चलता। उसमें विचारात्मक अनुमेय के साथ स्मृति तथा संयोग पर आधारित कल्पना का भी स्थान है। बौद्ध दार्शनिकों ने यद्यपि अनात्मवादी होने के कारण चित् को केवल शरीर संबन्धी माना; पर उसकी अनुमेय और कल्पना शक्ति को वे भी स्वीकार करते हैं। भारतीय अन्य तत्त्ववादियों ने आत्मा और शरीर की सबन्धात्मक स्थिति को ही चित् माना है। यह सहज बोध द्वारा स्वीकृत मन की स्थिति को एक प्रकार से अनुमोदित ही करता है। अगले प्रकरणों में इसी निष्कर्ष के आधार पर हम विचार करेंगे कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और प्रवृत्तियों का भावनाओं के विकास में क्या संबन्ध रहा है तथा अनुमान और कल्पना में इनकी क्या स्थिति रहती है। क्योंकि काव्य और प्रकृति का संबन्ध इन्हीं को लेकर समझा जा सकता है। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के दृश्य-जगत् को मन कल्पनामय भाव-जगत् में भी ग्रहण कर लेता है।

§१०क—हम जिस दृश्य-जगत् की व्याख्या कर रहे हैं वह केवल वस्तुओं की विभिन्न स्थिति और परिस्थिति हैं। वस्तु भी वस्तु-तत्वों की घटनात्मक स्थितियाँ मात्र हैं। वस्तुतः जिनको हम वस्तु के प्राथमिक गुण कहते हैं, वे मन की बाद की विकसित स्थिति की अपेक्षा रखते हैं। पहले तो वस्तु के माध्यमिक गुणों का सम्पर्क होता है और बोध भी इन्हीं का पहले होता हैं। वस्तु कहने से हीं हमारा तात्पर्य किसी भौतिक घटना की मन के संबन्ध की स्थिति है। इसी दृष्टि से पाइथागोरस ने अपने सिद्धान्त में दिक् को महत्व दिया है। भारतीय न्याय-वैशेषिक तत्त्ववादियों ने दिक् और काल को गुण न मानकर द्रव्यों के अन्तर्गत स्वीकार किया है। दिक् और काल का ज्ञान संबन्धात्मक है और अनुमान पर स्थिर है। इनको असीम समझना चाहिए। इनका ज्ञान विचार से ही सम्भव है और किसी विशेष स्थिति या विन्दु के संबन्ध की सापेक्षता में ही सम्भव हो सकता है। ये दोनों ही अपरिवर्तन-शील हैं। जो परिवर्तन जान पड़ता है वह तत्त्वों के परिवर्तन तथा उन की गतिशीलता से विदित होता है। दिक्-काल की स्थिरता के कारण ही कुछ तत्त्ववादियों ने विश्व के प्रश्न के संबन्ध में स्थिरवाद चलाया है। इन्होंने भी इनकी विचारात्मक सत्ता को वैशेषिकों की भाँति केवल द्रव्य मान लिया है। परन्तु दिक्-काल पर विचार करते समय प्रकृति की गति, उसके परिवर्तन और क्रियात्मक प्रवाह का प्रश्न आ जाता है। जिस प्रकार रेलगाड़ी पर भागते हुए दृश्यों की स्थिरता पर विचार करते समय गाड़ी की गति का ध्यान आ जाता है। इसको किसी न किसी रूप में स्वीकार करके ही चलना पड़ता है। कोई भी तात्विक मतवाद इसको अस्वीकार करके नहीं चला है। इस गति और प्रवाह की व्याख्या अनेक प्रकार से अवश्य की गई है। तत्त्वों के संयुक्ती-

दृश्य-जगत : प्राथमिक गुण

करण के मतवाद से लेकर विज्ञानवादी आइडिया तथा अद्वैत मतों तक इसका आश्रय लिया गया है। यथार्थवादी वैशेषिकों ने इसको कर्म-पदार्थ के अन्तर्गत माना है। कर्म-पदार्थ में गति और परिवर्तन को अन्तर्भूत कर लिया गया है। यहाँ इस विवेचना को प्रस्तुत करने का तात्पर्य है। वस्तुओं की स्थिति-परिस्थिति को दिक्-काल की अपेक्षा में ही समझा जा सकता है। इनके द्वारा विश्व की क्रियात्मक प्रवृत्ति से प्रकृति का कार्य-कारण तथा प्रयोजन ज्ञात होता है। साथ ही दिक्-काल विश्व के प्रश्न में विज्ञान-तत्त्व की खोज करने की प्रेरणा के आधार भी हैं।

माध्यमिक गुण

ख—वस्तु के माध्यमिक गुणों को वैशेषिक पदार्थ मानते हैं। सांख्य-योग में ये तन्मात्राएँ मानी गई हैं। इनको हम पंच भूत-तत्त्वों के माध्यम से समझ पाते हैं। दिक्-काल में स्थित वस्तु का बोध इन्हीं गुणों के आधार पर होता है। सबसे प्रथम रूप ही अधिक महत्वपूर्ण है। कदाचित् इसी कारण अग्नि तत्त्व को और उससे संबन्धित सूर्य को अधिक महत्त्व मिला है। गुण के अनुसार दूसरा स्थान शब्दमय आकाश का होना चाहिए। परन्तु यह तत्त्व बाद में ही स्वीकृत हो सका है, इसका कारण आकाश-तत्त्व की सूक्ष्मता है जिससे वह सरलता से बोधगम्य नहीं है। गंध का संबन्ध पृथ्वी-तत्त्व से, रस का जल-तत्त्व से और स्पर्श का वायु-तत्त्व से इसी प्रकार माना गया है। यही समवाय का बोध मनस् की शरीर से युक्त विशेष स्थिति है। वैशेषिक इसके विचार को भी पदार्थ स्वीकार करते हैं। अस्ति में ही नास्ति का प्रश्न सन्निहित है। यद्यपि उसी का एक दूसरा रूप है, पर समवाय से समवाय का विचार भिन्न अवश्य कहा जा सकता है। न्याय-वैशेषिकों ने इसी को अभाव के रूप में पदार्थों में जोड़ दिया है। वस्तुतः नागार्जन के सन्देहवाद और शून्यवाद का आधार भी यही है।

ग—मानसिक प्रक्रिया में विचार और कल्पना दोनों ही स्थितियों

में संयोग और विरोध से काम पड़ता है जिसका आधार साम्य है।

सामान्य और विशेष

साम्य के लिए सामान्य और विशेष का भेद होना आवश्यक है। द्रव्यों में रहनेवाला नित्य पदार्थ सामान्य है और दृश्य-जगत् में उसकी विशिष्ट स्थितियाँ ही सामने आती हैं। साथ ही पार्थिव वस्तुओं में भी सामान्य का भाव और विशेष का संयोग रहता है। वैशेषिकों ने विशेष के अर्थ को द्रव्य की विशिष्टता में लिया है और इसी कारण उसे नित्य भी माना है। प[र]
यहाँ साधारण अर्थ में, विशेष को वस्तुओं की विशिष्ट विभिन्नताओं [के]
रूप में भी लिया जा सकता है। दृश्य-जगत् की कल्पना करने [के]
लिए सामान्य विशेष दोनों का भाव होना आवश्यक है। इसीलि[ए]
इनको पदार्थ माना गया है। इस दृश्यात्मक प्रकृति को उपस्थित क[र]
से मानव और प्रकृति का संबन्ध स्पष्ट हो सका है। साथ ही [...]
प्रकार से प्रकृति को समझने की रूपरेखा भी उपस्थित हो सकी [...]
यह रूपरेखा काव्य में प्रकृति के प्रदर्शन को समझने में भी सहा[यक]
हो सकती है।

आध्यात्मिक प्रकृति

§११—प्राथमिक गुणों का उल्लेख किया गया है।
मानव अपने शरीर के संबन्ध में अथवा अपनी घटनाओं के इति[हास]
समझ सका है। इनका प्रसरित रूप सर्वदा [...]

दिक्-काल का छायारूप

के लिए भ्रामक ही रहा है। दिक्-का[ल]
संबन्धात्मक ज्ञान मानव के मानसिक वि[कास]
बहुत पीछे की बात है। शिशु की अवस्था में यह अब भी [...]
का विषय हो सकता है। बच्चों का दिक्-काल संबन्धी ज्ञा[न]
और भ्रामक होता है। उनकी मानसिक स्थिति इस प्रकार के [...]
त्मक विचारों के योग्य नहीं होती। परन्तु उनकी भूल को [...]
लिए बड़े लोग सदा ही तत्पर रहते हैं। विकास की प्रारंभि[क]

में मानव का ज्ञान दिक्-काल के विषय में अपूर्ण था, और उसके पास उसे ठीक करने के लिए क्रमिक अवस्था के अतिरिक्त कोई भी साधन नहीं था। ऐसी स्थिति में असीम दिक्-काल में वह अपने को असहाय पाकर कभी भयभीत और कभी आश्चर्य चकित हो उठता होगा। मिथ-युग के अध्ययन से हमको यही बात जान भी पड़ती है; मिथ संबन्धी अनेक कहानियों में संकेत भी इसका मिलता है। अन्य विचारात्मक स्थितियों का ज्ञान भी उसका स्पष्ट नहीं था। इसी कारण वह प्रकृति के दृश्य-जगत् के स्वरूप को प्रत्यक्ष से भिन्न और विरोधी देखकर भयभीत होता था। यह उसकी भावनाओं पर दिक्-काल की अस्पष्टता के प्रभाव का परिणाम था। साथ ही प्रकृति के क्रियाशील क्रम को व्यवस्थित रूप में न देख सकने के कारण भी ऐसा होना सम्भव है। यह भय, विस्मय का मिथ-युग दिक्-काल की अस्पष्ट-भावना को लेकर ही चल रहा था, साथ ही जैसा कहा गया है प्रकृति की क्रिया-शक्ति तथा उसके समवाय के प्रति अव्यवस्थित दृष्टिकोण भी रखता था। इसके परिणाम स्वरूप इस युग में भय प्रदान करने वाले देवताओं की पूजा मिलती है और इसी के आधार पर बाद में प्रकृति की शक्ति के प्रतीक विभिन्न देवताओं की स्थापना भी हुई है।

क—इस युग में प्रत्यक्ष ज्ञान विभिन्न माध्यमिक गुणों के प्रति स्पष्ट नहीं हो सका था और उसके लिए इनका संयोग स्थापित करना भी कठिन था। इन गुणों में भ्रम तो आज भी हो जाता है। उस समय तो विभिन्न इन्द्रियों के प्रत्यक्षों को समुचित रूप से समझने की भावना भी पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो सकी थी। वस्तुओं के रूप-रंग, तथा उनसे संबन्धित ध्वनि, गंध स्वाद आदि को अलग अलग ग्रहण करके उनका सामञ्जस्य करने में असमर्थ मनस् चकित था। मानव फिर धीरे-धीरे उत्सुकता से समन्वय की ओर बढ़ सका है। परन्तु उसके मन में प्रकृति की रहस्य-भावना की स्थापना उसी समय से हुई है। मानसिक विकास के क्षेत्र में

भ्रमात्मक स्थिति

रहस्य की भावना विज्ञानात्मक ब्रह्म के प्रति उपस्थित हुई है। और यही रहस्य-भावना अध्यात्म की आधार-भूमि है।

§१२ क—प्रारम्भ में मानव समस्त प्रकृति-रूपों को अपने समान देखता था। इस प्रकार आदि काल से वह प्रकृति को मानव रूप में समझने की भूल करता था। वस्तुतः उसको इस भावना की प्रेरणा प्रकृति की सचेतनता से मिली है। चाहे तत्त्ववादी हो या भूत-विज्ञानी अथवा साधारण व्यक्ति ही, किसी की दृष्टि से भी यह प्रकृति की सचेतनता भ्रामक कह कर टाली नहीं जा सकती। यदि यह समझी नहीं जा सकती, तो इसे भ्रामक सिद्ध करना भी कठिन हो जायगा। इस भ्रम का कारण बताना सहज नहीं होगा। साथ ही प्रकृति के मानवीकरण के युग के आगे उसे सचेतन मानने के विषय में भी प्रश्न उठेगा। पहले ही कहा गया है मानव के सम्मुख परिवर्तन के रूप में विश्व की क्रिया-शक्ति उपस्थित हुई है। यह शक्ति प्रकृति के स्थिर स्वरूप में क्रियोन्मुखी लग सकती है और उसकी क्रियाशीलता में गतिमान भी जान पड़ती है। इसके समान मानव के अन्तर्जगत् में मन की क्रियोन्मुखी स्थिति है और प्रयास तथा उत्सुकता के रूप में क्रिया की वास्तविक स्थिति भी है। बाह्य और अन्तर्जगत् की इसी समरूपता के कारण मानव में प्रकृति को सचेतन देखने की प्रवृत्ति है। फिर वस्तुओं को निश्चित घटनात्मक स्थिति में न समझ पाने से भी यह स्थिति उत्पन्न हुई। मन की यह प्रवृत्ति है कि वह अपरिचित को साम्य के आधार पर समझने का प्रयास करता है। आध्यात्मिक आधार पर जिन प्रकृति शक्तियों को देवत्व प्राप्त हुआ था उनको आगे चलकर मानवीय आकार मिला और साथ ही उनमें मनोभावनाओं की स्थापना भी हुई। अतः आध्यात्मिक साधना के इसी क्रम में क्रियात्मक कारण के रूप में, मानव रूप में ईश्वर की कल्पना की गई है। और इसी से भावात्मक विज्ञान का सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए

प्रकृति का मानवीकरण

विश्वात्मा (परमात्मा) की स्थापना हुई। दूसरे भाग के आध्यात्मिक साधना संबन्धी प्रकरणों में भारतीय विचार-धारा का यहाँ के काव्य के प्रकृति संबन्धी दृष्टिकोण में क्या प्रभाव पड़ा है, इस पर विचार किया गया है। यहाँ तो यही कहना है कि इन सब के मूल में प्रकृति को मानवीय रूप में देखने की, तथा उस पर स्वचेतना के आरोप की आदि प्रवृत्ति है।

भाव-मग्न प्रकृति

ख - प्रकृति में रूप और भाव के साथ, भयभीत करने वाले और रक्षा करने वाले देवताओं का विकास हुआ है। बाद में एक-देववाद के आधार पर विश्वात्मा की स्थापना हो सकी। तत्त्ववाद में एकेश्वरवाद और विश्वात्मा के स्थान पर ब्रह्म तथा अद्वैत की भावना प्रबल रही है। परन्तु सहज बुद्धि ने विकल्पित रूपों के सहारे ब्रह्म को भी मानवीय रूप और भावना में समझा है। अगले भाग में हम देखेंगे कि यह व्यावहारिक भी रहा है। आतंक से उत्पन्न उपासना का स्थान श्रद्धामयी पूजा ने ले लिया। मध्ययुग के देवता वैदिक देवताओं से इसी अर्थ में भिन्न हैं। वैदिक देवता प्रकृति की किसी अधिष्ठित शक्ति के प्रतीक हैं। बाद में उनमें रूप का आरोप हुआ है। परन्तु मध्ययुग के देवता मानवीय विचार और भाव के विशुद्ध रूप में अवतीर्ण हुए हैं। इनके प्रतीकत्व में इन्हीं दृष्टिकोणों की प्रधानता है। साथ ही इन में आतंक के स्थान पर श्रद्धा और रक्षा के स्थान पर कल्याण की भावना समन्वित होती गई। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण रुद्र का शिव के रूप में परिवर्तित हो जाना है। भारतीय मध्ययुग के त्रिदेवों में विष्णु और शंकर सर्जन-विनाश क्रिया के प्रतीक हैं। परन्तु ब्रह्मा के पालक रूप में मानव की सामाजिक प्रवृत्ति को स्थान मिला है, जो स्थिरता का प्रतीक स्वीकार किया जा सकता है। अन्य देवताओं में भी प्रकृति के रूप के स्थान पर उसका भाव ही प्रमुख हो गया है। परन्तु हम अगले प्रकरणों में देखेंगे कि मानवीय भावना के विकास में बाह्य दृश्य जगत्

का संबन्ध रहा है। इसके अतिरिक्त काव्य तथा कला में इन भावनाओं का प्रमुख हाथ है। और इन देवताओं के रूप-निर्माण में इसी कलात्मक रीति से रूप-रंगों का प्रयोग किया जाता है।

ग—वैदिक कर्मकांडों में प्रधानतया प्रकृति के परिवर्तन, सर्जन, विनाश आदि के प्रतीक हैं। इनमें इन्हीं की प्रतिकृतियाँ सन्निहित हैं।

सामाजिक स्तर

इन प्रतीकों में उस युग के ज्ञानात्मक भ्रमों का समन्वय है। इसी कारण वाद के धार्मिक मतवाद इन प्रतीकों में दार्शनिक सत्य की व्याख्या करने में सफल होते रहे हैं। वस्तुतः धार्मिक अध्यात्म का विकास इसी आधार पर हुआ है। वैदिक यज्ञ-कृत्य विश्व-सर्जन के क्रम का प्रतीक है। यह अवस्था उस समय की है जब देवता प्रकृति शक्तियों के अधिष्ठाता थे। देवताओं का तत्त्व-रूप परिवर्तनशील और गतिमय था। यह विश्व सर्जन और विनाश की ओर संकेत करता था। अन्य अनेक कर्मकांडों का प्रतीकार्थ सामाजिक नियमन से संबन्धित है जिसका आधार आचरण समझना चाहिए। मानव-समाज के आचरण संबन्धी नियमन में प्रकृति का अपना योग है। प्रकृति व्यवस्था, क्रम और सामञ्जस्य का नियम मानव के सामने उपस्थित करती रही है।

भारतीय मध्ययुग में फिर भक्ति और श्रद्धा के साथ पूजा-कृत्यों का विकास हुआ, यद्यपि बौद्ध-धर्म में एक बार कर्म-कांड का पूर्ण खंडन किया गया था। मध्ययुग के आचार्यों ने पूजा, अर्चा, पादसेवन, आरती, भोग आदि को दार्शनिक महत्त्व दिया है। इस आचार के प्रतीकों में भी प्रकृति के व्यापक तत्त्वों को भावात्मक अर्थ दिया गया है। लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से वे साधना के रूप मात्र हैं। यही कारण है कि मध्ययुग के साधना-काव्य में इस दृष्टि से प्रकृति को कोई स्थान नहीं मिला है। अगले भाग के आध्यात्मिक साधना संबन्धी प्रकरणों में यह स्पष्ट हो सकेगा।

§१३—धार्मिक पूजा-कृत्यों में भाव से अधिक रूप को स्थान मिला

है। परन्तु अनुभूति का क्षेत्र भावात्मक है। हम देख चुके हैं कि प्रकृति में विज्ञान-तत्त्व के साथ आत्म-भावना की स्थापना हुई है। परन्तु दृश्य-प्रकृति हमारे आकर्पण का विषय है। और उसमें कलात्मक सौन्दर्य के लिए भी आधार है। इस सौन्दर्य के सहारे उसकी भावना में (जो अपने मनस् का प्रसरण है) तन्मय होना विश्वात्मा के साथ तादात्म्य के समान है। साधना के क्षेत्र में योग ने अन्तर्मुखी होने की ओर अधिक ध्यान दिया है। परन्तु अन्तःकरण वाह्य का ही प्रतिबिंव ग्रहण करता है। केवल एकाग्रता के कारण केन्द्रीभूत होकर दृश्यों में व्यापकता और गंभीरता अधिक आ जाती है।* द्वितीय भाग के तीसरे प्रकरण में संत साधकों के प्रकृति-चित्रों में इस प्रकार के दृश्यों का रूप देखा भी जा सकता है। योरप के रहस्यवादियो ने ज्ञान के साथ अनुभूति को विशेप स्थान दिया है। इस अनुभूति को भावनामय तादात्म्य माना जा सकता है। जिस चेतना से अनुभूति का संवन्ध माना गया है, वह प्रकृति-चेतना के आधार पर विकसित हुई है। कुछ अर्थों में वह आज भी उसके निकट है। भारतीय भक्ति साधना में यह चेतना मानवीय भावों के साथ उसके आकार से संवन्धित हो गई है। इस प्रकार यह चेतन प्रकृति से अलग हो जाती है। इस विपय की विशेप विवेचना दूसरे भाग के आध्यात्मिक साधना के प्रकरणों के प्रारम्भ में की जायगी। यहाँ इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त है कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में, साधना-काव्य में प्रकृति को प्रमुख रूप न मिल सकने का बहुत कुछ कारण यह भी है।

धार्मिक साधना

योरप में रहस्यवाद प्रकृति के निकट रह सका है। वहाँ प्रकृति के रहस्यवादी कवि उसकी चेतना के प्रवाह से अधिक तादात्म्य स्थापित

---

*-द्वितीय भाग के तीसरे प्रकरण में संत साधकों के प्रकृति चित्रों में इस प्रकार के दृश्यों का रूप देखा भी जा सकता है।

कर सके हैं। अङ्गरेज़ी साहित्य में वाह्य-प्रकृति के प्रति अधिक जागरूकता है तथा उसमें अनन्त चेतना में निमग्न प्रकृति के प्रति आकर्षण भी अधिक है। इस कारण उसके काव्य में प्रकृति के संबन्ध में इस प्रकार की भावना अधिक सुन्दर रूप से मिलती है। अपने उच्च स्तर पर प्रकृति का यह आकर्षण और सौन्दर्य रहस्यवाद की सीमा में आ सकता है। भारतीय साधना में प्रकृति के रूपों से प्रकृतिवादी दृष्टिकोण की तुलना के लिए अगले भाग में अवसर मिलेगा। यहाँ रहस्यवाद किसी सिद्धान्त विशेष के लिए नहीं माना गया है। अज्ञात सत्ता से तादात्म्य स्थापित करने की अनुभूति के लिए ही यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।

द्वितीय प्रकरण

प्रकृति के मध्य में मानव

§१—आमुख में कहा गया है कि प्रकृति और काव्य संबन्धी विवेचना में मानव बीच की कड़ी है। काव्य मानव की अभिव्यक्ति है। इसलिए प्रकृति और काव्य के विषय में कुछ कहने से पूर्व प्रकृति के मध्य में मानव की स्थिति को समझ लेना आवश्यक है। विश्व सर्जना के प्रसार में मानव का स्थान बहुत अकिंचन लगता है। परन्तु जैसा पिछले प्रकरण में कहा गया है विज्ञानमय मनस्-तत्त्व की स्वचेतन स्थिति मानव में है, इस कारण विश्व-चेतना का केन्द्र भी वही है। स्वचेता मानव अहंकार वश आत्मवान् होकर भी अपने से अलग विश्व-सर्जन पर विचार करता है। यह भ्रम है। वह अपने प्रकृति रुप को भूलकर एक अलग स्थिति से विश्व-प्रकृति पर विचार करता है। परन्तु यह भूलना नहीं चाहिए कि मानव इसी प्रकृति के श्रृंखला-क्रम की एक

प्रकृति-शृंखला में

कड़ी है। इस प्रकार जब हम मानव और प्रकृति को अलग अलग समझते हैं, उस समय हमारा दृष्टिकोण मानवीय रहता है। यह मानव की इच्छा-शक्ति के आधार पर प्रयोगात्मक और प्रयोजनात्मक है। यह प्रयोगात्मक दृष्टि विभिन्न सिद्धियों को एकत्रित करके उन्हें सम परिणामों के आधार पर वर्गीकृत करती है। इससे भौतिक-विज्ञानों के क्षेत्र में मानव के विशेष प्रयोजन की सिद्धि होती है। पर यह दृष्टि हमारे आधार के लिए पर्याप्त नहीं है; क्योंकि जिस आधार पर हम अपने परिणामों तक पहुँचना चाहते हैं वह व्यापक है। यहाँ प्रकृति और काव्य की बात है; काव्य तथा कला मानव की भावात्मकता से संबन्धित है। यह प्रकृति भौतिक विज्ञानों के सीमित सत्यों में संकुचित होकर अपना पूरा अर्थ व्यक्त नहीं कर सकती। मानव सचेतन प्रकृति के शृंखला-क्रम में आ जाता है, ऐसी स्थिति में मानव और प्रकृति इतने भिन्न नहीं जितने समझे जाते हैं वस्तुतः मानव की स्वचेतना (आत्म-चेतना) के विकास में सचेतन प्रकृति का योग है। इसी को स्पष्ट रूप से उपस्थित करने के लिए आगे क्रम से, विश्व के सर्जनात्मक विकास में मानव का स्थान, मानव की स्वचेतना में प्रकृति का योग तथा उसकी अन्तर्दृष्टि में प्रकृति के अनुकरणात्मक प्रतिबिंब का रूप निश्चित किया जायगा।

सर्जनात्मक विकास में मानव

१२—यूनान में दार्शनिकों ने विश्व की परिवर्तनशीलता पर विशेष ध्यान दिया उसी समय सर्जन के गमन का भी उल्लेख हुआ था। बाद में पूर्णरूपेण परिवर्तन पर सन्देह किया गया। इस प्रकार विकासवाद के लिए उसी काल में बहुत आधार तैयार हो चुका था। गमन के साथ परिवर्तन, परिवर्तन से पूर्व तत्व की स्थिति की स्वीकृति से एक प्रकार विकास का पूरा रूप मिल जाता है। विश्व को आदि तत्वों आधार पर समझने

विकास के साथ

में भी यही प्रकृति रही है। गमन-शक्ति के प्रवाह में तत्त्वों का केन्द्रीकरण होता है, फिर विभिन्नता के साथ अनेक-रूपता उपस्थित होती है। अन्त में निश्चित होकर उनमें एक-रूपता आती जाती है इस प्रकार विभिन्न-धर्मी सर्जन में एक-रूपता और क्रम रहता है। विकसनशील विश्व-सर्जन में अधिकाधिक अनेक-रूपता जान पड़ती है, पर उसकी सबन्धों में स्थिति क्रमिकता भी दृढ़ होती जाती है। प्रकृति में एक सचेतन शक्ति-प्रवाह है जो आज के वैज्ञानिक युग में भी तत्त्व-वादियों के आकर्षण का विषय है। यही कारण है कि आधुनिक तत्त्ववाद के क्षेत्र में दार्शनिक विकासवाद मान्य रहा है। भारतीय तत्त्ववाद में विकास का रूप इस प्रकार नहीं मिलता है। पर सांख्य के प्रकृति-स्वरूप में इसी प्रकार का सिद्धान्त सन्निहित है। इसमें प्रलय को सर्जन के समान स्थान दिया गया है। परन्तु जिस प्रकार विकास का अर्थ तत्त्ववाद में साधारण निर्माण से संबन्धित नहीं है, उसी प्रकार प्रलय'को साधारण नाश के अर्थ में नहीं लेना चाहिए। सृष्टि के पूर्व प्रकृति अपने तीनों गुणों के सम पर स्थिर रहती है। इस सम का भंग होना ही सर्जन-क्रिया है। विषमीकरण सर्जन के मूल में वर्तमान है। सांख्य के अनुसार पुरुष के सान्निध्य से प्रकृति की साम्यावस्था भंग हो जाती है। पुरुष स्वयं निष्क्रिय होकर भी गमन का कारण होता है जैसे चुम्बक पत्थर गतिमान् हुए बिना लोह को गतिशील करता है। पुरुष के सामीप्य मात्र से प्रकृति चंचल हो उठती है; और उसको मुक्त करने के लिए ही प्रकृति की सारी परिणमन-क्रिया होती है। यह भारतीय विकासवाद का स्वरूप कहा जा सकता है, यद्यपि इसमें विकास की दिशा अधिक प्रत्यक्ष हो गई है। सहजबोध के लिए विश्व के प्रश्न को लेकर किसी न किसी रूप में विकासवाद मान्य है। यही कारण है कि भारतीय तत्त्ववाद के क्षेत्र में इस सिद्धान्त की अधिक मान्यता नहीं है, पर साधारण परम्परा में इसका अधिक प्रचार रहा है।

§३—पर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि विकासवाद सर्जन के सत्य की पूर्ण व्याख्या है। इसमें मानवीय दृष्टि से सर्जन को व्यक्त किया गया है। परन्तु इसके लिए मानव की स्वचेतना में आधार है। हमारा उद्देश्य मानव को लेकर ही प्रकृति पर विचार करना है। इस कारण प्रकृति की इस गमनशील चेतना को देख लेना आवश्यक है जो हमारे सामने अनेक क्रमिक संबन्धों में प्रकट हो रही है। जिस प्रकृति के गमन का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है वह दिक् और काल की भावना पर स्थिर है। आकाश की जिस व्यापक असीमता में दिक्-काल की स्थापना की जाती है वह भी इन्हीं के संबन्धों से जाना जाता है। इस दिक्-काल का ज्ञान हमारे अनुभव पर निर्भर है जो प्रत्यक्ष-जगत् में हमारा मार्ग-दर्शक है। यह अनुभव ज्ञान निजकी चेतना और एकाग्रता पर निर्भर है। चेतना का अर्थ परिवर्तनों से परिचित होना है और ध्यान की स्थिति का बदल जाना परिवर्तन का भान होना है। इस प्रकार दिक् का छोटा सा छोटा बिन्दु हमारी चेतना की एकाग्रता का परिणाम है जो असीम की ओर प्रसरित रहता है। इस प्रसरण का भान भी चेतना को होता रहता है। घटना-क्रम के रूप में काल का अनुभव करनेवाली भी चेतना है जो इन्द्रियातीत काल में व्यापक होती जान पड़ती है। अतः गमन का रूप परिवर्तन पर स्थिर है और परिवर्तन हमारी चेतना की दिक्-काल संबन्धी भावना पर निर्भर है। आगे हम मानवीय चेतना की इस विशेष स्थिति को अधिक स्पष्ट करेंगे। यहाँ प्रकृति के विकास मार्ग में मानव का स्थान निश्चित कर लेना है।

चेतन में दिक्-काल

§४—जड़ लोक के स्तर पर प्रकृति में एक से अनेक की प्रवृत्ति के साथ व्यापार संश्लिष्ट प्रसार को लेकर विकास को समझा जा सकता है। वस्तुतः इस स्तर पर विकासवाद को छोड़ा नहीं जा सकता। सर्जन की अनेकता में उसका विकास संश्लिष्ट है, और इसी निश्चित अनेकता

[illegible]

में उसका प्रवाह चल रहा है। प्रत्यक्ष जगत् में यही तो दृष्टिगत होता है। एक बीज सहस्र-सहस्र बीजों का रहस्य छिपाये हुए है। यह विकार समान परिस्थितियों में एक ही प्रकार से होता है। एक रस दूसरे रस से मिलकर तीसरे भिन्न रस की सृष्टि करता है। यह नियम प्राणि जगत् में उसी प्रकार दिखाई देता है जिस प्रकार वनस्पति जगत् में। प्राणि का शरीर केवल बाह्य-जगत् से प्रभाव ही नहीं ग्रहण करता वरन् बाह्य परिवर्तनों के साथ क्रियाशील होने के लिए परिवर्तित भी होता है। बाह्य संबन्धों को स्थापित रखने के लिए शरीर में परिवर्तन होते हैं। शरीर जब तक बाह्य-प्रकृति से आन्तरिक अनुरूपता नहीं रखेगा, वह स्थिर नहीं रख सकता। यह अनुरूपता जितनी पूर्ण होगी, उतना ही अधिक शरीर विकसित होगा। अन्तर और बाह्य की अनुरूपता जितनी पूर्ण होगी जीवन उतना ही विकसित माना जायगा। मानव के जीवन में यह अनुरूपता बहुत कुछ पूर्ण मानी जा सकती है।

मानस-विशिष्ट मानव

§५—प्रथम-प्रकरण में कहा गया है कि विकास-क्रम में भौतिक-तत्त्व से विज्ञान-तत्त्व की स्थिति नहीं मानी जा सकती। इसका अर्थ है कि जड़ से चेतन की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। परन्तु विकास पथ पर चेतना भी इन्हीं नियमों पर चल रही है, ऐसा साधारणतः बिना विरोध के माना जा सकता है। मानव-शरीर बाह्य-प्रकृति की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम हो सकता है। प्राणि-शरीर में भिन्नता बाह्य कारण से उत्पन्न होती है और यह विभिन्नता अनुरूप होने के कारण प्रकृति द्वारा चुन ली जाती है। यह विभिन्नता अगली वंश परम्परा में चलती जाती है। प्रकृतिवादी विकास के क्रम में एक सेल के जीवधारी से इन्हीं शारीरिक विभिन्नताओं के द्वारा सूक्ष्म विविधता वाले मानव-शरीर को भी मानते हैं। परन्तु इस मानव शरीर की उन्नत स्थिति को स्वीकार कर लेने पर भी मानव के विकास का प्रश्न हल

नहीं हो जाता। मानव की मानसिक विभिन्नता का स्वरूप इस विकास की सबसे बड़ी कठिनाई है। बहुत से विकासवादी इसको शरीर से संबन्धित मस्तिष्क की सूक्ष्म क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में समझते हैं, और कुछ इसको विशेष विभिन्नताओं के रूप में स्वीकार करते हैं। परन्तु यह व्याख्या मानस के प्रश्न को समझा सकने में नितान्त असमर्थ ठहरती है। इन विरोधों को यहाँ उपस्थित करने का कोई कारण नहीं है। जिस प्रकार पिछले प्रकरण में उल्लेख कर चुके हैं हम दोनों को स्वतंत्र मान कर चल सकते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में तो यह समझ लेना पर्याप्त होगा कि प्रकृति के जड़-चेतन प्रसार में मानव (शरीर की स्थिति में) इससे एक रूप होकर भी अपनी मानस-शक्ति के कारण अलग है। आगे हम देखेंगे कि यह मन उसकी स्व-चेतना (आत्म-चेतना) को लेकर ही प्रकृति में व्याप्त मनस्-तत्त्व से अलग है।

स्वचेतन (आत्म-चेतन) मानव और प्रकृति

[illegible]

६—मानव की मनस्-चेतना और प्रकृति की सचेतना में एक प्रमुख भेद है। मानव आत्मवान् स्वचेतनशील है। उसमें मनस् की वह स्थिति है जिसमें वह अपनी चेतना से स्वयं परिचित है। हम देखेंगे कि उसकी यह स्वचेतना प्रकृति से किस सीमा तक संबन्धित है। परन्तु इसके पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि मनस् की स्वचेतना का अर्थ क्या

संवेदनशील होगी। वह उन्हीं प्रेरणाओं को ग्रहण करता होगा जो उसके जीवन के प्रयोजन से संबन्धित रही होगी। दूसरे शब्दों में उसकी इच्छा-शक्ति के माध्यम से प्रकृति के बाह्य-रूप का प्रवेश उसके जीवन में हुआ है। इन प्रभावों को ग्रहण करने में ध्यान के विपर्यय से प्रकृति के रूपों में जो परिवर्तन उपस्थित हुए उन्हीं की क्रमिक निरन्तरता घटना का स्वरूप धारण करती है। इस प्रकार चेतनशील होने का तात्पर्य परिवर्तनों से परिचित होना हुआ; और चेतना का प्रसार घटनाओं की क्रमिक शृंखला में समझना चाहिए। ये घटनाएँ दृश्य-जगत् की हों अथवा ध्वनि-जगत् की। प्रत्येक स्थिति में हमारी चेतना समानता और विभिन्नता के विभाजन द्वारा इच्छा के प्रयोजन की ओर ही बढ़ती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा अनुभव ज्ञान प्रत्येक पग पर सत्यों को विभिन्न और समान मानने में अपना प्रयोजन ही ढूँढ़ता है।

§७—मानव मानसिक परिस्थितियों की विभिन्नता और विविधता के साथ ही अपनी चेतना के विषय में भी अधिक स्पष्ट होता गया है।

आत्म-भाव और प्रकृति-चेतना

उसकी चेतना प्रकृति चेतना का भाग है और उसमें प्रसरित भी है। इस चेतना के बोध के लिये उसमें केवल 'स्व' की भावना विकसित हो जाने की आवश्यकता है। यह 'स्व' की भावना जितनी व्यक्त और व्यापक होगी, उसी के अनुसार चेतना का प्रसार भी बढ़ता जायगा। सामने फैली हुई प्रकृति का दृश्य-जगत् उसकी अपनी दृष्टि की सीमा है साथ ही अपने अनुभव के विषय का पूरा ज्ञान उसे तभी हो सकेगा जब उसका अपना 'स्व' स्पष्ट हो जायगा। यहाँ 'स्व' का अर्थ इच्छा के केन्द्र में ध्यान को एकाग्र करने के रूप में समझा जा सकता है। मानसिक विकास के साथ 'स्व' भी अधिक व्यापक होता गया है। उसका क्षेत्र प्रत्यक्ष बोध से भावना और कल्पना में फैल जाता है। इस क्षेत्र में 'स्व' का प्रसार अधिक व्यापी होकर विषम और विविध हो सका है। इस प्रकार चेतना ही विकास के पथ पर स्वचेतना की

स्थिति तक पहुँच सकी है ।

२८—परन्तु मानव की स्वचेतना के विकास में प्रकृति के साथ समाज का योग भी रहा है । मानव का विकास केवल व्यक्ति में परिसमाप्त नहीं है, उसकी समष्टि के समाज में भी अपना मार्ग रहा है । मानव प्रारम्भ से समाज में रहने की प्रवृत्ति रखता था । एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के अनुभव को जान भी नहीं सकता, परन्तु उसका अनुमान लगा सकता है । फिर अपने समान अनुभवों से तुलना करके किसी एक निष्कर्ष तक पहुँच सकता है । इस दृष्टि से व्यक्ति की स्वचेतना सामाजिक चेतना का भी एक रूप मानी जा सकती है और स्वचेतना के इस सामाजिक रूप तक भौतिक-प्रकृति दो प्रकार से मानी जा सकती है । प्रयोजन से हीन भौतिक जगत तथा संबन्धों में उपस्थित प्रकृति वर्णनात्मक कही जा सकती है । और जब हम प्रकृति को प्रयोजन से युक्त अपनी इच्छा-शक्ति के आधार पर देखते हैं, उस समय उसको व्यंजनात्मक कह सकते हैं । प्रकृति में व्यंजना की यह भावना, प्रयोजन का यह स्वरूप, मानव समाज के व्यक्ति की अपनी इच्छा-शक्ति की अभिव्यक्ति में मिलता है । प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा और अपने प्रयोजन से परिचित है, साथ ही उसी आधार पर समाज के अन्य व्यक्तियों की इच्छा-साधना पर भी विश्वास रखता है । मानव-समाज की स्थिति के विषय में हमारा विश्वास प्रकृति को समझने के पूर्व का है । इसका तात्पर्य यह नहीं कि मानव को प्रकृति के सम्पर्क में आने के पूर्व सामाजिकता का बोध था । प्रकृति का सम्पर्क तो समाज के पूर्व का निश्चय ही है । परन्तु जब मानव ने प्रकृति के विषय में अपनी कोई धारणा निश्चित की होगी उस समय उसमें सामाजिक [illegible] हो सका था

सामाजिक चेतना का योग

के अन्तर्गत रखा गया है।[1] प्रारम्भिक युग में मानव को जिस प्रकार अपना जीवन अस्पष्ट लगता था, उसी प्रकार उसका प्रकृति विषयक ज्ञान भी अस्पष्ट था। पहले प्रकृति को अस्पष्ट दिक्-काल की सीमा में देख कर ही वह प्रकृति की अस्पष्ट सचेतनता की ओर बढ़ सका होगा। आज की स्थिति में, सामाजिक चेतना के स्तर पर मानव प्रकृति को अपने समानान्तर देखते हुए व्यंजनात्मक रूप में पाता है। अथवा अपनी चेतना के प्रति वह अधिक सचेष्ट होकर प्रकृति को केवल अपने सामाजिक प्रयोजन का साधन मानकर वर्णनात्मक स्वीकार करता है। इस वर्णनात्मक रूप में प्रकृति भौतिक-विज्ञानों का विषय रह जाती है। परन्तु सहज बोध के लिए ये दोनों ही रूप मान्य हैं। उसके लिए प्रकृति जड़ के साथ चेतन है, वर्णनात्मक के साथ प्रयोजनात्मक भी है। परन्तु इस दृष्टिकोण में सामाजिक प्रवृत्ति फिर भी अन्तर्निहित रहती है। यही कारण है हमको प्रकृति कभी अपने प्रयोजन का विषय लगती है और कभी वह अपने स्वयं प्रयोजन में मग्न जान पड़ती है। आगे काव्य में प्रकृति के रूपों की विवेचना करते समय हम देखेंगे कि इस कथन का क्या महत्त्व है।

समानान्तर प्रकृति-चेतना

§६—ऊपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि प्रकृति का ज्ञान हमारी 'स्व' की भावना से प्रभावित है, और उसकी सचेतना हमारी दृष्टि विशेष का प्रभाव है। परन्तु प्रकृति की चेतना में मानवीय चेतना का आरोप मात्र ही ऐसा नहीं है। प्रकृति के सचेतन लगने का एक कारण यह अवश्य है कि मानव प्रकृति का ज्ञान अपनी चेतना के द्वारा ही ग्रहण करता है। दूसरे शब्दों में, जैसा हम आगे विचार करेंगे, प्रकृति

---

१ इस भाग के पंचम प्रकरण में इस विषय की विवेचना प्रकृति-रूपों के भेदों के विषय में की गई है। और दूसरे भाग के प्रथम प्रकरण में भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रकृति के अन्तर्गत भी यह प्रश्न उठाया गया है।

की चेतना से उसकी चेतना सिद्ध है। वह अपनी स्वचेतना के प्रसार में प्रकृति से परिचित होता है और उसकी उसी प्रकार व्याख्या करता है। परन्तु इसके अतिरिक्त प्रकृति का सचेतन स्वरूप मानवीय चेतना के समानान्तर होने से भी सिद्ध है। जब हम कहते हैं कि हम प्रकृति की व्याख्या मानवीय चेतना से प्रभावित होकर करते हैं, उस समय यह निश्चित है कि हम स्वचेतनशील प्राणी हैं। पर समस्त स्थिति को सामने रखकर विचार करने से प्रकृति अपनी सचेतन गतिशीलता में मानवीय स्वचेतना के समानान्तर ही अधिक लगती है। आगे हम देखेंगे कि मानव की चेतना प्रकृति के सम्पर्क में विकासोन्मुखी थी: और उस समय प्रकृति की समानान्तर चेतना ने उसकी प्रारम्भिक प्रवृत्तियों में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है।

क—प्रकृति में दृश्य आदि माध्यमिक गुण हैं जो मानवीय इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के आधार माने जाते हैं। जिस सहज बोध के स्तर पर हम आगे बढ़ रहे हैं उसके अनुसार इन प्रत्यक्षों को उपस्थित करने में प्रकृति का भी योग है। उसी प्रकार दिक्-काल संबन्धी भावना प्रकृति के सापेक्ष उतनी है जितनी मानव चेतना है। यह तो प्रकृति के वर्णनात्मक स्वरूप की बात हुई। सहज बोध प्रकृति की व्यंजनात्मक भावना को भी मानव चेतना के समानान्तर मान कर चलता है। उसके पास इसके लिए पर्याप्त आधार है। मानसिक चेतना की प्रत्येक स्थिति अपने प्रवाह में निरन्तर गतिशील है, उसका प्रत्यावर्तन भी सम्भव नहीं। प्रकृति में भी यही दिखाई देता है, उसमें आन्तरिक प्रवाह क्रियाशील है जिसमें प्रत्यावर्तन नहीं जान पड़ता। प्रकृति के बाह्य रूप में, सरिता प्रवाहित है उसका जल वापस नहीं लौटता, दिन रात चले जा रहे हैं न लौटने के लिए, वृक्ष उत्पन्न होता है, बढ़ता है, फूलता फलता है, नष्ट हो जाता है, पर उसकी कोई भी अवस्था लौट कर नहीं आती। मानसिक चेतना में एक स्थिति दूसरी स्थिति को

व्यंजनात्मक तथा प्रयोजनात्मक

प्रभावित कर उससे एकाकार हो जाती है। प्रकृति में भी एक अवस्था दूसरी अवस्था से प्रभावित हो उसी से एकाकार हो जाती है और सर्जन-क्रम की अगली स्थिति को प्रभावित करने लगती है। उदारहण के लिए ध्वनि के स्वर-लय को लिया जा सकता है; ध्वनि की स्वराकार एक तरङ्ग दूसरी को उत्पन्न कर उसी से मिल जाती है और यह तरङ्ग तीसरी तरङ्ग को उत्पन्न करती है। मानसिक चेतना के समान प्रकृति में भी सहायक परिस्थितियों के उपस्थित होने पर निश्चित स्वभाव की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। दिन-रात तथा ऋतु विपर्यय आदि उसी प्रकार प्रकृति के स्वभाव कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त प्रकृति में सचेतन विकास का रूप भी सन्निहित है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रकृति में मानसिक चेतना की समरूपता बहुत अंशों में मिलती है। यह केवल स्तर भेद के कारण अधिक दूर की लगती है। अतः हम प्रकृति चेतना के उसी प्रकार भाग हैं जिस प्रकार सामाजिक चेतना के। भेद केवल विकास क्रम में चेतना के स्तरों को लेकर है।

सत्-चित्-आनन्द

§१०—यहाँ हम प्रकृति और मानव के अनुकरणात्मक प्रतिबिंब भाव पर विचार आरम्भ करने के पूर्व इसी के समान भारतीय सिद्धान्त की ओर संकेत कर देना चाहते हैं। भारतीय तत्त्ववाद में इस सिद्धान्त का उल्लेख पहले ही हो चुका था, परन्तु वल्लभाचार्य ने इसकी अधिक स्पष्ट व्याख्या की है। भारतीय तत्त्ववाद में जड़ और जीव का (जिसे स्वचेतन कह चुके हैं) भेद करते हुए सत् का उल्लेख किया गया है। प्रकृति में (यहाँ जड़ प्रकृति से अर्थ है) केवल सत् है और जीव में सत-चित्; परन्तु आनन्द का अभाव दोनों में ही है। आनन्द केवल ब्रह्म की विशेपता है। आगे कहा गया है कि जीव बन्धनों से मुक्त होकर सम-स्थिति पर आनन्द प्राप्त कर सकता है। इस मत को हम सहज रूप से इस प्रकार समझ सकते हैं। प्रकृति चेतना की विस्मृत स्थिति है, और ब्रह्म पूर्ण चेतना की स्थिति। जीव दोनों के

मध्य की स्थिति है। वह अपनी स्वचेतना से एक ओर प्रकृति को सचेतनशील करता है; दूसरी ओर स्वचेतना को पूर्ण चेतना की ओर प्रेरित करके आनन्द का सम भी प्राप्त करता है। हमारी विवेचना में प्रकृति की चेतना का जड़त्व तथा मानवीय चेतना का स्व भी इसी ओर संकेत करता है।[२]

अनुकरणात्मक प्रतिबिंब भाव

प्रकृति चेतना से सम स्थापित कर मानव की चेतना पूर्ण मनस्-चेतना की ओर विकसनशील है। प्रकृति का सचेतन सम मानव की स्वचेतना का स्रोत है। और पूर्ण मनस्-चेतना की ओर उसकी प्रगति उसकी आदर्श भावना का रूप है। यही पूर्ण मनस्-चेतना आध्यात्मिक क्षेत्र में ब्रह्म या ईश्वर आदि का प्रतीक ढूँढ़ लेती है। मानव अपनी मानसिक चेतना में अधिक ऊँचा उठता जाता है, और वह अपनी स्वचेतना (आत्मा) के पूर्ण विकसित रूप में ब्रह्म प्राप्त करता है जिसका रूप आनन्द कहा जा सकता है। दूसरे भाग के साधना संबन्धी प्रकरणों में इस विकास के साथ प्रकृति रूपों की विवेचना उपस्थित की जायगी। यहाँ तो यह दिखाना है कि मानव की इस प्रगति में प्रकृति का किस प्रकार महत्त्वपूर्ण योग रहा है, और प्रकृति की विस्मृत-चेतना का सम मानव की चेतना के लिए किस सीमा तक आवश्यक है।

११—तत्त्ववाद के क्षेत्र में जो कहा गया है वह मानसशास्त्र के आधार पर भी सिद्ध हो जाता है। मन अपनी मानसिक अवस्थाओं में

बाह्य तथा अन्तर्जगत

बोध, राग और क्रिया में स्थित है। मन की यह स्थिति किसी न किसी रूप में मानव इतिहास के साथ

---

२ दूसरे भाग के पंचम प्रकरण में वैष्णव साधना के अन्तर्गत प्रकृति के रूपों की विवेचना मे इस प्रश्न को लेकर अधिक व्याख्या की गई है।

संबन्धित है। इनको विकसित स्थिति में ज्ञान, अनुभूति और चिकीर्षा के रूप में समझा जा सकता है। किसी वस्तु का प्रत्यक्ष-बोध इन्द्रियों को बाह्य रूप से होता है; और वह वस्तु हमारे अन्तः को अनुभूतिशील करती है। परन्तु चिकीर्षा मानव के समस्त मानसिक व्यापारों की प्रेरणा शक्ति है। साधारण प्रत्यक्ष-ज्ञान के धरातल पर हमारे पास दो जगत् हैं, एक अन्तर्जगत् और दूसरा बाह्जगत्। दोनों ही समान रूप से विस्तार में प्रसरित हैं, इनमें किसी प्रकार का विरोध नहीं। कौन किस पर क्रियाशील है? कौन किसका अनुकरण है, प्रतिबिंब है? यह तत्त्ववादियों के लिए चक्कर में डालनेवाला प्रश्न है। परन्तु सहज बोध के स्तर पर हम स्वीकार कर चुके हैं कि विश्व में भौतिक-तत्त्व और विज्ञान-तत्त्व दोनों को मानकर ही चला जा सकता है। साथ ही इसी आधार पर मानस के साथ वस्तु का अस्तित्व भी स्वीकार किया गया है। इसलिए साधारण व्यक्ति इन दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया सरलता से मान सकता है। अन्तर्जगत् मानों बहिर्मुख होकर विस्तृत हो उठा है; और बहिर्जगत् मानों अन्तर्जगत् में एकाग्र हो गया है।[3] परन्तु हम अपनी दृष्टि से ही प्रकृति को देखते हैं। उसके प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुभव में हमारी इच्छा-शक्ति की प्रेरणा प्रधान है। परिणाम स्वरूप प्रकृति पर मन की क्रियाशीलता हमारी ही क्रिया का रूप बन जाती है। लेकिन मानसिक ज्ञान और अनुभूति की स्थितियाँ हमको इस प्रक्रिया का भान अवश्य कराती हैं। अन्तर्जगत् जब बहिर्जगत् पर क्रियाशील होता है, हमको वस्तु-ज्ञान होता है। और जब बहिजगत् का प्रभाव अन्तर्जगत् ग्रहण करता है, उस समय वस्तु की अनुभूति होती है। इस प्रकार वस्तु से आदान रूप में जो हम ग्रहण करते हैं वह अनुभूति है; और वस्तुजगत् को जो हम प्रदान

---

३ दूसरे भाग के तृतीय प्रकरण में संत साधना मे इस प्रकार के प्रकृति रूपों की विवेचना की गई है।

संबन्धित है। इनको विकसित स्थिति में ज्ञान, अनुभूति और चिकीर्षा के रूप में समझा जा सकता है। किसी वस्तु का प्रत्यक्ष-बोध इन्द्रियों को वाह्य रूप से होता है. और वह वस्तु हमारे अन्तः को अनुभूतिशील करती है। परन्तु चिकीर्षा मानव के समस्त मानसिक व्यापारों की प्रेरणा शक्ति है। साधारण प्रत्यक्ष-ज्ञान के धरातल पर हमारे पास दो जगत् हैं, एक अन्तर्जगत् और दूसरा बाह्यजगत्। दोनों ही समान रूप से विस्तार में प्रसरित हैं, इनमें किसी प्रकार का विरोध नहीं। कौन किस पर क्रियाशील है? कौन किसका अनुकरण है, प्रतिबिंब है? यह तत्त्ववादियों के लिए चक्कर में डालने-वाला प्रश्न है। परन्तु सहज बोध के स्तर पर हम स्वीकार कर चुके हैं कि विश्व में भौतिक-तत्त्व और विज्ञान-तत्त्व दोनों को मानकर ही चला जा सकता है। साथ ही इसी आधार पर मानस के साथ वस्तु का अस्तित्व भी स्वीकार किया गया है। इसलिए साधारण व्यक्ति इन दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया सरलता से मान सकता है। अन्तर्जगत् मानो बहिर्मुख होकर विस्तृत हो उठा है; और वहिर्जगत् मानो अन्तर्जगत् में एकाग्र हो गया है।[3] परन्तु हम अपनी दृष्टि से ही प्रकृति को देखते हैं। उसके प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुभव में हमारी इच्छा-शक्ति की प्रेरणा प्रधान है। परिणाम स्वरूप प्रकृति पर मन की क्रियाशीलता हमारी ही क्रिया का रूप बन जाती है। लेकिन मानसिक ज्ञान और अनुभूति की स्थितियाँ हमको इस प्रक्रिया का भान अवश्य कराती हैं। अन्तर्जगत् जब वहिर्जगत् पर क्रियाशील होता है, हमको वस्तु-ज्ञान होता है। और जब वहिर्जगत् का प्रभाव अन्तर्जगत् ग्रहण करता है, उस समय वस्तु की अनुभूति होती है। इस प्रकार वस्तु से आदान रूप में जो हम ग्रहण करते हैं वह अनुभूति है; और वस्तुजगत् को जो हम प्रदान

---

३ दूसरे भाग के तृतीय प्रकरण में संत साधना में इस प्रकार के प्रकृति रूपों की विवेचना की गई है।

अनुकरणात्मक प्रतिबिंब भाव

'हरी भरी घाटी में कल-कल करती हुई सरिता—किनारे के घने वृक्षों
की पंक्ति जो उस पार के ऊँचे पहाड़ों की श्रेणी से
ज्ञान तथा भाव पक्ष मिल सी गई है—।' इस दृश्य को देखने की एका-
ग्रता के साथ उसकी मनःस्थिति में चिकीर्षा निश्चित है और इससे
उसके मन में दो प्रक्रियाओं का विकास सम्भव और स्वाभाविक है।
रूप आकार आदि के सहारे वह जल, वृक्ष आदि को पहचानता है;
इनसे उसके जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। पर्वत की
दुर्गमता आदि का उसे बोध है, क्योंकि शिकार आदि के प्रसंग में उसके
मार्ग में बाधाएँ उपस्थित होती रहती हैं। यह उसका ज्ञान-पक्ष है।
परन्तु साथ ही जल की तरलता, वृक्षों का रंग-रूप और पर्वत की
विशालता आदि ने उसके हृदय को अनुभूतिशील किया है। और यह
उसका अन्तर्मुखी अनुभूति-पक्ष है। परन्तु मानव की इन मानसिक
स्थितियों का विकास एकांगी नहीं समझना चाहिए। जिस प्रकार ये
तीनों मानसिक स्थितियाँ एक दूसरे से संबन्धित हैं; उसी प्रकार प्रकृति
के अनुकरणात्मक संबन्ध में ज्ञान और अनुभूति का यह रूप एक दूसरे
के आश्रित और संबन्धित है। इनका अस्तित्व अपने आप में पूर्ण नहीं
है। जब तक ज्ञान सामाजिक आधार तक विकसित नहीं हुआ उसको
व्याख्या की आवश्यकता नहीं हुई। परन्तु अनुभूति आन्तरिक अनुकरण
होने के कारण व्यक्ति में भी अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकी। इसी कारण
मानव के इतिहास में विचारों से पूर्व भावना की अभिव्यक्ति को
अवसर मिला है। अभिव्यक्ति की सबसे प्रबल और विकसित शक्ति
भाषा का मूल भावना की अभिव्यक्ति में ही मिलता है। अप
प्रारम्भिक स्वरूप में भाषा भी एक भावात्मक अभिव्यक्ति ही थ
जिस प्रकार नृत्य, संगीत और चित्रकला आदि का ऐतिहासि
स्रोत आदिम अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में है। यह प्रारम्भिक अ
व्यक्ति बहिर्संचारियों के रूप में मानसिक अनुकरण की स्वच्छंद अ
मानी जा सकती है। बाद में सामाजिक वातावरण में भाषा अ

करते हैं वह वस्तु-ज्ञान है। ऊपर तत्त्ववाद के क्षेत्र में प्रकृति के जिस चेतन् (सत) रूप का उल्लेख किया गया है इससे भी इसी परिणाम पर हम पहुँचते हैं। मानव चेतना पर जब प्रकृति की चेतना का प्रभाव पड़ता है, वह अनुभूति के सहारे 'स्व' की ओर गतिशील होता है। और जब मानव की चेतना प्रकृति चेतना के सम्पर्क में आती है उस समय उसका प्रत्यक्ष बोध मात्र होता है। यहाँ मानव और प्रकृति दोनों की चेतना तो सत् के रूप में स्वीकार की गई है; पर मानव का 'स्व' जब चेतना के साथ मिलता है तब उसमें सन् के साथ चित का योग हो जाता है। जैसे किसी पूर्व परिचित को देखकर हम उसको पहिचान लेते हैं, उसी प्रकार प्रकृति की चेतना (सत्) को मानव चेतना (सत् अंश) पहिचान लेती है और जब उसमे प्रतिबिंबित होती है वह आत्मचेतना के पथ पर आगे बढ़ती है। मानसिक चेतना को धारण करने वाला शरीर इसी सत्य को प्रकट करता है। उसमें प्रकृति के साधारण तत्त्वों को समझने के लिए विभिन्न इन्द्रियाँ हैं: या वह विभिन्न इन्द्रियों से प्रकृति को विभिन्न गुणों वाली अनुभव करता है। इस प्रकार प्रकृति का प्रत्यक्ष-बोध तो मन उस सम के आधार पर करता है, जिसको हमने इन्द्रिय-बोध के नाम से अन्तर्जगत् की बहिर्जगत् पर क्रियाशीलता कहता है और जो प्रभाव प्रकृति हमारे मन या अन्तर्जगत् पर छोड़ती है, वह हमारी अनुभूति का रूप है। परन्तु जब हम इन दोनों, ज्ञान और अनुभूति को प्रकट करना चाहते हैं, उस समय ये फ़ोटो-चित्रों की भाँति उलट जाते हैं और परिवर्तित रूप ग्रहण कर लेते हैं। अर्थात् अनुभूति की अभिव्यक्ति की जाती है और ज्ञान ग्रहण किया जाता है। वस्तुतः यह एक प्रकार का अनुकरण है, जिसमें मन और प्रकृति एक दूसरे में प्रतिबिंबित दिखाई देते हैं। अन्तः (मन) का अनुकरण करती हुई प्रकृति ज्ञान के रूप में दिखाई देती है और प्रकृति का अनुकरण करता हुआ अन्तः अनुभूतिशील हो उठता है।

§१२—मानसिक चेतना से युक्त मानव अपने सामने देखता है—

'हरी भरी घाटी में कल-कल करती हुई सरिता—किनारे के घने वृक्षों की पंक्ति जो उस पार के ऊँचे पहाड़ों की श्रेणी से मिल सी गई है—।' इस दृश्य को देखने की एकाग्रता के साथ उसकी मनःस्थिति में चिकीर्षा निश्चित है और इससे उसके मन में दो प्रक्रियाओं का विकास सम्भव और स्वाभाविक है। रूप आकार आदि के सहारे वह जल, वृक्ष आदि को पहचानता है; इनसे उसके जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। पर्वत की दुर्गमता आदि का उसे बोध है, क्योंकि शिकार आदि के प्रसंग में उसके मार्ग में बाधाएँ उपस्थित होती रहती हैं। यह उसका ज्ञान-पक्ष है। परन्तु साथ ही जल की तरलता, वृक्षों का रंग-रूप और पर्वत की विशालता आदि ने उसके हृदय को अनुभूतिशील किया है। और यह उसका अन्तर्मुखी अनुभूति-पक्ष है। परन्तु मानव की इन मानसिक स्थितियों का विकास एकांगी नहीं समझना चाहिए। जिस प्रकार ये तीनों मानसिक स्थितियाँ एक दूसरे से संबन्धित है; उसी प्रकार प्रकृति के अनुकरणात्मक संबन्ध में ज्ञान और अनुभूति का यह रूप एक दूसरे के आश्रित और संबन्धित है। इनका अस्तित्व अपने आप में पूर्ण नहीं है। जब तक ज्ञान सामाजिक आधार तक विकसित नहीं हुआ उसको व्याख्या की आवश्यकता नहीं हुई। परन्तु अनुभूति आन्तरिक अनुकरण होने के कारण व्यक्ति में भी अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकी। इसी कारण मानव के इतिहास में विचारों से पूर्व भावना की अभिव्यक्ति को अवसर मिला है। अभिव्यक्ति की सबसे प्रबल और विकसित शक्ति भाषा का मूल भावना की अभिव्यक्ति में ही मिलता है। अपने प्रारम्भिक स्वरूप में भाषा भी एक भावात्मक अभिव्यक्ति ही थी; जिस प्रकार नृत्य, संगीत और चित्रकला आदि का ऐतिहासिक स्रोत आदिम अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में है। यह प्रारम्भिक अभिव्यक्ति बहिर्संचारियों के रूप में मानसिक अनुकरण की स्वच्छंद क्रीड़ा मानी जा सकती है। बाद में सामाजिक वातावरण में भाषा अपने

ज्ञान तथा भाव पक्ष

करते हैं वह वस्तु-ज्ञान है। ऊपर तत्त्ववाद के क्षेत्र में प्रकृति के जिस चेतन् (सत) रूप का उल्लेख किया गया है इससे भी इसी परिणाम पर हम पहुँचते हैं। मानव चेतना पर जब प्रकृति की चेतना का प्रभाव पड़ता है, वह अनुभूति के सहारे 'स्व' की ओर गतिशील होता है। और जब मानव की चेतना प्रकृति चेतना के सम्पर्क में आती है उस समय उसका प्रत्यक्ष बोध मात्र होता है। यहाँ मानव और प्रकृति दोनों की चेतना तो सत् के रूप में स्वीकार की गई है; पर मानव का 'स्व' जब चेतना के साथ मिलता है तब उसमें सन् के साथ चित का योग हो जाता है। जैसे किसी पूर्व परिचित को देखकर हम उसको पहिचान लेते हैं, उसी प्रकार प्रकृति की चेतना (सत्) को मानव चेतना (सत् अंश) पहिचान लेती है और जब उससे प्रतिबिंबित होती है वह आत्मचेतना के पथ पर आगे बढ़ती है। मानसिक चेतना को धारण करने वाला शरीर इसी सत्य को प्रकट करता है। उसमें प्रकृति के साधारण तत्त्वों को समझने के लिए विभिन्न इन्द्रियाँ हैं: या वह विभिन्न इन्द्रियों से प्रकृति को विभिन्न गुणों वाली अनुभव करता है। इस प्रकार प्रकृति का प्रत्यक्ष-बोध तो मन उस सम के आधार पर करता है, जिसको हमने इन्द्रिय-बोध के नाम से अन्तर्जगत् की बहिर्जगत् पर क्रियाशीलता कहता है और जो प्रभाव प्रकृति हमारे मन या अन्तर्जगत् पर छोड़ती है, वह हमारी अनुभूति का रूप है। परन्तु जब हम इन दोनों, ज्ञान और अनुभूति को प्रकट करना चाहते हैं, उस समय ये फ़ोटो-चित्रों की भाँति उलट जाते हैं और परिवर्तित रूप ग्रहण कर लेते हैं। अर्थात् अनुभूति की अभिव्यक्ति की जाती है और ज्ञान ग्रहण किया जाता है। वस्तुतः यह एक प्रकार का अनुकरण है, जिसमें मन और प्रकृति एक दूसरे में प्रतिबिंबित दिखाई देते हैं। अन्तः (मन) का अनुकरण करती हुई प्रकृति ज्ञान के रूप में दिखाई देती है और प्रकृति का अनुकरण करता हुआ अन्तः अनुभूतिशील हो उठता है।

§१२—मानसिक चेतना से युक्त मानव अपने सामने देखता है—

'हरी भरी घाटी में कल-कल करती हुई सरिता — किनारे के घने वृक्षों की पंक्ति जो उस पार के ऊँचे पहाड़ों की श्रेणी से मिल सी गई है—।' इस दृश्य को देखने की एकाग्रता के साथ उसकी मनःस्थिति में चिकीर्षा निश्चित है और इससे उसके मन में दो प्रक्रियाओं का विकास सम्भव और स्वाभाविक है।

ज्ञान तथा भाव पक्ष

रूप आकार आदि के सहारे वह जल, वृक्ष आदि को पहचानता है; इनसे उसके जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। पर्वत की दुर्गमता आदि का उसे बोध है, क्योंकि शिकार आदि के प्रसंग में उसके मार्ग में बाधाएँ उपस्थित होती रहती हैं। यह उसका ज्ञान-पक्ष है। परन्तु साथ ही जल की तरलता, वृक्षों का रंग-रूप और पर्वत की विशालता आदि ने उसके हृदय को अनुभूतिशील किया है। और यह उसका अन्तर्मुखी अनुभूति-पक्ष है। परन्तु मानव की इन मानसिक स्थितियों का विकास एकांगी नहीं समझना चाहिए। जिस प्रकार ये तीनों मानसिक स्थितियाँ एक दूसरे से संबन्धित हैं; उसी प्रकार प्रकृति के अनुकरणात्मक संबन्ध में ज्ञान और अनुभूति का यह रूप एक दूसरे के आश्रित और संबन्धित है। इनका अस्तित्व अपने आप में पूर्ण नहीं है। जब तक ज्ञान सामाजिक आधार तक विकसित नहीं हुआ उसको व्याख्या की आवश्यकता नहीं हुई। परन्तु अनुभूति आन्तरिक अनुकरण होने के कारण व्यक्ति में भी अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकी। इसी कारण मानव के इतिहास में विचारों से पूर्व भावना की अभिव्यक्ति को अवसर मिला है। अभिव्यक्ति की सबसे प्रबल और विकसित शक्ति भाषा का मूल भावना की अभिव्यक्ति में ही मिलता है। अपने प्रारम्भिक स्वरूप में भाषा भी एक भावात्मक अभिव्यक्ति ही थी; जिस प्रकार नृत्य, संगीत और चित्रकला आदि का ऐतिहासिक स्रोत आदिम अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में है। यह प्रारम्भिक अभिव्यक्ति बहिर्संचारियों के रूप में मानसिक अनुकरण की स्वच्छंद क्रीड़ा मानी जा सकती है। बाद में सामाजिक वातावरण में भाषा अपने

विकास के साथ प्रत्यक्ष-बोध से सीधे प्रेरणा न लेकर परप्रत्यक्षों से अधिक संबन्धित होती गई। इस प्रकार वह विचारों के प्रकट करने के लिए अधिक प्रयुक्त होने लगी। दूसरी ओर भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा को व्यंजना का सहारा लेना पड़ा।[४]

पीड़ा तथा तोष की वेदना

§१३—यहाँ जिस विकार (राग) पर विचार किया गया है वह मानसिक प्रवाह का अंग है। यह हमारी संवेदनाओं और भावों के मूल में तो होता है, पर उनमे एक नहीं समझा जा सकता। और अभी तक प्रकृति के जिस भावात्मक अनुकरण की बात कही जा रही थी वह भावनाओं को उत्पन्न करने के अर्थ में नहीं। मानस की इस प्रवृत्ति में पीड़ा और तोष की भावना सन्निहित है।[५] परन्तु पीड़ा और तोष की संवेदना में तथा अन्य भावों में समानता नहीं है। केवल भावनाओं में पीड़ा और तोष की संवेदना भी सन्निहित होती है। भावना और भावों के विकास में प्रकृति का क्या हाथ रहा है, इस पर विचार तृतीय प्रकरण में किया जायगा। यहाँ यह देख लेना आवश्यक है कि पीड़ा और तोष की संवेदनात्मकता से प्रकृति का क्या संबन्ध रहा है। प्रथम तो प्रकृति के मानसिक संबन्ध में यह आवश्यक भावना है, साथ ही मानव प्रकृति का अनुकरण भी इसीकी प्रेरणा से करता है। यह पीड़ा और तोष की संवेदनात्मक भावना मानव के नाद तथा शारीरिक संचलन से अधिक संबन्धित है। परन्तु प्रकृति के संचलन तथा नादों के शारीरिक अनुकरण के अतिरिक्त भी प्रकृति के रंग-रूप तथा प्रकाश आदि का तोषप्रद (सुखद) प्रभाव मानव पर पड़ता है। अगले प्रकरणों में यह

४—उपमानों के अलंकारिक प्रयोगों में प्रकृति के रूपों की व्यंजना का उल्लेख आगे किया गया है।

५—प्रचलित शब्द दुःख-सुख में शारीरिक से अधिक मानसिक बोध होता है

समीक्षा की जायगी कि किस प्रकार प्रकृति के प्रारम्भिक सम्पर्कों को, जिनमें मानव की पीड़ा और तोष की भावना संबन्धित थी, कल्पना के धरातल पर कला का रूप मिल सका है। प्रत्यक्ष-बोध के धरातल पर इनके साथ तोष की भावना सन्निहित है जो एक सीमा के बाद पीड़ा में परिवर्तित हो जाती है। कुछ विद्वानों ने प्रकृति के रूपात्मक (रंग) और ध्वन्यात्मक (नाद) सम्पर्कों को रति-भाव से संबन्धित मान कर ही तोषात्मक तथा आकर्षक स्वीकार किया है। एक सीमा तक यह सम्भव सत्य है। परन्तु इनमें एक प्रकार का एकाग्रता तथा गम्भीरता संबन्धी तोष भी सन्निहित है, जो किसी अन्य भाव की अपेक्षा नहीं रखता।

प्रत्यक्ष बोध

१४—मानव के प्रत्यक्ष-बोधों के विकास में स्पर्श, गन्ध तथा स्वाद का योग उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना दृश्य तथा श्रवण का। इनके बोध में भी पीड़ा और तोष की भावना सन्निहित है, परन्तु इनका संयोग संरक्षक सहज-वृत्ति के साथ अधिक है। साथ ही पूर्वानुराग के अन्तर्गत इन बोधों का कुछ अंशों में महत्त्व है। परन्तु श्रवण के बोध, ध्वनि-नाद में उसकी क्रमिक लय-ताल के साथ गम्भीर एकाग्रता के रूप में भी तोष की भावना है। उसी प्रकार दृश्य में रूप, रंग, प्रकाश तथा संचलन के बोध के साथ इसी प्रकार की एकाग्र-गम्भीरता से उत्पन्न तोष की सुखानुभूति होती है। यह तोषात्मक सुख समस्त चेतना के अन्य वहिर्प्रभावों से मुक्त हो जाने तथा आन्तरिक आत्मविभोर स्थिति के उत्पन्न होने से होता है। किसी किसी पाश्चात्य विद्वान ने इस तोष की संवेदना को मूर्च्छना या मादक जैसी स्थिति के समान भी माना है। यह स्थिति भाव को प्रेरणा देने में सहायक तो हो सकती है, परन्तु अपने आप में कोई भाव नहीं हो सकती। इन प्रारम्भिक बोधों की उपयोगिता, उनमें सन्निहित पीड़ा और तोष की संवेदना के साथ, आज के कला और काव्य के क्षेत्र में नहीं जान पड़ती। परन्तु हमारा इतिहास

बताता है कि प्रारम्भिक युग से इन प्रत्यक्ष-बोधों ने मानव जीवन तथा संस्कृति के विकास मे बहुत कुछ सहायता दी है। और काव्य तथा कला का आधार भी प्रमुखतः यही है। प्रकाश का प्रत्यक्ष-बोध मानव मात्र को अच्छा लगता है। परन्तु प्रारम्भिक युग में जब मानव अपनी चेतना के विस्तार को भी आकार और रूप देने का प्रयास कर रहा था, उसके जीवन में प्रकाश का बहुत महत्त्व था। आत्म-संरक्षण तथा वंश-विकसन सहज-वृत्तियों के लिए तो इनकी उपयोगिता थी ही: इस के साथ ही प्रकाश के प्रत्यक्ष-बोधों में तीव्र की सुख संवेदना भी सन्निहित रही है। प्रकाश के इस महत्त्व के साक्ष्य में मानव की सूर्य्य और अग्नि की पूजा है। इसी के कारण प्रकाश देवत्व की महिमा से पूजित हुआ है। जगमगाते नक्षत्र-मण्डल से युक्त आकाश के प्रति मानव का आकर्षण भी इसीलिए रहा है। रंग-रूपों के प्रति हमारा मोह आज भी वैसा ही बना है। आज की उन्नत सामाजिक स्थिति में रंग-रूप के प्रत्यक्ष-बोधों में कितनी ही प्रवृत्तियों तथा भावनाओं का समन्वय मानसिक स्थिति में हो चुका है। परन्तु प्रारम्भिक युग से ही रूप-रंग का यह आकर्षण पूर्वानुराग की तोष-सवेदना के अतिरिक्त किसी अन्य तोष की सुख-संवेदना से संबन्धित रहा है। रंगों का भान उसकी विविधता पर स्थिर है जो अपने विभिन्न छायातप में तोष है। इसी प्रकार रूप भी स्थान की विभिन्न स्थितियों के अनुपात के आधार पर ही स्थिर होता है। इसके प्रति मानव अपनी भ्रमपूर्ण धारणा में भी तोष प्राप्त करता है। संचलन का आधार दिक्-काल दोनों ही हैं। प्रवाह के एकोन्मुखी संचलन में तन्मयता की तुष्टि अवश्य रहती है। जिस प्रकार ध्वनि का मानसिक अनुकरण संगीत के स्वरों के लय-ताल पर चलता है; उसी प्रकार संचलन, मानसिक अनुकरण से शारीरिक अनुकरण में परिवर्तित होकर, हमारे नृत्तों के केन्द्रीभूत संचलन के रूप में अवतीर्ण हुआ है।[६]

६ लेखक के नाटक संबन्धी लेखों में से 'नाटकों की उत्पत्ति' नामक

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति का प्रत्यक्ष सम्पर्क मानव की संरक्षण और वंश विकसन सहजवृत्तियों के लिए प्रेरक तथा उपयोगी है ही, साथ ही यह सम्पर्क अनुकरणात्मक स्थिति में भी तोष का कारण हो सकता है। यह प्रकृति का अनुकरण शारीरिक या मानसिक दोनों ही हो सकता है। प्रारंभिक सहजवृत्तियों के आधार पर आगे चल कर विभिन्न प्रवृत्तियों तथा भावों का विकास हुआ है। इस विकास के साथ अनुकरण में सन्निहित तोष की सुखानुभूति का समन्वय चलता रहा। और मानव के काव्य तथा कला के क्षेत्र में इसका बहुत कुछ स्पष्टीकरण अब भी मिलता है।

§१५—मानसिक चेतना के विकास में प्रत्यक्ष-बोध के बाद स्मृति और संयोग के आधार पर परप्रत्यक्ष का स्तर आता है। इस स्थिति में परप्रत्यक्षों की स्पष्ट रूपरेखा और उनका अलग अलग संयोग-ज्ञान आवश्यक है। इनमें भी सामाजिक विकास के साथ भाव-रूप और विचार का भेद हो जाता है। प्रकृति संबन्धी परप्रत्यक्ष जब विचारात्मक होते हैं, उस समय हमारा सामाजिक दृष्टिकोण प्रमुख होता है और यह हमारे मानवीय प्रयोजन के लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ मानवीय प्रयोजन का अर्थ सामाजिक प्रयोजन है। इस प्रकार जब हम प्रकृति का विचार करते हैं उस समय उसका कोई स्वरूप हमारे सामने आना आवश्यक नहीं है। हम कहते हैं 'मोहन गंगा के पुल से उस पार गया'; और इस स्थिति में केवल हमारे प्रयोजन का बोध होता है। इस कथन में गंगा के प्रवाह तथा उसके पुल की दृश्यात्मकता से हमारा कोई संबन्ध नहीं है। जब हम कहते हैं—'देवदारु के वनों की लकड़ी' उस समय हमारे सामने लकड़ी का सामाजिक उद्देश्य मात्र है। इस प्रकार विचार के तार्किक क्रम में प्रकृति प्रयोजन का

परप्रत्यक्ष का स्तर

लेख में इस विषय की अधिक विवेचना की गई है (पारिजात जून ४७ ई०)

विषय मात्र रह जाती है। इसकी ओर इसी प्रकरण के पिछले अनुच्छेदों में दूसरी प्रकार से संकेत किया जा चुका है। परन्तु भाव-रूप परप्रत्यक्षों में हम प्रकृति को फिर सामने पाते हैं, इस स्थिति में प्रकृति अपने रूप-रंग, ध्वनि नाद तथा गंध आदि गुणों में दृश्यमान् हो उठती है। जीवन के साधारण क्रम में आज इसकी उपयोगिता न भी हो, परन्तु विशेष अवसर और स्थितियों में इसका महत्त्व अवश्य है। सामाजिक वातावरण से ऊब कर या थक कर मानव अपने जीवन में प्रकृति के सम्पर्क से आज भी शान्ति चाहता है। इसी प्रकार भाव-रूप परप्रत्यक्षों का भी कलात्मक महत्त्व है। इसी रूप में प्रकृति की सुप्त-चेतना से सम उपस्थित करने के लिए चित्रकार तूलिका से प्रकृति को रंग-रूपों में छायातप के सहारे उतारना चाहता है; संगीतकार स्वर और गति की ताल-लय में प्रकृति के स्वर संचलन का अनुकरण करता है; और कवि अपनी भाषा की व्यंजना शक्ति द्वारा उसे सप्राण और व्यक्त उपस्थित करता है। पंचम प्रकरण में प्रकृति-चित्रण के विषय में विभिन्न शैलियों का उल्लेख हुआ है। तथा द्वितीय भाग में भी चित्रण संबन्धी उल्लेखों में इस प्रकार की शैलियों का संकेत किया गया है। हम देखेंगे कि इनमें प्रकृति के वर्णनात्मक रूपों की योजना भाव-रूप परप्रत्यक्षों के सहारे ही की गई है।

कल्पना का योग (कला)

§१६—प्रकृति के वर्णनात्मक प्रतिबिंब को उसके भावात्मक अनुकरण के साथ चित्रित करने के लिए केवल परप्रत्यक्ष ही यथेष्ट नहीं है। उसके लिए कल्पना का स्वतंत्र योग भी आवश्यक है। स्मृति और संयोग के आधार पर परप्रत्यक्ष में न तो प्रत्यक्ष की पूर्णता होती है और न भावात्मक प्रभावशीलता की उतनी शक्ति ही। स्मृति से कल्पना अधिक उन्मुक्त है, उसमें दिक् और काल का सीमित बन्धन नहीं रहता। प्रत्यक्ष और परप्रत्यक्ष के नियमों में भी मौलिक अन्तर है, जब कि कल्पना में प्रत्यक्ष की अधिक समानता है। कल्पना में हम अपने अनुरूप

रूप-रंग भर लेते हैं और छायातप प्रदान करते हैं। इसी कारण कल्पना का रूप प्रत्यक्ष भावना से अधिक निकट रहता है। तथा वह अधिक स्पष्ट रूप में उपस्थित होता है। काव्य के प्रकृति-चित्रण में कभी यह कल्पना प्रत्यक्ष से नितान्त भिन्न लगती है।[७] परन्तु अपने कलात्मक सौन्दर्य में ये चित्र अधिक सुन्दर लगते हैं। इसका कारण प्रत्यक्ष और कल्पना की विभिन्न प्रेरक शक्तियों का होना तो है ही साथ सौन्दर्यानुभूति की अपनी भाव-स्थिति भी है। इसके बारे में चतुर्थ प्रकरण में कहा गया है। यहाँ एक बात की ओर ध्यान आकर्षित कर देना आवश्यक है। समाज के विकास के साथ मानव और प्रकृति के संवन्धों में अधिक विषमता आ गई है जिसको हम प्रारम्भिक रूपों के आधार नहीं समझ सकते। और एकान्त रूप से अन्य भावों के विकास के आधार पर मानव और प्रकृति के संवन्ध की व्याख्या भी नहीं की जा सकती। यह विषय अन्यत्र अधिक विस्तार से उपस्थित किया जायगा, यहाँ तो इतना समझ लेना ही पर्याप्त है कि भौतिक प्रकृति यदि जड़ है तो चेतन भी है। केवल उसकी चेतना में स्वानुकरण की चेष्टा अवश्य नहीं है। मानव स्वचेतनशील प्राणी है और उसमें स्व या आत्मानुकरण की चेतना भी विद्यमान है। वह अपनी चेतना के विकास में प्रकृति को अपने दृष्टिकोण से देखने का अभ्यस्त हो गया है। उसकी चेतना सामाजिक चेतना की ही अंग है। इसलिए अपनी सामाजिक समष्टि में वह प्रकृति को जड़ और अपने प्रयोजन का साधन समझता है। परन्तु अपनी व्यक्तिगत चेतना में वह प्रकृति से अनुकरणात्म प्रतिबिंब के रूप में सम भी उपस्थित करता है। इस प्रकार प्रकृति मानव के ज्ञान का आधार तो है ही साथ ही उसके अनुक-

---

७—संस्कृत साहित्य में इस प्रकार के अधिक सुन्दर चित्रण मिलेंगे; हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के कलात्मक चित्रण रूढ़िवादी ही अधिक हैं, पर इनका नितांत अभाव नहीं है।

रणात्मक प्रतिबिंब में मानव के सुख-दुःख की भावना भी सन्निहित है। यह भावना जैसा हम आगे देखेंगे सामाजिक आधार पर भावों के विकास के साथ अधिक विषम और अस्पष्ट होती गई है।

की विषमता इतिहास में एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास लगभग समान आधार पर चलती आती; क्योंकि मस्तिष्क और प्रकृति का स्वरूप युग युग से वैसा ही चला आ रहा है। मानसिक विषमता का कारण मानस के राग, बोध तथा चिकीर्षा की क्रिया-प्रतिक्रिया है। जीवधारियों की विकास-शृंखला में ज्ञान के सहारे ही मानव का स्थान अलग और श्रेष्ठ है। परन्तु मानव जीवन का प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण सत्य उसके मानस की विषमता तथा उसकी इच्छा-शक्ति की प्रेरणा है। मानस के मानवेतर स्तर पर पशु पक्षी सभी अपनी प्रमुख सहज-वृत्तियों के सहारे अपने निश्चित स्वभाव की पथ-रेखा पर जीवन यापन करते हैं। इनमें जिस प्रकार बोधन इन्द्रियवेदन तक ही सीमित है, उसी प्रकार संवेदना का स्तर भी सहजवृत्ति तथा इच्छा केवल प्रेरणा तक निश्चित है। परन्तु मानव के मानस में इन्द्रियवेदन का जो संबन्ध प्रत्यक्ष-बोध से है, वही संबन्ध संवेदना का भाव से समझा जा सकता है।[1] जैसा कहा गया है विकास में इन तीनों का प्रतिक्रियात्मक संबन्ध तो रहा ही है. साथ ही भावात्मक स्थितियों में भी विकास के साथ विषमता और दुर्बोधता आती गई है। आज जिन प्रत्यक्ष और विचार बोधों का हम कल्पना में सहारा लेते हैं, वे सैकड़ों वर्ष पूर्व भी इसी प्रकार प्रयुक्त होते थे ऐसा नहीं कहा जा सकता। मानव-शास्त्र तथा भाषा-विज्ञान दोनों से यह सिद्ध नहीं होता। मानसिक चेतना के इस रूप तक आने में संवेदनात्मक भावों का महान योग रहा है, और इस सीमा पर मानस की भावात्मकता में विचार तथा कल्पना की भी अपेक्षा रही है। पिछले प्रकरणों में मानव की समस्त चेतना का प्रश्न साधारणतः दार्शनिक दृष्टि से

१—संवेदनात्मक क्रम में भाव उसी प्रकार है जिस प्रकार प्रत्यक्ष-बोध विचारात्मक क्रम में। रिबोट; 'दि साइकोलॉजी ऑव दि इमोशनस्' के इन्ट्रोडक्शन में (पृ० १३)

विचार किया गया है, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में मानवीय भावों पर अपनी विवेचना केन्द्रित करनी है। इस कारण यहाँ मानस-शास्त्र तथा शरीर-विज्ञान का ही अधिक आश्रय लिया गया है। हमारी विवेचना का प्रमुख विषय मनोभावों के विकास में प्रकृति का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबन्ध देखना है।

जीवन में संवेदना का स्थान

संवेदना का व्यापक अर्थ

§२—संवेदना अपने व्यापक अर्थ में प्रभावशीलता है। यह विश्व के समस्त जड़ चेतन जगत् में देखी जा सकती है और यही सर्जन की आन्तरिक प्रेरणा शक्ति मानी जा सकती है। सृष्टि की क्रिया, गति, उसका संचलन तो कार्य मात्र है: पर यह प्रभाव कारण और परिणाम दोनों ही माना जा सकता है। जब तक क्रिया के मूल में और प्रतिक्रिया के परिणाम में, किसी प्रभावात्मक शक्ति को नहीं स्वीकार करते, न्याय-वैशेषिकों की समस्त पदार्थ और द्रव्यों की व्याख्या हमारे सम्मुख सृष्टि-सर्जन का रूप उपस्थित नहीं कर सकती। सांख्य-योग की प्रकृति पुरुष से बिना प्रभावित हुए (ज्ञान की सीमा में) महत् की ओर नहीं बढ़ सकती। तत्त्ववाद के क्षेत्र से हटकर हम पदार्थ-विज्ञान और रसायन-शास्त्र के आधार पर भी इसी निष्कर्ष तक पहुँचते हैं। एक पदार्थ-तत्त्व जब दूसरे पदार्थ-तत्त्व के साथ क्रियाशील होकर प्रभावित होता है, उस समय एक नवीन पदार्थ-तत्त्व का निर्माण होता है। यही बात रासायनिक प्रक्रियाओं में भी ऐसे ही घटित होती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जगदीश चन्द्र बसु ने वनस्पति-जगत् को संवेदनात्मक सिद्ध किया है। और यह तो साधारण अनुभव की बात है—धूप के ताप में पादप किस प्रकार मुरझा जाते हैं; पानी पाकर लताएँ किस प्रकार लहलहा उठती हैं और छुईमुई लता का संकोच तो

वनस्पति-जगत् में नव-वधू जैसी सलज्ज शालीनता का उदाहरण है। जिस सीमा में जीवन में अचेतन स्थिति रहती है, उसमें भी शारीरिक प्रभावशीलता रहती है, और इसी को चेतन-स्थिति की भावात्मकता की पृष्ठभूमि कहा जा सकता है। इन्द्रियवेदन में किसी प्रभाव को ग्रहण करने की तथा प्रतिक्रिया करने की शक्ति होती है। हम जो मानवीय चेतना की स्थिति में ही संवेदना तथा भावना की बात कहते हैं वह मानवीय दृष्टि का अपने को प्रधानता देने के कारण ही।

आकर्षण और उत्क्षेपण

क—हम चेतना की पूर्ण विकसित स्थिति के पूर्व, पिंड में दो प्रवृत्तियाँ पाते हैं। एक भौतिक रासायनिक प्रवृत्ति जो आकर्षण के रूप में मानी जा सकती है, और दूसरी पिंड की आंतरिक प्रवृत्ति जो उत्क्षेपण कही जा सकती है। ये दोनों हमारे भाव-जगत् के मौलिक आधार के दो सिरे हैं। इस अर्थ में पिंड के जीवन में आकर्षण का महत्त्व शोषण और पोषण क्रिया के रूप में है। यौन संबन्धों की प्रत्यक्ष स्थिति तक यह आकर्षण अवश्य कुछ दूसरे प्रकार का हो जाता है, और इस स्थिति में निश्चय ही चेतना के कुछ उच्च-स्तर का संबन्ध है। इसी प्रकार पिंड के द्वारा अपने आवश्यक तत्त्वों को ग्रहण करने के बाद अन्य अनावश्यक पदार्थ के त्याग को उत्क्षेपण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। पिंड की इसी प्रकार की आन्तरिक प्रभावशील प्रक्रिया के आधार पर हमारी चेतना की संवेदनात्मकता स्थिर है। पिंड शरीर के रूप में इन्द्रिय चेतना को प्राप्त करके अपनी आन्तरिक प्रक्रिया में बढ़ा है। परन्तु इसका अर्थ यहाँ यह नहीं लगाना चाहिए कि हम शरीर की आन्तरिक प्रक्रिया के आधार पर मानसिक चेतना की व्याख्या कर रहे हैं। वहाँ शारीरिक पूर्णता के समानान्तर चेतना के विकास की बात भी कही गई है और प्रारम्भ में स्वीकार किया गया है कि सहज बोध शरीर और मन को स्वीकार करके चलता है।

§३—शरीर के विकास में जीव के स्तर की रागात्मक संवेदना के मूल में जीवन और संरक्षण की सहजवृत्ति पाई जाती है। चेतना के मानसिक स्तर की सम्भावना के पूर्व ये सहजवृत्तियाँ शरीर से संवन्धित हैं और ये सहज प्रेरणा के अनुरूप अपना कार्य करती रहती हैं। इस स्थिति में जीवन शारीरिक प्रक्रिया में स्वयं ही अपनी रक्षा का भार वहन करता है, उसमें वाह्य प्रभावों को अपने अनुरूप ग्रहण करने की तथा उनके अनुसार कार्य करने की प्रवृत्ति होती है। यह जीवन की स्थिति निम्नश्रेणी के पशुओं में ही नहीं वरन मानव शरीर के विषय में समझी जा सकती है। मानव-शरीर स्वयं पूर्ण आन्तरिक एकता में स्थिर है और अपनी आन्तरिक वेदनाओं में क्रियाशील है। यह शरीर की आन्तरिक-वेदना की स्थिति मानवीय चेतना से संवन्धित अवश्य है पर उसका ही भाग नहीं कही जा सकती। शरीर की आन्तरिक वेदना किसी प्रकार की वाह्य-स्थितियों के प्रभाव का परिणाम नहीं है। कहा जाता है ये आन्तरिक वेदनाएँ जीवन की सहजवृत्ति के रूप में विना किसी वाह्य कारण के, इन्द्रिय-वेदन के आधार के न होने पर भी, भौतिक पीड़न और तोष की अनुभूति का स्रोत हैं। यहाँ दुःख-सुख शब्दों का प्रयोग इस कारण नहीं किया गया है कि इनमें मानसिक पक्ष अधिक है। वस्तुतः ये शब्द अङ्गरेजी प्लेज़र और पेन के पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। यहाँ एक वात पर विचार कर लेना आवश्यक है। अभी कहा गया है कि इस शारीरिक पीड़न और तोष की अनुभूति के साथ किसी वाह्य-प्रेरक की आवश्यकता नहीं है। परन्तु प्रश्न है कि क्या किसी प्रकार का वाह्य प्रकृति से इसका संवन्ध सम्भव नहीं है। वस्तुतः जीवन की किसी स्थिति में आन्तरिक-वेदना से संवन्धित पीड़न और तोष की प्रेरक वाह्य प्रकृति न भी हो। परन्तु इन्द्रिय वेदनाओं की प्रेरणा में मानव ने जव अपने जीवन में प्रकृति के कुछ उपकरणों का प्रयोग किया, तव से शारीरिक तोष और पीड़न से प्रकृति का संवन्ध एक

शारीरिक विकास

प्रकार से स्थापित हो गया। यद्यपि यह उस प्रकार का संवन्ध नहीं है जो संवेदना का प्रत्यक्ष बाह्य-प्रेरकों से होता है। ये वाह्य-प्रेरक प्रत्यक्ष संवेदनात्मक अभिव्यक्ति के साथ भावों को उत्पन्न करने का भी श्रेय रखते हैं। परन्तु जब वाह्य-प्रेरक के रूप में प्रयुक्त होने वाले प्रत्यक्षों का संयोग प्रकृति की वस्तु-स्थितियों से होता गया और मानस के विकास के साथ इन्होंने परप्रत्यक्ष तथा कल्पना का रूप ग्रहण कर लिया; तब इनका संवन्ध अन्तर्वेदनाओं से भी स्वतः ही हो गया और इस प्रकार अन्तर्वेदनाएँ भी मानसिक स्तर से अधिक संवन्धित हो सकी हैं। वर्तमान मानस-शास्त्री क्षुधा को मानसिक स्तर पर भाव मानते हैं जो इसी प्रकार की सहजवृत्ति पर आधारित है।[२] भूख प्यास के साथ अस्पष्ट भोज्य पदार्थ और पानी की तृष्णा तो होगी ही। आज भोज्य पदार्थ का भूख के साथ और पानी का प्यास के साथ संवन्ध अटूट सा है। यही नहीं विकास की एक स्थिति में नदी को देख कर प्यासा अपनी तृष्णा को अधिक स्पष्ट रूप से संवेदित करता होगा: और शिकार को देख कर क्षुधावृत्ति भी संवेदित हो उठती होगी। इसी प्रकार शयन की प्रवृत्ति के साथ आदि मानव के लिए रात्रि का संवन्ध तथा अपनी अंधेरी गुफा का रूप अधिक व्यक्त होता गया और उसकी श्रांति के साथ दुर्गम पथ तथा वृक्षों की शीतल छाया का संयोग भी किसी न किसी रूप में होता गया। मिथ-शास्त्र के अध्ययन करने वाले विद्वानों ने एक ऐसे समय की कल्पना की है जिसमें मानव अपनी इन अन्तर्वेदनाओं को प्रकृति के दृश्यात्मक संयोगों के रूप में ही समझता था। इस स्थिति में वह अपने को प्रकृति से पूर्ण रूप से अलग नहीं कर सका था।

४—पहले कहा गया है कि सुख-दुःख शब्द मानसिक संवेदना से अधिक संवन्धित हैं। शारीरिक तोष और पीड़न की अनुभूति

आन्तरिक संवेदनात्मक स्थिति कही जा सकती है। यह चेतना के सम और विषम शक्ति प्रवाह से संबन्धित सुख-दुःख के समान ही शारीरिक अनुरूपता के सम और विषम शक्ति प्रवाह का द्योतक है। कुछ मानस शास्त्रियों का मत रहा है कि हमारी इन्द्रिय-वेदनाओं में ही तोष-पीड़न की अनुभूतियाँ सन्निहित रहती हैं और ये विशेष प्रकार के स्नायु-तन्तुओं पर निभर हैं। परन्तु सर्वमान्य मत इसके विरुद्ध है। इसके अनुसार इन्द्रिय-वेदना के साथ ही तोष और पीड़न की अनुभूति तो मान्य है पर वह उसीकी शक्ति, गम्भीरता और समय आदि पर निर्भर है। इसका इस प्रकार सरलता से समझा जा सकता है। हम देखते हैं, जो इन्द्रिय-वेदना समय की एक सीमा और स्थिति में तोषप्रद विदित होती है, वही परिस्थितियों के बदलने पर पीड़क भी हो सकती है। इस प्रकार प्रत्येक भाव की अनुभूति में सुख-दुःख की संवेदना भी सन्निहित रहती है और सुख दुःख (तोष और पीड़न के रूप में) स्वयं में कोई भाव नहीं कहे जा सकते। अभी तक हम जिस तोष और पीड़न का उल्लेख कर रहे थे वह शारीरिक अन्तर्वेदनाओं से संबन्धित है अथवा इन्द्रिय-वेदनाओं से। इन्द्रिय-वेदन मानस की बहुत प्रारम्भिक स्थिति में ही विशुद्ध रहते हैं, नहीं तो वे प्रत्यक्ष-बोध का रूप ग्रहण कर लेते हैं। तोष और पीड़न की जो सुख-दुखात्मक अनुभूति इन्द्रिय-वेदनाओं से संबन्धित है, वह प्रत्यक्ष-बोध से भी संबन्ध उपस्थित कर लेती है और फिर यह एक स्थिति आगे परप्रत्यक्षीकरण द्वारा विचार और कल्पना से भी संबन्धित हो जाती है। यही संवेदना भावों के विकास में सौन्दर्यानुभूति के मूल में भी है। यद्यपि सौन्दर्यानुभूति में कितने ही भावों की प्रत्यक्ष-स्थितियों का प्रभाव और संयोग है, जिस पर बाद में विचार किया जायगा। कोमल-कठोर स्वर, सुगन्ध दुर्गन्ध, मधुर-कर्कश स्वर, मीठा-तीता स्वाद तथा प्रकाश और रंगों के विभिन्न छायातप आदि इन्द्रिय-वेदनाओं के साथ

सुख दुःख की संवेदना

सुख दुखात्मक संवेदना सन्निहित है। बाद में ये अनुभूतियाँ ही प्रत्यक्षों के आधार पर सौन्दर्यानुभूति के विकास में सहायक हुई हैं।

क—जिन शारीरिक अन्तर्वेदना और इन्द्रिय-वेदना की अनुभूति के बारे में कहा गया है, इन दोनों का सामूहिक रूप से संरक्षण की सहजवृत्ति से संबन्ध है। जिस प्रकार हम यहाँ

सहजवृत्ति के स्तर

प्रत्येक स्थिति को अलग-अलग करके उन पर विचार कर रहे हैं, वस्तुतः मानसिक जगत् में ऐसा होता नहीं। मानसिक व्यापार समवाय रूप से ही चलते हैं। परन्तु विवेचना करने का और कोई मार्ग भी नहीं है। इस कारण इस सत्य को सदा ध्यान में रखना चाहिए। यहाँ इन अनुभूतियों का वाह्य प्रकृति की वस्तु-स्थितियों से क्या संबन्ध हो सकता है इस पर विचार किया गया है। निम्नश्रेणी के मानसिक स्तर वाले पशु और पक्षियों में ये दोनों स्थितियाँ पाई जाती हैं और उनके जीवन के लिए इनका संयोग भी महत्त्वपूर्ण है। इनमें चिकीर्षा की निश्चयात्मक शक्ति नहीं होती, जिससे किसी उद्देश्य की ओर क्रिया की प्रेरणा हो। वे केवल सहजवृत्तियों से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में शारीरिक अन्तर्वेदना से प्रेरित होकर वे भोजन आदि खोजने में प्रवृत्त होते हैं और उनकी भोजन आदि की खोज में इन्द्रिय-वेदन की अनुभूति सहायक होती है। उनकी यौन संबन्धी प्रवृत्ति का भी संबन्ध इसी प्रकार इन्द्रिय-वेदन से समझा जा सकता है। इस तथ्य का प्रतिपादन पशु-पक्षियों के विशिष्ट रंग-रूपों के प्रति आकर्षण से होता है। जानवरों में उन रंग-रूपों का विशेष आकर्षण पाया जाता है जो उन फूल-फल आदि वनस्पतियों अथवा पशुओं से संबन्धित हैं जिन पर वे जीवित रहते हैं।[3] इस प्रकार की संबन्ध-परम्परा मानव स्तर के मानस में भी पाई जाती है, क्योंकि मानवीय

[illegible]
[illegible]

मानस के विकास में कितने ही रूपों की प्रतिक्रिया चलती आ रही है। फिर भी मूलतः मानवीय मानस में भी वस्तुओं के आकार-प्रकार, रूप-रंग तथा स्वाद आदि के साथ सुख दुःख की संवेदना का संवन्ध उसकी भोजन आदि की सहजवृत्तियों के आधार पर हुआ है, ऐसा स्वीकार किया जा सकता है।

प्राथमिक भावों की स्थिति

६५—ऊपर जिन वेदनाओं की सुख-दुःखात्मक संवेदना में प्रकृति-रूपों के संवन्धों की व्याख्या की गई है: वे भावों की पूर्णता में अपना स्थान रखती हैं। परन्तु मानसिक विकास के साथ भावों की निश्चित रूप-रेखा सहजवृत्तियों के आधार पर ही बन सकी है। जीवन के साधारण अनुभव में हम देखते हैं कि पशु-पक्षियों का जीवन इन सहजवृत्तियों के आधार पर सरलता से चल रहा है। और अपने जीवन की पूर्ण प्रक्रिया में वह मानव जीवन के समानान्तर भी है। देखा जाता है ज़रा से खटके से चिड़िया उड़ जाती है। उनको आपस में लड़ते भी देखा जा सकता है। पशु-पक्षियों में अपने बच्चों के प्रति रक्षात्मक ममता की सहजवृत्ति भी होती है। बहुत से पशुओं में संहचरण के साथ ही सहायता देने की सहजवृत्ति भी देखी जाती है। शिकार और भोजन की खोज तो सभी करते हैं। अपने नीड़ के निर्माण में अनेक पक्षी कलात्मक सहजवृत्ति का भी परिचय देते हैं। इस प्रकार प्रकृति-जगत् में पशु-पक्षी सहजवृत्तियों के स्वाभाविक आधार पर अपना अस्तित्व स्वतः रक्षित रखते हैं। परन्तु मानव का मानस इन सहजवृत्तियों के आधार पर भावों की विकसित स्थिति को प्राप्त करता है और जैसा पिछले प्रकरण में कहा गया है उसमें बोध का अंश भी समन्वित होता है। पहले संकेत किया गया है मनस्-चेतना में भावों के साथ सुख-दुःख की संवेदना भी सम्मिलित है, जिसमें

सहजवृत्ति का आधार

इच्छा-शक्ति की प्रेरणा मिलती है। यह इच्छा मानसिक चेतना
एक भाग कहा गया है। आगे इस बात पर विचार किया जाय
कि प्रमुख भावों के विकास में प्रकृति का क्या योग रहा है और
प्रकार मानवीय भावों में प्रकृति का रूप निश्चित किया जा सकेग
यथा सम्भव भावों के इस विकास को क्रमिक रूप से उपस्थित क
का प्रयास किया जायगा। हम अपनी विवेचना में देखेंगे कि
भावों से प्रकृति का सीधा योग है और कुछ से अन्य प्रकार से।[४]

६—विकास के आदि-युग में हम मानव की प्रारम्भिक अव
में प्रकृति के साथ नितान्त अकेला और जीवन-संग्राम में संलग्न
है। जीवन-यापन की प्राथमिक आवश्यकता
भय साथ भोजन की खोज तो उसकी सहजवृत्ति नि
स्तर के जीवों के समान ही होगी। इसके साथ प्रत्यक्ष-
और भावात्मक संवेदना का समन्वय किस प्रकार हुआ है
पहले ही कहा जा चुका है। साथ ही उसे चारों ओर से घेरे
प्रकृति का बोध होना आरम्भ हुआ। जीवन संरक्षण के
पलायन की प्रवृत्ति ने बाह्य-जगत् के प्रत्यक्ष बोध के साथ उसमें
की भावना उत्पन्न की। यह भय का भाव केवल संरक्षण की
वृत्ति को लेकर हो, ऐसा नहीं है। अपने सामने जगत् के प्रत्यक्ष-
को बिखरा पाकर, उसके आकार-प्रकार, रंग-रूपों तथा नाद-ध्व
को समन्वित और स्पष्ट रूप-रेखाओं में वह नहीं समझ सका।
बाह्य प्रकृति के प्रति उसको एक अज्ञात भय का भाव घेरे र
था। प्रकृति का अस्पष्ट बोध ही मानव के भय का कारण था, य
जीवन संरक्षण के साथ यह भाव संबन्धित रहा है और उससे प्रे
[illegible] करता रहा है। अस्पष्ट-बोध के इस-स्पष्ट युग में भय

मानव अपनी रक्षा के लिए अन्य जीवों से अधिक आकुल विदित होता है। इस बात का साक्ष्य उसके परप्रत्यक्षों से ही मिलता है। मिथ-युग के अध्ययन से भी यह सिद्ध हो जाता है कि प्रारम्भ में भय का कारण बाह्य प्रकृति का अस्पष्ट प्रभाव था। यह कहना भ्रामक है कि ज्ञान से भय उत्पन्न होता है, अपनी प्राथमिक स्थिति में वह अज्ञान से ही संबंधित है।

§७—इसके अनन्तर जीवन यापन और संरक्षण की दूसरी शृंखला आती है, जिसमें संघर्ष या युद्ध की सहजवृत्ति अन्तर्निहित है। पशु भी भोजन अथवा यौन आदि के संबन्ध में संघर्ष करते देखे जाते हैं तथा संरक्षण के लिए युद्ध करने को प्रस्तुत रहते हैं। इसी सहजवृति के साथ क्रोध का भाव संबन्धित है। मानव में भी क्रोध-भाव का विकास इसी सहजवृत्ति के आधार पर माना जाता है। युद्ध की प्रवृत्ति आक्रमण के रूप में प्रस्तुत होने पर क्रोध के भाव में प्रकट होती है और यह भाव मानवीय मानस के धरातल पर भय तथा कठिनाइयों को अतिक्रमण करने के साथ भी संबन्धित किया जा सकता है। इस प्रकार इस भाव का संबन्ध बाह्य-प्रकृति के रूपों से सम्भव है। क्योंकि बाह्य वस्तुओं और स्थितियों से उत्पन्न भय की भावना तथा कठिनाइयों के बोध का प्रतिक्रियात्मक भाव क्रोध कहा जा सकता है। इसी से आक्रमण की प्रेरणा भी मिलती है।

क्रोध

§८—भावों के विकास की इस सीमा तक व्यक्ति और समाज की मानसिक स्थिति की कल्पना स्पष्ट रेखाओं में नहीं की जा सकती। इस सीमा पर 'अहं' की मान्यता में आत्म-भाव का विकास भी नहीं माना जा सकता। वस्तुतः समाज की सहजवृत्ति को आत्मवृत्ति से पूर्व का मानना चाहिए; या कम से कम इन्हें समान रूप से विकसित माना जा सकता है। परन्तु मानव-शास्त्र के साथ प्रयोगात्मक मानस-शास्त्र के आधार पर

सामाजिक भाव

विचार करने पर ये दोनों स्थितियाँ तो इस क्रम में विदित होती हैं, पर दोनों भाव इस क्रम से विकसित नहीं माने जा सकते। सामाजिक भाव के विकास में सहचरण तथा संग्रहेच्छा आदि अनेक स वृत्तियों की प्रेरणा रही है। परन्तु सामाजिक भाव में अपत्य-प्रमुख है, इसमें माता पिता की अपने संतान के संरक्षण की भा बद्धमूल है और इसके साथ ही कोमलता के भाव का विकास जा सकता है, जिसको हम कृपा या दया आदि के मूल में मानते इस प्रकार हम देखते हैं कि इन भावों का संबन्ध प्रकृति के प्रभावा रूप से नहीं है। एकाकीपन और असहायावस्था के भावों में प्र का किसी प्रकार का सीधा संबन्ध नहीं माना जा सकता। व्यापक रूप से प्रकृति एकाकीपन और असहायतावस्था, को वातावरण तथा परिस्थिति का रूप अवश्य प्रदान करती है। प्रकार विकास के उन्नत-क्रम पर सहानुभूति तथा कोमलता भाव प्रकृति की अनुभूति के साथ मिल जुल गए हैं। और आज उ अलग करके नहीं देखा जा सकता। इन समस्त भावों का वि सहानुभूति के रूप में व्यापक प्रकृति में अपने सजातीय को और साथ रहने की प्रवृत्ति के आधार पर हुआ है। मानसिक वि में मानव प्रकृति को भी एक स्थिति में सामाजिक भावों के सबन्ध देखता है। परन्तु यह बाद की स्थिति है और हम देखेंगे कि व में इस प्रकृति रूप का महत्त्व पूर्ण स्थान रहा है।[५]

६—मानसिक चेतना में इन भावों के साथ बोधात्मक वि भी चल रहा था। बोधात्मक प्रयत्नों के अधिक स्पष्ट होने

आश्चर्य तथा अद्‌भुत भावों का विकास हो सका। इस स्थिति में प्रत्यक्ष-बोधों का विकास एक सीमा तक स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि भय से अलग, स्पष्ट आकार-प्रकार के बोध द्वारा ही यह भाव उत्पन्न माना जाता है। पहले प्रकृति के आकार-प्रकार, रंग-रूप आदि की व्यापक सीमाएँ एक प्रकार का अस्पष्ट संदिग्ध बोध कराती थीं। यह मानव की चेतना पर बोझा था। धीरे धीरे प्रकृति का रूप प्रत्यक्ष रूप-रेखाओं में तथा स्पष्ट कल्पना-रूपों में संबद्ध होकर आने लगा। पहले जो प्रकृति मानव को भय से आकुल करती थी, अब वह आश्चर्य से स्तब्ध करने लगी। इस प्रकार इस भाव का संबन्ध प्रकृति के सीधे रूप से ही है और ज्ञान की प्रेरक-शक्ति भी यह भाव है। परन्तु इस भाव में जो एक प्रकार का स्तब्ध आह्लाद है वह सुख-संवेदना की तीव्रता पर निर्भर नहीं है। यह सुख-दुःख की सम-स्थिति पर अधिक आधारित है। इस सम-स्थिति से उसकी भावात्मकता में कोई भेद नहीं पड़ता। इस प्रकार के शांत-भाव को पाश्चात्य प्राचीन तथा आधुनिक विद्वानों ने स्वीकार किया है। भारतीय तत्त्व-वादियों तथा साहित्याचार्यों ने भी शांत को रस के अन्तर्गत मानकर भाव स्वीकार किया है। आगे प्रकृति के आलंबन तथा उद्दीपन रूपों की व्याख्या करते समय इस विषय पर अधिक प्रकाश पड़ सकेगा। परन्तु इस विषय में यह समझ लेना चाहिए कि विकास में चेतना की यह भाव-स्थिति अन्य मानसिक रूपों से मिलती रही है।

आश्चर्य तथा अद्‌भुत-भाव

§१०—प्रारम्भिक युग में 'अहं' की आत्म-भावना को इस प्रकार नहीं विचारा जा सकता जैसा हम आज समझते हैं। परन्तु उसी स्थिति में, जीवन संरक्षण और यापन की प्रेरणा में अपने 'अहं' की भावना रक्षित थी। मानस के विकास में अद्‌भुत-भाव की प्रेरणा से ज्ञान का ज्यों ज्यों प्रसार होता गया, उसी प्रकार 'अहं' की भावना भी स्पष्ट

आत्म-भाव या अहं-भाव

और विकसित होती गई। जब मानव ने भय से कुछ त्राण पाया और क्रोध की प्रेरणा से कठिनाइयों तथा शत्रुओं पर विजय प्राप्त की, उस समय उसका आत्म-भाव अधिक स्पष्ट हो चुका था। वह आत्म-चेतन के साथ अहंकारवान् प्राणी हो गया था। यह आत्म की भावना 'अहं' के रूप में शक्ति-प्रदर्शन और उसी के प्रतिकूल आत्महीनता के रूप में प्रकट होती है। सामाजिक विकास के साथ इस भाव में अधिक विषमता और विभिन्नता बढ़ती गई। परन्तु इसके पूर्व ही प्रकृति-जगत् से भी इसका संबन्ध खोजा जा सकता है। प्रकृति के जिन रूपों को मानव विजित करता था उनके प्रति वह अपने में महत्त्व का बोध करता था और प्रकृति के जिन रूपों के सामने वह अपने को पराजित तथा असहाय पाता था, उनके प्रति अपने में आत्महीनता की भावना पाता था। मिथ-युग के देवताओं के रूप में हमको इस बात का प्रमाण मिलता है। क्योंकि इस युग में मानव बहुत कुछ देवताओं से भयभीत होकर ही उनसे अपने को हीन मानता था। आत्म-भावना ने अपने विकास के लिए क्षेत्र सामाजिक प्रवृत्तियों को ही स्वीकार किया है। परन्तु सहानुभूति के प्रसार में मानव प्रकृति को आत्म-भाव से युक्त पाता है या अपने अहं के माध्यम से प्रकृति को देखता है। इस मानसिक स्थिति तक पहुँचने में भाव विषम-स्थिति में ही रहते हैं। काव्य में प्रकृति-रूपों की विवेचना के अन्तर्गत प्रकृति संबन्धी इस प्रकार के आरोप आते हैं।

रति-भाव

§११—यौन विषयक रति-भाव की आधार-भूमि पशुओं की इसी प्रकार की सहजवृत्ति है जो जाति की उन्नति के लिए आवश्यक है। यह सहजवृत्ति अपने मूल रूप में एक विशेष शारीरिक अवस्था में उत्पन्न होती है और उस समय जीव के साधारण मानसिक स्तर पर किसी व्यक्ति-विशेष की अपेक्षा नहीं करती है। इसके लिए प्रतिकूल यौन संबन्धी आकर्षण ही यथेष्ट है। इस भाव में प्रकृति के रूप-रंग आकार-प्रकार आदि

का महत्त्वपूर्ण स्थान है, इस विषय में संकेत किया जा चुका है। पशु-पक्षियों और कीड़ा-मकोड़ों के जगत् में इस सहज-वृत्ति के संबन्ध में इनका प्रभाव है ही साथ ही वनस्पति-जगत् भी इन रंग-रूपों से अपनी उत्पादन क्रिया में सहायता लेता है। मानवीय मानस के धरातल पर इस भाव के साथ क्रमशः विकास में अन्य भावों का संयोग होता गया है। आज रति-भाव का जो रूप हमारे सामने है उसमें प्रकृति के प्रत्यक्ष-बोध की अनुभूति के आधार पर विकसित सौन्दर्य्यानुभूति और सामाजिक सहानुभूति का ऐसा सम्मिश्रण हुआ है कि उसको अलग रूप से समझना असम्भव है। काव्य में शृंगार के उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति के जो व्यापक रूपों का उल्लेख किया जाता है उससे भी यही सिद्ध होता है।[६]

§१२—पहले मानस-शास्त्री कलात्मक-भाव (निर्माण) को अलग प्राथमिक भाव स्वीकार नहीं करते हैं। परन्तु आधुनिक मत से इस प्रकार की सहजवृत्ति पक्षिओं और कीड़ों में भी पाई जाती है। इसी सहजवृत्ति का मानव में भावात्मक विकास हुआ है। अन्य जीव प्रकृति के उपकरणों के अतिरिक्त अपने लिए कुछ निर्माण कार्य करते हैं। इसी प्रकार मानव की कलात्मक भावना ने अपनी अन्य मानसिक शक्तियों से निर्माण-कार्य को अधिकाधिक विकसित किया है। इसकी प्रथम प्रेरणा जीवन की संरक्षण आदि वृत्तियों में हो सकती है, परन्तु इसके आधार में प्रकृति के अनुकरण का रूप भी सन्निहित रहा है। वाद में क्रीड़ात्मक प्रवृत्ति के साथ सौन्दर्य्यानुभूति के संयोग से मानव ने अपनी निर्माण-वृत्ति को कलात्मक भाव में प्राप्त किया है। मानव का यह प्रकृति का

कलात्मक भाव

६—प्रकृति के आलंबन और उद्दीपन विभाव संबन्धी रूपों की विवेचना इस भाग के पंचम प्रकरण में की गई है। साथ ही द्वितीय भाग में अनेक स्थलों पर इनका उल्लेख किया गया है।

क्रीड़ात्मक अनुकरण मानसिक धरातल पर उसकी अनेक विकसित कलाओं में देखा जा सकता है।[७]

हास्य-भाव

§१३—अपनी विषम स्थिति के कारण हास्य-भाव का स्थान भावों के विकास-क्रम में निश्चित नहीं किया जा सकता। परन्तु यह स्वच्छंद क्रीड़ा का एक रूप माना जा सकता है। हम जिस रूप में हास्य को लेते हैं, उससे वह मूल रूप में बिलकुल भिन्न है। बाद में इसमें बहुत कुछ कल्पना तथा विचार आदि का योग हो गया और अब यह भाव अध्यन्तरित स्थिति में अधिक है। परन्तु प्रारम्भिक युग में यह क्रीड़ात्मक भावना (हास्य) संचित शक्ति के प्रवाह और उसके निश्चित प्रयोग से संबन्धित सुख-संवेदना समझी जा सकती है। इस संवेदनात्मक प्रवृत्ति के आधार पर नृत्य, गान आदि का विकास माना जाता है, जो इस भावना के वाह्य अनुभावों के रूप में भी समझे जा सकते हैं। इस प्रकार इस भावना के साथ भी प्रकृति का अनुकरणात्मक संबन्ध है। संचलन, गति, प्रवाह और नाद आदि की सुखानुभूति ने मानव को प्रकृति के अनुकरण के लिए प्रेरित किया होगा। और शक्ति का संचय तथा प्रवाह ही तो हास्य-भाव का मूल है।

भावों की माध्यमिक तथा अध्यन्तरित स्थितियाँ

विषम स्थिति

§१४—जिन भावों का उल्लेख ऊपर किया गया है, वे जिस रूप में आज पाए जाते हैं, वह रूप अत्यधिक विषम है। परन्तु इन भावों के प्राथमिक रूप की कल्पना तथा परीक्षा की जा सकती है। पिछली विवेचना में स्थान स्थान पर विभिन्न भावों के सम्मिश्रण की तथा अन्य मानसिक स्थितियों के

७—लेखक के 'नाटक की उत्पत्ति' नामक लेख में नृत्य तथा संगीत आदि के विकास का उल्लेख किया गया है। (पारिजात फरवरी १९४६)

प्रभाव की बात कही गई है। एक भाव दूसरे भाव के साथ मिल जाता है तथा प्रभावित भी करता है। भय और क्रोध जैसे प्राथमिक भावों को भी हम उनके प्रारम्भिक रूप में नहीं पाते। अन्य भावों तथा अनेक परिस्थितियों के कारण इनमें भी अनेक रूपता तथा विषमता आ गई है। त्रास और उन्माद आदि भाव इसी प्रकार के हैं। सामाजिक तथा अहं संबन्धी भाव तो बहुत पहले से ही माध्यमिक स्थिति में आ चुके हैं। एक ओर कारण और स्थितियों में भेद होता गया, और दूसरी ओर भावों का सम्मिश्रण होता गया है। ऐसी स्थिति में भावों में विषमता और वैचित्र्य बढ़ता गया है। इस प्रकार सामाजिक सहानुभूति से प्रभावित होकर अहंकार की शक्ति प्रदर्शन संबन्धी महत्त्व की भावना अभिमान का रूप धारण करती है; और इसके प्रतिकूल हीनता की भावना दीनता हो जाती है। सामाजिक सहानुभूति जब अहंभाव से प्रभावित होती है उस समय प्रशंसा और कृतज्ञता के भाव विकसित होते हैं। साधारणतः इन माध्यमिक भावों का संबन्ध प्रकृति से नहीं है। परन्तु भावों के उच्च-स्तर पर आचरणात्मक सत्यों से संबन्धित भाव, सौन्दर्य्य भाव से प्रभावित होते हैं। इस प्रकार प्रकृति की सौन्दर्य्य-भावना में आचरणात्मक भावों का आरोप किया जाता है। परन्तु यह प्रकृति और भावों का सीधा संबन्ध नहीं हुआ। अन्य प्रकार से माध्यमिक भावों से प्रकृति का सीधा संबन्ध सम्भव है। प्रारम्भ में प्रकृति की अज्ञात-शक्तियों के प्रति जो भय की भावना थी, वही भाव सामाजिक सहानुभूति से मिलकर श्रद्धा के रूप में व्यक्त होता है और इसी में जब आत्महीनता का भाव संबन्धित हुआ, तो वह आदर का भाव हो गया। परन्तु यहाँ भावात्मक विकास के क्रम में प्रकृति भावों के प्रेरक कारण के समान नहीं समझी जा सकती।

§१५—धार्मिक भावों के विकास में प्रकृति का संबन्ध प्रारम्भ से रहा है। इस समय धार्मिक भाव से हमारा अर्थ उस स्वाभाविक भाव-

स्थिति से है जिससे धर्म संबन्धी माध्यमिक भावों का विकास हुआ है।

धार्मिक भाव

धर्म संबन्धी माध्यमिक भाव का विकास प्रकृति शक्तियों को देवता मानने वाले धर्मों के इतिहास में तथा उनकी मिथ संबन्धी रूप-रेखा में स्पष्टतः मिलता है।[६] साधारणतः प्रकृति-देवताओं का अस्तित्व भय के आधार पर माना जाता है, इसका संकेत पीछे किया गया है। आश्चर्य्य-भाव के साथ प्रकृति के देवताओं को प्रकृति के विभिन्न रूपों में प्रसरित देखा गया, क्योंकि इस युग में प्रत्यक्ष-बोध अधिक स्पष्ट होकर परप्रत्यक्ष और कल्पना में साकार हो रहे थे। अनन्तर प्रकृति की उपादेयता का अनुभव हो चुकने के बाद इन देवताओं के साथ प्रकृति और मानव के सम्पर्क का भाव भी संबन्धित हो गया। अब प्रकृति की शक्तियों का वर्णन देवताओं के रूप में तो होता ही था, साथ ही उनमें उपादेयता का भाव भी सन्निहित हो गया। विकास के मार्ग में,[७] जैसे जैसे सामाजिक तथा आत्म संबन्धी भावों का संयोग होता गया, वैसे ही इन भावों की स्थापना प्रकृति के देवताओं के संबन्ध में भी हुई। विचार के क्षेत्र में धर्म, दर्शन और तत्त्ववाद की ओर अग्रसर हुआ है, परन्तु भावना के क्षेत्र में धर्म ने देवताओं को मानवीय आकार और भाव प्रदान किए हैं। वैदिक देवताओं का रूप अग्नि, इन्द्र, उपा, वरुण तथा सूर्य्य आदि प्रकृति शक्तियों में समझा जाता था। परन्तु मध्ययुग के देवता मानव आकार, भाव और स्वभाव के प्रतीक माने गए। इन देवताओं में भी एक प्रकार से प्रकृति का आधार रहा है। एक ओर इनकी शक्तियों का प्रसार प्रकृति की व्यापक शक्तियों के समानान्तर रहा है; दूसरे उनके स्थान और रूप के साथ भी प्रकृति संबन्धित रही है।[८] इसका कारण मध्ययुग की धार्मिक प्रवृत्ति का प्रकृति के प्रति सहज जागरूक होना तो है ही; साथ ही इसमें कलात्मक और दार्शनिक प्रकृतिवाद के समन्वय का रूप भी सन्निहित है। वैदिक कर्मकांड को प्रकृति के अनुकरण का रूपात्मक स्वरूप माना गया है; परन्तु मध्-

युग का कर्मकांड सामाजिक है जिसमें पूजा की समस्त विधि आ जाती है।[८]

§१६—जिस प्रकार धार्मिक भाव न तो एक भाव है और न एक रूप में सदा पाया जाता है: उसी प्रकार सौन्दर्य भाव भी एक नहीं है और उसका विकास भी मानवीय मानस के साथ होता रहा है। यद्यपि इसमें विभिन्न भावों का समन्वय होता गया है फिर भी सौन्दर्य भाव के विकास की प्रत्येक स्थिति प्रकृति से संबन्धित है। मानव को प्रकृति के प्रत्यक्ष-बोधों में सुख-दुःख की संवेदना प्राप्त हुई। उसने प्रकृति का क्रीड़ात्मक अनुकरण किया। वह अपने कलात्मक निर्माण में प्रकृति से बहुत कुछ सीखता है। उसके यौन संबन्धी रागात्मक भाव के लिए भी प्रकृति के रंग-रूप आदि प्रेरक रहे हैं, उनका उसके लिए विशेष आकर्षण इस भाव से संबन्धित रहा है और इन सब भावों का योग सौन्दर्य भाव के विकास में हुआ है। इनके अतिरिक्त अन्य सामाजिक तथा आत्म संबन्धी भावों का योग भी इसमें है। यह विकास केवल प्रत्यक्षों के आधार पर ही सम्भव नहीं हुआ है। इसमें कल्पना के आधार की पूर्ण स्वीकृति है। अगले प्रकरण में इस विषय की विवेचना विस्तार से की जायगी। यहाँ तो इतना समझ लेना ही पर्याप्त है कि सौन्दर्य भाव की स्थिति अत्यधिक विषम है। प्रकृति के सौन्दर्य-भाव में जो सहानुभूति तथा महत् आदि की भावना है वह सामाजिक और आत्म भाव से संबन्धित अनुभूतियों का प्रभाव है।

सौन्दर्य भाव

§१७—अध्यन्तरित भावों के लिए समाज की एक निश्चित स्थिति आवश्यक है, साथ ही मानसिक विकास का भी उच्च-स्तर वांछनीय है। इन भावों के लिए क्रिया और कार्य की उद्देश्यात्मक गति स्वी-

---

८—इस विषय को द्वितीय भाग के 'आध्यात्मिक साधना में प्रकृति' नामक तृतीय प्रकरण में कुछ अधिक विस्तार दिया गया है।

कृत है। विशेष स्थिति में उद्देश्य को लक्ष्य करके भविष्योन्मुखी भावों की प्रेरणा जाग्रत होती है। कदाचित् इसीलिए इन भावों में अधिकांश काव्य में संचारी या व्यभिचारी भावों के रूप में स्वीकृत है। आशा, विश्वास, चिन्ता, निराशा आदि इसी प्रकार के भाव हैं। अथवा इनके विपरीत अतीत के विषय में उद्देश्य के प्रति भावों की स्थिति जाग्रत होती है। इन भावों में पश्चात्ताप अनुताप आदि हैं। इस मानसिक चेतना के स्तर पर प्रकृति का कुछ भी सीधा संबन्ध नहीं है। परन्तु अन्य भावों के साथ प्रकृति वातावरण तथा परिस्थिति के रूप में इन अध्यन्तरित भावों से भी संबन्ध उपस्थित कर सकती है। प्रकृति का सम्पर्क किसी की स्मृति जगा कर चिन्ता भी उत्पन्न कर सकती है। परन्तु यहाँ प्रकृति का सबन्ध चिन्ता से उतना नहीं है जितना स्मृति से संबन्धित शृङ्गार आदि भाव से। काव्य में इसी कारण प्रकृति ऐसे स्थलों पर प्रमुख भाव की उद्दीपक मानी जाती है, संचारी भावों की नहीं। एक दूसरी स्थिति भी है जिसमें यह संबन्ध सम्भव हो सकता है। इन भावों की मनःस्थिति में हमारे मन में प्रकृति के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है। यह संबन्ध कारण के रूप में नहीं वरन् प्रभाव के रूप में अपना महत्त्व-पूर्ण स्थान रखता है। विशेषतः काव्य के प्रकृति रूपों में यह प्रभावशील सहानुभूति अधिक महत्त्व रखती है।

अध्यन्तरित भाव

×　　　　×　　　　×

§१८—मानवीय भावों का विषय बड़ा ही दुर्बोध तथा कठिन है। इसका कारण मानसिक वैचित्र्य और वैषम्य है, जो ऊपर की विवेचना मे स्पष्ट है। विभिन्न भाव एक दूसरे से प्रभावित और सम्मिश्रित होते गए हैं। साथ ही मानसिक विकास में इन भावों में कल्पना तथा विचार आदि की प्रतिक्रिया भी चलती रही है। ऐसी स्थिति में इन भावों की विश्लेषणात्मक विवेचना करने में अनेक कठिनाइयाँ और जटिलताओं का सामना करना पड़ता है।

विवेचना की कठिनाई

फिर भी विवेचना में इस बात का यथा सम्भव प्रयास किया गया है कि समस्त भावों की विकासोन्मुखी विषमता में प्रकृति का कारणात्मक संबन्ध कहाँ तक रहा है। इसके अतिरिक्त प्रकृति का इनसे किस सीमा तक संयोगात्मक संबन्ध है। यह संबन्ध कभी भावों के साथ सीधा ही उपस्थित होता है और कभी भाव के विषय के साथ वातावरण तथा परिस्थिति के संबन्धों में उपस्थित होता है। हमारे विवेचन से स्पष्ट है जहाँ तक भावों की स्थितियों से संबन्ध है, विकास के उच्च स्तर पर प्रकृति भावों के कारण-रूप में अधिक स्पष्टतः प्रभावशील नहीं है। परन्तु अन्य रूपों में प्रकृति का संयोग अभिव्यक्त होता है। समष्टि रूप से सौन्दर्य्य भाव को स्वीकार कर लेने पर वह उसके लिए प्रभावात्मक अभिव्यक्ति का कार्य करती है और अगले प्रकरण में हम देखेंगे कि प्रकृति संबन्धी समस्त भावात्मकता की अभिव्यक्ति का मूल भी इसी सौन्दर्य्यानुभूति में है।

चतुर्थ प्रकरण

सौन्दर्यानुभूति और प्रकृति

§१—सौन्दर्य को समझने में हमको कोई कठिनाई नहीं होती। हम कहते हैं सुन्दर वस्तु, सुन्दर चरित्र, सुन्दर सिद्धान्त और समझ भी जाते हैं। एक रूप की दृष्टि से सुन्दर है, दूसरे में शिव के अर्थ की व्यंजना है और तीसरे में सत्य को ही सुन्दर कहा गया है। इस प्रकार यहाँ 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग व्यापक है, जो कलात्मक सौन्दर्य के रूप में ही प्रयुक्त है पर जन समाज की भाषा में अलग अलग संकेत देता है। जितनी सरलता से हम यह सब समझ लेते हैं, वस्तुतः सौन्दर्य की विवेचना उतनी सरल नहीं है। पिछले प्रकरण में सौन्दर्य भाव की विषमता के बारे में संकेत किया गया है। इस भाव के विकास में प्रत्यक्ष, कल्पना तथा भावों की प्रतिक्रिया की एक विषम मानसिक स्थिति सन्निहित है। इसी कारण प्राच्य तथा पाश्चात्य विभिन्न

सौन्दर्य का प्रश्न

शास्त्रियों ने सौन्दर्यानुभूति के विषय को अपनी अपनी दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। काव्य और कला के क्षेत्र में सौन्दर्य की विवेचना करते समय इन्होंने कभी इसको अनुभूति, कभी अभिव्यक्ति और कभी प्रभावशीलता माना है। किसी किसी विद्वान ने तो सौन्दर्य को वस्तु के गुणों के रूप में मान कर विवेचना करने का प्रयास किया है। काव्य और कला में सौन्दर्य-सर्जन अनुभूति और अभिव्यक्ति के सामञ्जस्य में उपकरणों के आत्म-तादात्म्य द्वारा होता है। इसकी विवेचना अगले प्रकरण में की जायगी। प्रस्तुत विषय प्रकृति के सौन्दर्य-विस्तार पर विचार करना है। वस्तुतः सौन्दर्य संबन्धी विवेचनाओं में इस विषय को अनेक प्रकार से उपस्थित किया गया है। एक सीमा तक प्रकृति के सौन्दर्य संबन्धी विचार से इनके सौन्दर्यानुभूति विषयक सिद्धान्त प्रभावित हैं। इस कारण प्रकृति-सौन्दर्य की रूप-रेखा प्रस्तुत करने के पूर्व, विभिन्न सौन्दर्यानुभूति के सिद्धान्तों में अन्तर्भूत प्रकृति-सौन्दर्य का विचार कर लेना आवश्यक है। हम देखते हैं कि प्रकृति के सौन्दर्य की पूरी रूप-रेखा उपस्थित करने में विभिन्न मतों के समन्वय अन्तिम निर्णय तक पहुँचा जा सकेगा। इन विभिन्न मतों में प्रस्तुत विषय को जिस एकांगी ढङ्ग से देखा गया है, वह मानसिक स्थिति को एक विशेष सीमा में घेर कर देखने का प्रयास मात्र है। आगे इन पर विस्तार से विचार करने से विदित होता है कि सौन्दर्य की रूप-रेखा में ये सभी कुछ न कुछ सत्य का ही योग प्रदान करते हैं। इन सिद्धान्तों की अपूर्णता का कारण विचारकों का अपना सीमित क्षेत्र और संकुचित दृष्टिकोण है। मानस के विकास अथवा विषम विस्तार में जिस प्रकृति-सौन्दर्य पर हम यहाँ विचार कर रहे हैं, वह कितनी ही प्रवृत्तियों तथा स्थितियों का समवाय है। इस कारण सत्य तक पहुँचने के लिए हमको मानव-शास्त्र, मानस-शास्त्र तथा शरीर-विज्ञान का सहारा लेना है। यहाँ एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है। भारतीय विद्वानों ने सौन्दर्य-

शास्त्र के रूप में सौन्दर्य की विवेचना नहीं की है। उन्होंने अलंकार, रस आदि काव्य-संबंधी विवेचनाओं तथा कला संबन्धी उल्लेखों में सौन्दर्य का निरूपण अवश्य किया है। इस कारण उनके इन्हीं मतों का उपयोग हम अपनी विवेचना में कर सकेंगे।

§२—पिछले प्रकरणों में मानव और प्रकृति के संबन्ध की जो क्रमिक रेखा उपस्थित की गई है, वह एक प्रकार से प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति के लिए आधार भी प्रस्तुत करती है। प्रथम प्रकरण में विचार किया गया है कि सहज बोध की दृष्टि से प्रकृति और मन को मानकर ही चला जा सकता है: नहीं तो साधारण जीवन और दर्शन के व्यावहारिक क्षेत्र में बहुत कुछ सीमित एकांगीपन आने का भय है। यही दृष्टि प्रकृति को मानस की प्रतिक्रिया के माध्यम से रूपात्मक और भावात्मक भी स्वीकार कर लेती है और प्रस्तुत प्रकरण की विवेचना में हम आगे चलकर देखेंगे कि प्रकृति-सौन्दर्य में भी रूप और भाव दो पक्षों को स्वीकार करना पड़ता है। दूसरे प्रकरण में देखा गया है कि मानवीय मानस के विकास में उसकी चेतना के समानान्तर प्रवाहित प्रकृति ने योग प्रदान किया है। प्रकृति की चेतना के प्रश्न में मानव की अपनी दृष्टि ही प्रधान है, क्योंकि स्व (आत्म) चेतना उसी में है। प्रकृति के सौन्दर्य के प्रश्न में भी इस चेतना के साथ ही मानव की प्रधानता का भी महत्त्व है। प्रकृति सौन्दर्य की अनुभूति के साथ मानव की मानसिक चेतना स्वीकृति है। पिछले प्रकरण में मानवीय भावों के विकास के साथ प्रकृति का संबन्ध समझने का प्रयास किया गया है। हम देख चुके हैं कि भावों के विभिन्न स्तरों से प्रकृति का सीधा तथा अध्यान्तरित दोनों प्रकार का संबन्ध है। सौन्दर्य-भाव के विषम रूप में प्रकृति का संबन्ध भी अधिक जटिल है। इस कारण प्रकृति के सौन्दर्य में भी यही जटिलता विद्यमान है। इस आधार-भूमि के साथ ही पीछे जिन विभिन्न तत्त्ववादी तथा

रूप और भाव पक्ष

मानस-शास्त्रीय मतवादों को प्रस्तुत किया है, वस्तुतः इनका प्र
सौन्दर्य-शास्त्र के विवेचकों पर पड़ा है। इस कारण पिछले मतवादो
आधार पर सौन्दर्य-शास्त्र के विभिन्न सिद्धांत भी उन्हीं के समान
सत्य की व्याख्या नहीं कर सके हैं। परन्तु हमारी विवेचना में इन
सामञ्जस्य-पूर्ण समुचित स्थान देने का प्रयास किया जायगा।

सौन्दर्य्य संबन्धी विभिन्न मत

§३—पहले ही कहा गया है भारतीय शास्त्रियों ने सौंदर्य
व्याख्या अलग नहीं की है। अगले प्रकरण में काव्य की रूप संब
विवेचना में तत्संबन्धी सौन्दर्य्य की रूप रेखा
आ जायगी। यहाँ काव्य और कला संबन्धी उन

भारतीय सिद्धान्तों में

व्यापक सौन्दर्य भावना का उल्लेख किया जा सकता है। भारतीय दृ
से कलाकार की मनःस्थिति भावों के निम्न-स्तर से उठकर आद
कल्पना की ओर बढ़ती है। इस मनोयोग की स्थिति में सौन्द
भाव आकर्षित होते हैं।[1] कलाकार के इस 'आत्मध्यायत्'
'आत्मभावयत' रूप में यह स्पष्ट हो जाता है कि कलाकार
मानसिक पक्ष का जहाँ तक संबन्ध है भारतीय दृष्टि से सौदन्र्य्य बा
अनुभव पर उतना निर्भर नहीं जितना आंतरिक समाधि पर। कलाक
के मानसिक पक्ष में अनुभूति जब अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण करती
उस स्तर पर भारतीय काव्य और कला में व्यंगार्थ ध्वनि कलाकार
मानसिक सौन्दर्य्य पक्ष को ही उपस्थित करती है। वक्रोक्ति के लोको
चमत्कार और अलंकार की सादृश्य भावना से भी यही बात स्प
होती है। वस्तुतः इस दृष्टि से प्रकृति में सौन्दर्य्य अपना नहीं है, व

---

१ इस विषय में कुमार स्वामी की पुस्तक 'ट्रान्सफारमेशन ऑव नेच
द्रष्टव्य है। साथ ही लेखक के 'संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रकृति' नामक निब
में भी इस की विवेचना की गई है ('हिन्दुस्तानी' अगस्त—अक्टूबर सन् १९४७ ई

कलात्मक कल्पना का परिणाम मात्र है। प्रारम्भिक साहित्याचार्यों ने 'शब्दार्थ' के आधार पर अलंकार को काव्य की परिभाषा स्वीकार किया था। उसमें उपमानों के रूप में जो सादृश्य की भावना है उससे सिद्ध होता है कि काव्य-सौन्दर्य अनुकरण नहीं, वरन मन-प्रकृति, विषयि-विषय तथा भाव-रूप की तदाकारता है। वैशेषिक तत्त्ववादी इसे वस्तु की उस स्थिति को कहते हैं जिसमें विभिन्न प्रवृत्तियाँ एकाकार हो जाती हैं। आगे हम पाश्चात्य विद्वानों के समन्वित मत में इसी तदाकारता का भाव देखेंगे। अलंकार की यह सादृश्य भावना सौन्दर्य का रूप नहीं और न आदर्श ही है, वरन यह तो इंद्रिय-वेदनाओं के साथ मानसिक उच्च-स्तरों का समन्वित गुण है। भारतीय रस-सिद्धांत सौन्दर्य संबन्धी प्रभावात्मक सिद्धांतों के समान है, उसमें भी विकास की कई स्थितियाँ रही हैं। पिछले आचार्यों ने रसनिष्पत्ति को केवल आरोप तथा अनुभाव के द्वारा साधारण भाव-स्थिति के सामने स्वीकार किया था। अनन्तर भोगवाद तथा व्यक्तिवाद के रूप में काव्य-सौन्दर्य में निर्भरानन्द की विशेष भाव-स्थिति की कल्पना की गई।[२] अन्त में काव्यानन्द की मधुमती-भूमिका की कल्पना में सौन्दर्य की उस स्थिति की ओर संकेत है जिसमें समस्त भावों का सामञ्जस्य होकर वैचित्र्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। हम देख सकेंगे कि यह सिद्धान्त पाश्चात्य सुखानुभूति के सिद्धान्त के कितने समानान्तर है। इस प्रकार भारतीय आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से सौन्दर्य की कल्पना की है। परन्तु यहाँ एक बात महत्त्वपूर्ण यह है कि इनकी सौन्दर्य संबन्धी विवेचनाएँ प्रकृति सौन्दर्य के आधार पर न होकर काव्य के संबन्ध में हैं। इस प्रकार इस सौन्दर्य की भावना में प्रकृति से अधिक मानवीय संस्कार हैं। प्रकृति के सौन्दर्य के विषय में यह उपेक्षा

---

२ इस सिद्धान्त में भट्ट लोल्लट का आरोपवाद, श्रीशंकुक का अनुमानवाद, भट्टनायक का भोगवाद और अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद प्रसिद्ध है।

भारतवर्ष की व्यापक प्रवृत्ति है। इस विषय में अगले भाग में विशेष विचार करने का अवसर मिल सकेगा।

§४—पाश्चात्य विद्वानों ने सौन्दर्य की व्याख्या करते समय साधारण दृष्टि से वस्तु-परक और मनस्-परक दो पक्ष सामने रखे हैं।

पाश्चात्य सिद्धान्तों की स्थिति

वस्तुतः सौन्दर्य वस्तु और भाव दोनों से संबन्धित और उनका समन्वित रूप है। लाइवनज़ि के शब्दों में सौन्दर्य प्रदर्शनात्मक समन्वय है, जो इन दोनों के समत्व सम से संबन्धित है और एक की सहायता से दूसरा समझा जा सकता है। वस्तुतः सौन्दर्य मानसिक और विषय संबन्धी दोनों पक्षों को स्वीकार करते हुए, वस्तुओं के रूप और गुण को निर्भर तथा सामञ्जस्यपूर्ण गम्भीर कल्पना कहा जा सकता है।[3] अन्य बहुत से मतवादियों ने एकान्तवादी तत्त्वादियों की भाँति अपनी विवेचना में एक अंश को अधिक महत्त्व देकर अन्य अंशों की उपेक्षा की है। परन्तु यहाँ यह कहने का अर्थ नहीं है कि इन मतवादियों के सामने सत्य का रूप नहीं था। उनके सामने सत्य का रूप अवश्य था, लेकिन उन्होंने अपने सिद्धान्त की व्याख्या में अन्य भागों को सम्मिलित कर लेने का प्रयास किया है। समन्वय की दृष्टि से यह ठीक हो सकता है। परन्तु जब किसी दृष्टिकोण को अधिक महत्त्व देकर व्याख्या की जायगी तो वह भ्रामक हो सकती है। यहाँ हम संक्षेप में विभिन्न मतों की विवेचना इस दृष्टि से करेंगे कि किस सीमा तक उनमें सत्य का अंश है; और इन सब का समन्वय किस प्रकार किया जा सकता है।

§५—अनेक सौन्दर्य-शास्त्री विषयि के मनस्-परक पक्ष को सौन्दर्य की विवेचना में प्रमुखता देकर भी आपस में मत भेद रखते हैं।

अभिव्यक्तिवाद

किसी ने स्वानुभूति पर अधिक ज़ोर दिया है, किसी ने अभिव्यक्ति का आश्रय लिया है और

---

३ अर्ल ऑव लिस्टोवल ने भी विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना के पश्चात

किसी ने प्रभावशीलता का आधार ही उपस्थित किया है। इस भेद का कारण जैसा पहले ही उल्लेख किया जा चुका है मानसिक स्तर को विभिन्न प्रकार से समझने का प्रयास है, साथ ही मानव-शास्त्र तथा मानस-शास्त्र के क्रमिक आधार की अवहेलना है। क्रोशे पूर्णरूप से अभिव्यक्तिवादी हैं, परन्तु उन्होंने स्वानुभूति को अभिव्यक्ति की पूर्व-स्थिति के रूप में स्वीकार किया है। इसी कारण एक स्थान पर उन्होंने भाषा और सौन्दर्य-शास्त्र को अभेद कहा है। स्वानुभूति में समस्त प्रज्ञात्मक (प्रत्यक्ष आदि) रूपों की पूर्व-स्थिति है, इसलिए वह भौतिक सत्यों, उपयोगिता, आचरण संबन्धी बोध तथा सुख-संवेनाओं से परे है। और यही स्वानुभूति अपनी प्रेरणा में अभिव्यक्ति का रूप धारण करती है। ई० एफ० कैरिट भी इस प्रकार की समस्त भावाभिव्यक्तियों को बिना किसी अपवाद के सौन्दर्य्य मानते हैं।[४] क्रोशे के अभिव्यक्तिवाद का विरोध डेसियर तथा वाल्काट नामक जर्मन विद्वानों ने महाद्वीप पर किया है। फिर भी इसका प्रचार विशेषतः इंगलैंड में रहा है। इन जर्मन आचार्यों ने इस सिद्धान्त की भूल को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यदि स्वानुभूति की गीतात्मकता, तथा भावों और वासना की अभिव्यक्ति को सौन्दर्य्य (काव्य तथा कला के रूप में) माना जायगा, तो इसमें जो कल्पना के रूप में बोधात्मक पक्ष है, उससे इसका विरोध उपस्थित हो जायगा।[५] वस्तुतः अभिव्यक्तिवाद में काव्य और कला को मानवीय मानस के विकास के निचले स्तरों से संबन्धित प्रकृति के आधार पर समझने की भूल की गई है। इस मत में अनुभूति और

इसी प्रकार का निष्कर्ष दिया है।

४—थियरी ऑव ब्यूटी पृ० २९६

५ दि क्रिटिकल हिस्ट्री ऑव एस्थिटिक्स की 'थियरी ऑव एक्सप्रेशनिज़्म' की विवेचना से (महादेवी का विवेचनात्मक गद्य) इस विषय में महादेवी जी का गीतियों संबन्धी मत भी महत्त्व-पूर्ण है।

अभिव्यक्ति विषयक जो मूल भ्रम सन्निहित हैं; इनसे संबन्धित सौन्दर्य्य-शास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों के रूप में दो प्रमुख विचार धाराएँ सामने आती हैं।

क—मानस-शास्त्र के आधार पर स्वानुभूति से निकट संबन्धी सुखानुभूति का मत है। इसके मूल में शरीर-शास्त्री-सौन्दर्य्य के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित समानुपात से स्नायु-प्रेरणा के साथ सुखात्मक प्रभावशीलता है। इनके अनुसार सौन्दर्य्य-बोध में हमारे स्नायु-तन्तुओं के कम से कम शक्ति-व्यय से अधिक से अधिक प्रेरणा प्राप्त होती है। इस संवेदन क्रिया में विशेषता केवल इतनी है कि यह हमारे शरीर की शक्ति-संचलन क्रिया मे सीधे अर्थों में संबन्धित नहीं है। परन्तु यह इस विचार धारा के मतों की वह सीमा है जहाँ हमारी कला और सौन्दर्य्य संबन्धी प्रवृत्तियाँ अपने नग्न रूप में दिखाई देती हैं। एच० आर० मार्शल ने इसी शरीर-विज्ञान के आधार पर मानस-शास्त्रीय दृष्टि को अधिक व्यापक रूप प्रदान किया है। इनके मत में सुखानुभूति को इन्द्रिय वेदन से प्रत्यक्षबोध के आधार पर उच्च मानसिक स्थिति संबन्धित माना गया है। यह अनुभूति सुख-दुःख की सम-स्थिति पर इन्द्रिय संवेदनाओं की प्रभावात्मक सुखमय प्रतिक्रिया का कलात्मक आनन्द रूप है।[६] इसमें भी एक भ्रम सन्निहित है। यह सत्य है कि मानव की प्रभावशील इन्द्रिय-वेदनाएँ कला के मूल में सन्निहित हैं। पीछे कहा गया है कि रंग और ध्वनि के प्रभावों की सुखात्मक संवेदना के बिना चित्रकला तथा संगीत का विकास सम्भव नहीं था। पर कलात्मक सौन्दर्य्य में अन्य कितने भावों का संयोग, तथा उसमें इस मूल संवेदना का रूप इतनी दूर का हो जाता है कि उसकी अभिव्यक्ति

सुखानुभूति

६ एच० आर० मार्शल की 'एस्थिटिक प्रिंसिपल' के 'दि ब्यूटीफुल' नामक प्रकरण से।

दृश्यात्मक सौन्दर्य्य मानव की ही विकसित पूर्ण चेतना का रूप है। उसी के आह्लाद की मुस्कान फूलों में बिखर पड़ती है, उसी के यौवन का उल्लास वृक्षों की उन्नत आकाश में प्रसरित शाखाओं के साथ अपनी उठान का अनुभव करता है। केवल चेतन में ही नहीं वरन जड़ जगत् में भी मानव अपने व्यंजनात्मक भावों का आरोप करता है। अन्य सिद्धान्तों में हम देख चुके हैं कि केवल प्रभावात्मक भाव-सौन्दर्य्य के आधार पर ही सौन्दर्य्य की व्यापकता को समझने का प्रयास किया गया है। परन्तु इस अन्त:सहानुभूति के सिद्धान्त के अनुसार सौन्दर्य्य में साहचर्य्य भावना का रूप है।

साहचर्य्य भावना और रति भाव

क—सौन्दर्य्य की इस साहचर्य्य भावना में स्वच्छंद-युग की प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करनेवाली उन्मुक्त भावना का अधिक समन्वय है। स्वच्छदवादी कवि (काव्य में) प्रकृति की कल्पनात्मक अभिव्यक्ति के लिए व्यापक और उन्मुक्त वातावरण उपस्थित करता है। यह एक सीमा तक व्यक्तित्व और आचरण के लिए सहायक होता है।[१०] स्वानुभूति के माध्यम से जो व्यंजनात्मक कला-सर्जन किया जाता है, उसके लिए मानव-जीवन के प्रत्येक रूप से संबन्धित सहानुभूति आवश्यक तथा निश्चित है। इसी सहानुभूति से संबन्धित साहचर्य्य-भाव की व्यापकता में यौन संबन्धी भाव भी आ जाता है। फ्रायड ने मनोविश्लेषण के आधार पर समस्त कलात्मक अभिव्यक्ति तथा सौन्दर्य्य-भावना में यौन-भाव की अन्तर्निहित प्रवृत्ति मानी है। इस रति-भाव का संघर्ष युगों से चली आने वाली संस्कृति में अन्य आत्म तथा सामाजिक भावों से होता रहा है। इस प्रकार यह भाव चेतना के सुप्त स्तरों में अन्तर्निहित हो गया है। इन्हीं विषम भाव-स्थितियों की अभिव्यक्ति काव्य और कला में सौन्दर्य्य-रूप ग्रहण करती है।

---

१० शेली की 'ए डिफेन्स ऑव पोइट्री' के आधार पर।

इतिहास में महान सांस्कृतिक जातियों का विकास यौन विषयक प्रेरणा से, इस भाव को संयमित करने से हुआ है। इस प्रेरणा और उसके संयम में विरोधी भावना कार्यशील रही है और इन्हीं दोनों छोरों के बीच में मानव-जाति का सभ्यता संबन्धी विचार निर्धारित होता रहा है। दर्शन और धर्म के साथ कला इसी प्रक्रिया की अभिव्यक्ति है। सौन्दर्य संबन्धी इस मत में सत्य अवश्य है। परन्तु जैसा तृतीय प्रकरण में कहा गया है, यौन संबन्धी भाव के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योग रखते हैं। पर इस प्रकार इसको इस सीमा तक महत्त्व देना अतिव्याप्ति कही जायगी।

§ ७—इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त कुछ में मानस-शास्त्र के आधार पर सौन्दर्य की भाव-स्थिति का केवल विश्लेषण किया गया है; और कुछ में प्रयोगात्मक रीति पर सौन्दर्य-संबन्धी नियम निश्चित किए गए हैं। घटना-स्थितिवादियों ने प्रत्यक्ष तथा परप्रयत्न आदि के रूप में सौन्दर्य के रूपात्मक भेद किए हैं। परन्तु प्रयोगवादियों ने मानस-शास्त्र के संयोग विरोध आदि नियमों के आधार पर सौन्दर्य की व्याख्या की है। परन्तु यह व्याख्या सौन्दर्य न कही जाकर सौन्दर्य के आधार-भूति मानस-शास्त्र के नियम कहे जायेंगे। इनसे केवल एक सहायता ली जा सकती है। प्रकृति संबन्धी सौन्दर्य-भाव में इन नियमों को ढूँढ़ा जा सकता है; या इन नियमों से सौन्दर्य की कुछ कल्पना की जा सकती है। दूसरे कुछ सिद्धान्तों में प्रकृति के रूप-गुणों के सहारे सौन्दर्य को समझने का प्रयास किया जाता है। इनके अनुसार सौन्दर्य की विवेचना के लिए प्रकृति के गुणों, आकार-प्रकार, रंग रूप, नाद-ध्वनि, गंध-स्पर्श आदि पर विचार करना पर्याप्त है। रस्किन प्रकृति के इन्हीं वस्तु-गुणों को कला में अनुकरण करने को कहते हैं। परन्तु इससे भी सौन्दर्य की व्याख्या न होकर केवल उपकरणों की विवेचना होती है। इस मत के विषय में महत्त्वपूर्ण बात यही है कि कला में

रूपात्मक नियमन

दृश्य को सौन्दर्य की रूप-रेखा में बाँधने के लिए चयन करना पड़ता है। प्रकृति स्वयं में सुन्दर नहीं है, वरन हम प्रकृति के व्यापक विस्तार से चयन करके विभिन्न संयोग से सौन्दर्य का चित्र पूरा करते हैं। यह ऐसे ही होता है जैसे कलाकार अपने रंगों के संयोग द्वारा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता है।[13] परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि साधारण व्यक्ति प्रकृति के सौन्दर्य को देखता ही नहीं। वस्तुतः जिसको हम कलाकार कहते हैं उसमें और साधारण व्यक्ति में प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति के विषय में केवल मात्रा का अन्तर होता है। दोनों ही अपने लिए सौन्दर्य का सर्जन करते हैं। केवल कलाकार में व्यापक और प्रत्यक्ष ग्रहण करने की शक्ति होने के कारण उसमें अभिव्यक्ति की प्रेरणा-शक्ति भी होती है। कलाकार जिस दृश्य को देखता है, उसके प्रत्यक्ष या परप्रत्यक्ष की प्रेरणा अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिकृत होती है।[14]

मानसिक स्तरों का भेद

क—परन्तु ऊपर की प्रकृति सौन्दर्य संबन्धी दृष्टि अधिक व्यापक सीमा को स्पर्श करती है। साधारण व्यक्ति भी प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होता है और इसका कारण भी साधारण मानस-शास्त्र में होना चाहिए। यहाँ इस बात का संकेत कर देना आवश्यक है। जैसा हम पिछले प्रकरण की विवेचना में देख चुके हैं, सौन्दर्य केवल प्रत्यक्ष-बोध से संबन्धित सुखानुभूति नहीं है। साधारण व्यक्ति के प्रकृति सौन्दर्य संवन्धी आकर्षण में इस प्रकार के इन्द्रिय संवेदना और प्रत्यक्ष-बोध के विभिन्न मानसिक स्तर हो सकते हैं। परन्तु इसको सौन्दर्यानुभूति की समष्टि या समवाय नहीं माना जा सकता। ई० एम० वर्टलेट के मतानुसार—'प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति को सुन्दर कलाकार के

---

१३ 'दि सेंस ऑव ब्यूटी से (पृ० १३३)

१४ ई० एफ० कैरियट की 'दि थिउरी ऑव ब्यूटी' पृ० ३९

समान नहीं बना देता; जैसा कलाकार कला को बनाता है। साधारण व्यक्ति तो प्रकृति के गुणों को सुन्दर तथा असुन्दर दोनों ही प्रकार से देख सकता है।[१५] इससे भी यह स्पष्ट है कि प्रकृति सौन्दर्य के लिए कल्पनात्मक मानसिक स्तर होना चाहिए। साधारण जन तो केवल अपनी मानसिक विकास की स्थिति तक प्रकृति के सौन्दर्य का अनुभव कर सकता है। परन्तु प्रकृति के सम्पर्क से जो अन्य प्रकार का आकर्षण या सुख प्राप्त होता है, उसको सौन्दर्य की कल्पनात्मक श्रेणी का आनन्द नहीं कह सकते। संवेदनात्मक सुखानुभूति और कल्पनात्मक सौन्दर्य का आनन्द भिन्न है। साधारण स्थिति में व्यक्ति किसी वस्तु के प्रत्यक्ष की संवेदना प्राप्त करता है जो सुखकर हो सकती है। परन्तु वही व्यक्ति जब वस्तु के सौन्दर्य की ओर आकर्षित होता है, तब वह वस्तु के वास्तविक प्रत्यक्ष के अर्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण अर्थ में वस्तु का कल्पनात्मक बोध प्राप्त करता है और इसी स्थिति से कलात्मक आनन्द भी संबन्धित है; केवल उसमें यह स्थिति अधिक व्यक्त और परिष्कृत रहती है। प्रकृति के सौन्दर्य के सम्बन्ध में विद्वानों का मत-भेद उनकी सौन्दर्य विषयक व्याख्या के अनुसार ही है। हम पीछे कह चुके हैं कि सौन्दर्य-भाव हमारे ज्ञानात्मक तथा भावात्मक विकास से संबन्धित रहा है और प्रकृति का सौन्दर्य अन्यथा कुछ नहीं केवल हमारे अन्दर के सौन्दर्य भाव का प्रकृति पर प्रसरण है।

प्रकृति का सौन्दर्य

§६—अभी तक प्रकृति के सौन्दर्य की व्यापक सामञ्जस्यपूर्ण व्याख्या कही गई है; अब उसके विभिन्न पक्षों की विवेचना अलग अ

---

१५ 'टाइप्स ऑव एस्थिटिक जजमेंट'; 'नेचुरल ब्युटी' पृ० २१८

करनी है। इस विवेचना में प्रकृति के सौन्दर्य का क्रमिक और स्पष्ट रूप हमारे सामने उपस्थित हो सकेगा। अभी हम कह चुके हैं कि प्रकृति सौन्दर्य का रूप और भाव, एक सीमा तक हमारी कलात्मक दृष्टि का फल है और साथ ही कुछ अंशों में हम सभी में कलाकार की प्रवृत्ति रहती है। लेकिन प्रकृति सुन्दर के अतिरिक्त भी कुछ है। वह भयानक है, भयभीत करती है और कभी वीभत्स भी लगती है। परन्तु सौन्दर्य में ये सभी विभिन्न भाव आत्मसात् हो जाते हैं। पिछले प्रकरण में कहा गया है कि भावों के विकास के विभिन्न स्तरों से प्रकृति का क्या संबन्ध रहा है। यहाँ पर जिस प्रकार का प्रकृति-सौन्दर्य आज हमारे सामने हैं उसको मूल प्रवृत्तियों के आधार पर विभाजित करना है। प्रकृति के सौन्दर्य के विषय में हमारी भावुकता प्रधान लग सकती है; परन्तु उसके रूप-पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिस प्रकार हमको प्रकृति के भाव और रूप पक्षों को स्वीकार करना पड़ा था; उसी प्रकार सौन्दर्य की व्याख्या करते समय भी इन दोनों पक्षों को स्वीकार करना है। प्रकृति का रूप उसके सौन्दर्य का आधार है, यद्यपि जैसा हम प्रथम प्रकरण में कह चुके हैं इस रूप के लिए मानवीय मानस की स्वीकृति आवश्यक है। फिर भी इस रूप में प्रकृति का अपना योग मान्य है। इस रूप के आधार पर भाव क्रियाशील होता है और अपने संचयन में सौन्दर्य की अनुभूति प्राप्त करता है। लेकिन हम तीसरे प्रकरण में देख चुके हैं कि हमारे भावों के विकास में प्रकृति का योग महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति में भाव और रूप की विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें यह कहना असंभव हो जाता है कि कौन प्रधान है। वस्तुतः भाव और रूप का यह वैचित्र्य सौन्दर्य है।

दोनों पक्षों की स्वीकृति

§१०—प्रकृति के भावात्मक सौन्दर्य में हम अपनी विवेचना की सुगमता के लिए विषय का मनस्-परक पक्ष ले सकते हैं। इसमें भी

एक प्रभावशील भावना है जो समष्टि रूप से इन्द्रियों के विभिन्न गुणों की संवेदनात्मकता पर आधारित है और रूप-पक्ष में वस्तुओं के गुणों पर निर्भर है। इसकी सुखानुभूति इन्द्रिय वेदनाओं में प्रत्यक्ष-बोध और कल्पना के रूपों की संवेदना से संबन्धित है। परन्तु सौन्दर्य्य में इनका योग निरति की भाव-स्थिति पर सम्भव है। सभ्यता के इस युग में भी पार्कों में दूर्वाल और उस पर क्यारियों में सजे हुए गहरे रंग के फूल हमारी इसी सौन्दर्य्य भावना के साक्षी हैं। इसी आधार पर कुछ सिद्धान्तवादियों ने सौन्दर्य्य का माप-दंड इसी प्रभावात्मकता को माना है। परन्तु यदि ऐसा होता तो प्रकृति के रूप-रंगों का गंभीर प्रभाव कला के कोमल प्रभाव से अधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया जाता। प्रकृति के विस्तार में सन्ध्या के हलके घुलते रंगों में, पर्वत की मिटती हुई श्रेणियों के प्रसरित विस्तार में, उस पर आच्छादित वर्फ़ की धुँधली सफ़ेद आभा में, आकाश की एक रस नीलिमा में तथा तारों के दीप जलाए हुए रात्रि के आँचल में जो सौन्दर्य्य छिपा है वह साधारण प्रभावशीलता भर नहीं कहा जा सकता। यह सौन्दर्य्य वहुत कुछ हमारे संस्कृत कलात्मक दृष्टि का परिणाम है।

भाव-पक्ष
संवेदनात्मकता

क—प्रकृति सौन्दर्य्य का दूसरा भावात्मक रूप सहचरण की सहानुभूति में स्वीकार किया जा सकता है। इसी आधार पर वह हमको अपने समानान्तर लगती है। प्रकृति अपने क्रिया-व्यापारों में मानव-जीवन के अनुरूप जान पड़ती है, साथ ही प्रकृति मानवीय चेतना और भावों से युक्त भी उपस्थित होती है। साहचर्य्य-भाव की स्थिति में प्रकृति इस प्रकार अपने सौन्दर्य्य में ही मग्न जान पड़ती है।[१६] प्रकृति

सहचरण की
सहानुभूति

---

१६ काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य्य का यह रूप कहीं मानवीय आकार में, कहीं मानवीय मधु-क्रीड़ाओं में व्यस्त और कहीं मानवीय भावों से प्रागुम्फित चित्रित

सौन्दर्य के इस पक्ष के विकास में कितनी ही भाव-स्थितियों का योग हुआ है, इसलिए इसको सरलता से एक भाव के रूप में नहीं समझा जा सकता। साहचर्य-भाव की इस स्थिति में सामाजिक, आत्मिक तथा यौन सम्बन्धी भावों का सम्मिश्रण समझा जा सकता है। यद्यपि सम्मिश्रण साधारण योग से न होकर विकास-पथ से प्राप्त हुआ है। मानवीय संस्कृति के युग में प्रकृति के प्रति साहचर्य की भावना उसके सौन्दर्य की प्रबल आकर्षण शक्ति है। साथ ही प्रकृति के प्रति मानव की स्वच्छंद प्रवृत्ति का रूप भी इसमें सन्निहित है। हमारी चेतना तथा हमारे प्राणों से सचेतन और सप्राण प्रकृति, हमारी भावनाओं में निमग्न होकर सुन्दर लगती है। यह मानसिक अनुकरण का प्रकृति पर प्रतिबिंब-भाव ही है जो हमको स्वयं सुन्दर लगने लगता है। इस प्रकार यह सहचरण संबन्धी प्रकृति के प्रति साहचर्य की भावना प्रकृति-सौन्दर्य का महत्त्वपूर्ण रूप है।[१७]

व्यंजनात्मक प्रतिबिंब भाव

ख—सौन्दर्य की इस अनुभूति तक साधारण व्यक्ति अपनी अव्यक्त कलात्मक प्रवृति से पहुँच सकता है। वह प्रकृति-सौन्दर्य का आनन्द प्राप्त करता है। परन्तु जब व्यञ्जनात्मक दृष्टि से यह प्रकृति का प्रतिबिंब-भाव अधिक व्यक्त तथा स्पष्ट हो जाता है; तभी प्रकृति का सौन्दर्य भी अधिक आकर्षक होता है। यह सौन्दर्यानुभूति संवेदनशील व्यक्ति को ही हो सकती है; जिसको भारतीय काव्य शास्त्रियों ने रसज्ञ माना है। वह प्रकृति के सौन्दर्य में अपनी व्यञ्जना-शक्ति के द्वारा उन अभिव्यक्तियों का प्रतिबिंब देखने में समर्थ होता है, जो साधारण

होता है।

१७ आगे दूसरे भाग में हम देखेंगे कि इसी भावना की प्रमुखता से स्वछंदवादी प्रकृति संबन्धी प्रवृत्ति का विकास होता है, जो हिन्दी-साहित्य के मध्य-युग में विकसित नहीं हो सकी।

व्यक्ति के लिए असम्भव है। कवि, कलाकार और रहस्यवादी भी अपने मनोयोग के कारण प्रकृति के इस व्यंजनात्मक सौन्दर्य को देखने में सफल होते हैं। इस सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने का प्रश्न पंचम प्रकरण में उपस्थित किया गया है।

§११—अभी प्रकृति-सौन्दर्य के भावात्मक पक्ष पर विचार किया गया है। अब वस्तु-रूप प्रकृति-सौन्दर्य के विषय पर विचार करना है; जिसे रूपात्मक पक्ष भी कहा जा सकता है। भाव से अलग रूप कुछ नहीं है. इसी प्रकार रूप के आधार बिना भाव-स्थिर नहीं हो सकता। फिर इन दोनों पक्षों की अलग अलग व्याख्या करने का उद्देश्य केवल विषय को अधिक स्पष्ट करना है। प्रकृति अनेक रूपरंगों में हमारे सामने उपस्थित है, साथ ही उसमें आकारों की सहस्र सहस्र रूपात्मकता भी सौन्दर्य और उसके कलात्मक प्रदर्शन में योग प्रदान करती है। ज्यामिति के नाना आकार प्रकृति के रूप में बिखरे हुए हैं जो प्रकृति के सौन्दर्य के चित्रपट को सीमादान करते हैं। यदि इस प्रकार हम देखें तो रूप और आकार विभिन्न सीमाओं में प्रत्येक दृश्य को हमारी चेतना से सम रूप में उपस्थित कर सौन्दर्य प्रदान करते हैं। यही नहीं प्रकृति में गति और संचलन जिनका उल्लेख प्रथम प्रकरण में किया गया है, हमारे आत्म प्रसार के लिए विशेष आधार हैं। प्रकृति में असंख्य ध्वनियों के सूक्ष्म भेद व्याप्त हैं। प्रकृति का नितान्त शांत वातावरण जनाकुल नगरों के विरोध में सौन्दर्य का रूप धारण कर सकता है। कल-कल, झर-झर, टल-मल आदि प्रकृति में जल-प्रवाह की ध्वनियाँ अपनी विविधता के साथ जीवन और चेतना के सम पर सुन्दर लगती हैं। गंध और स्पर्श का योग प्रकृति सौन्दर्य में उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, परन्तु इनका संयोग उसमें अवश्य है। और अधिकांश में इनका योग संयोगात्मक ही अधिक है। साथ ही कुछ व्यक्ति इनके प्रभावों के प्रति अधिक सचेष्ट होते हैं। वे

रूपात्मक वस्तु-पक्ष

इनका संयोग दृश्यात्मक सौन्दर्य्य से अधिक शीघ्र कर लेते हैं।[१८] इन सबके विषय में यह समझ लेना आवश्यक है कि प्रकृति-दृश्यों में ये समस्त गुण जिनका विभाजन किया गया है, अलग अलग अपना अस्तित्व नहीं रखते ये अपनी समष्टि और सामञ्जस्य में ही सुन्दर हैं। कभी जब इस एकरूपता में कोई रूप अलग लगने लगता है, तो वह सौन्दर्य्य बोध में बाधा के समान खटकता है। प्रकृति में आकार-प्रकार की विभिन्नता व्यापक है; उसमें रंगों के इतने सूक्ष्म भेद और छायातप सम्मिलित हैं और उसकी ध्वनियों में इतना स्वर-लय है कि कला के सुन्दर से सुन्दर रूप में इनका उपस्थित करना कठिन है। परन्तु कला में जो चयन और प्रभावोत्पादक शक्ति है उससे सौन्दर्य्य में सजीवता और सप्राणता की गम्भीर व्यंजना सन्निहित हो जाती है। यह संचित और केन्द्रित प्रभावशीलता प्रकृति के प्रसरित सौन्दर्य्य में नहीं हो सकती। परन्तु यदि कलाकार स्वयं प्रकृति में अपनी कला का आदर्श ढूढ़ना चाहे तो उसे मिल सकता है, क्यों प्रकृति के पास उसके चयन के लिए अपार भंडार है।

मानस-शास्त्रीय नियम

§१२—प्रकृति सौन्दर्य्य के वस्तु-परक (विषय) और मनस-परक भाव रूपात्मक तथा भावात्मक पक्षों पर संक्षेप में विचार किया गया है। परन्तु इन दोनों के सामंजस्य के आधार में कुछ मानस-शास्त्रीय नियम है। इनकी विवेचना प्रयोगवादी सौन्दर्य्य शास्त्रियों ने मुख्य रूप से की है। यहाँ उनका उल्लेख करना उपयोगी होगा। कलात्मक सौन्दर्य्य

---

१८ इस विषय में लेखक के अपने प्रयोग भी हैं। उसे दृश्य के साथ स्पर्श के संयोग अधिक स्पष्ट होते हैं और कुछ अवसरों पर गंधों का संयोग भी उसके अनुभव में आश्चर्यजनक हुआ है। वस्तुतः विभिन्न व्यक्तियों में गंध तथा स्पर्श संबंधी परप्रत्यक्ष करने की भिन्न शक्तियाँ होती हैं। कुछ व्यक्ति निश्चित रूप से इनका स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

की स्थिति साधारण मानसिक स्थिति नहीं है, इस पर विद्वान एकमत हैं। भारतीय विद्वान भी इससे सहमत हैं। परन्तु जिन साधारण नियमों के आधार पर यह मानसिक स्थिति बन जाती है, उसका उल्लेख किया जा सकता है। इन समस्त नियमों को दो प्रमुख नियमों के अन्तर्गत माना जा सकता है। प्रथम नियम भावों के सामञ्जस्य के रूप में माना जा सकता है जिसके अन्तर्गत समस्त आकारात्मक सानुपात, रंग-रूपों की एकता विभिन्नता संबंधी नियम आ जाते हैं। तथा यह भाव-पक्ष में भाव की एक सम स्थिति का भी संकेत देता है। दूसरा नियम भाव-संयोग संबन्धी है. इसमें साम्य, वैषम्य तथा क्रम के नियम सन्निहित हैं और इसी नियम में विभिन्न भावों का समन्वित वैचित्र्य भी सम्मिलित है। ये नियम साधारणतः आश्रय रूप स्वीकार किए जा सकते हैं। इन नियमों का सौन्दर्य के दोनों पक्षों के संतुलन में आधार भर रहता है. परन्तु ये सौन्दर्य के नियम किसी प्रकार स्वीकार नहीं किए जा सकते।

प्रकृति-सौन्दर्य के रूप

§१३—प्रकृति-सौन्दर्य को विभिन्न प्रकार से स्थापित करने के बाद प्रश्न उठता है कि क्या प्रकृति के सौन्दर्य-रूपों का विभाजन किया जा सकता है। पहले ही कहा गया है कि सौन्दर्य ऐसी भाव-स्थिति नहीं जिसका विभाजन किया जा सके। परन्तु भावों के समवाय की स्थिति में जिन भावों का प्रमुख आधार रहता है, उनकी दृष्टि से कुछ प्रमुख रूपों का उल्लेख किया जा सकता है। भारतीय काव्य-शास्त्र में नव-रस के विधान में नव स्थायी-भावों को स्वीकार किया गया है। इन समस्त स्थायियों की यहाँ विवेचना नहीं की जा सकती। परन्तु इनको स्वीकार कर लेने पर भी इनमें से कुछ मानवीय चरित्र और संबन्धों को लेकर ही हैं और इस प्रकार उनका क्षेत्र प्रकृति-सौन्दर्य

विभाजन की सीमा

नहीं है। इसी प्रकार जहाँ तक प्रकृति-सौन्दर्य्य का संबन्ध है कुछ भाव दूसरे भावों में लीन किए जा सकते हैं। प्रकृति के संवेदनात्मक सौन्दर्य्य में विरोधी भाव के रूप में जुगुप्सा का भाव सम्मिलित हो जाता है। और प्रकृति की महत् भावना की सौन्दर्य्य-स्थिति में भय तथा विस्मय के भाव मिल जाते हैं। इसी प्रकार साहचर्य्य संबन्धी सौन्दर्य्य भावना में प्रकृति के सचेतन और भावशील रूप में अन्य विभिन्न मानवीय भावों का आरोप हो जाता है। मानवीय चरित्र (आचरण) तथा धर्म संबन्धी मूल्यों का समवाय प्रकृति में प्रतिबिंब रूप में ही हो सकता है। इस स्थिति में सत्य और शिव की भावना के साथ ये मूल्य सौन्दर्य्य के समान ही हैं। इस प्रकार प्रकृति-सौन्दर्य का विचार हम तीन प्रमुख रूपों में कर सकते हैं महत्, संवेदनशील तथा सचेतन।

महत्

क—प्रकृति में महत् की सौन्दर्य्य-भावना साधारणतः अनन्त शक्ति, विशाल आकार तथा व्यापक विस्तार से संबन्धित है। इसमें मूलतः प्रारम्भिक स्थिति से भय और विस्मय के भाव सन्निहित हैं। इस प्रकार महत् रूप से भयंकरता और उत्पीड़न संबन्धित तो अवश्य हैं; परन्तु सौन्दर्य्य के स्तर पर महत् में इनका योग नहीं माना जा सकता और न ये उसके मूल में कहे जा सकते हैं। महत् की सौन्दर्य्यानुभूति में एक प्रकार का व्यापक प्रभाव रहता है, जो वस्तु की आकाश-स्थिति, शक्ति-संचलन अथवा उसके गुण से संबन्धित है। महानता की सौन्दर्य्य-भावना, विशालता के कल्पनात्मक परप्रत्यक्ष से प्रभावित होती है। इसके अनन्तर इसमें सहानुभूति की मूल-रूप तदाकारता की चेतन अनुभूति मिल जाती है। इसी कल्पनात्मक सहानुभूति से हम वस्तु की विशालता संबन्धी मानसिक महानता की तदाकारता स्थापित करते हैं।

ख—प्रकृति के दूसरे सौन्दर्य्य-रूप को हम संवेदनात्मक (प्रभावशील) मानते हैं। इस संवेदनात्मक मानसिक स्थिति में प्रगाढ़ की

भावना है। इसके मूल में इन्द्रिय-वेदना की सुखात्मक अनुभूति अवश्य है और इसके आधार में प्रकृति के माध्यमिक गुण हैं। परन्तु प्रकृति सौन्दर्य के इस रूप से इनका दूर का संबन्ध है, यह पिछले प्रकरण की विवेचना से ही प्रत्यक्ष है। यह प्रकृति का दृश्यात्मक सौन्दर्य इन्द्रियों को मादकता के समान प्रभावित करता है। वस्तुतः इन सब सौन्दर्य रूपों की कल्पना अलग अलग नहीं की जा सकती। यही कारण है कि इस संवेदनात्मक सौन्दर्य भाव में महत् का रूप भी सन्निहित हो सकता है। साथ ही इस भाव में साहचर्य भावना और उसके साथ मानवीय भावों का आरोप बहुत कुछ मिल जुल गया है।

संवेदन

ग—प्रकृति-सौन्दर्य में सब से अधिक व्यापक विभिन्नता उत्पन्न करनेवाला रूप है, प्रकृति का सचेतन सौन्दर्य। इस सौन्दर्य रूप में हमारी चेतना का सम है, साथ ही साहचर्य-भावना की विकासोन्मुखी प्रवृत्तियों का। आदिम-काल का प्रकृति पर चेतना तथा मानवीय आकार आरोप सौन्दर्य रूप तो नहीं था; पर उसने सौन्दर्यानुभूति के लिए आधार प्रस्तुत किया है। विकास के साथ जैसे जैसे आत्म-तदाकारता की भावना, सामाजिक स्तर पर साहचर्य संबन्धी विभिन्न भावनाओं से मिलती गई; प्रकृति पर उनका आरोप भी उसी विषम मनःस्थिति के साथ होता रहा है।[१९] इस स्तर पर प्रकृति-सौन्दर्य का कोई भी रूप इस भावना से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका है। यही कारण है कि प्रकृति-सौन्दर्य के समस्त रूपों पर इस रूप की छाया पड़ती रहती है।

सचेतन

× × ×

§१४—अन्त में यह भी कह देना आवश्यक है कि प्रकृति का

१९—आधुनिक हिन्दी-काव्य में प्रकृति पर विषम भाव-स्थितियों के आरोप मिलते हैं।

सौन्दर्य्य तथा आकर्षण संवेदनात्मक विकास के साथ अधिक प्रत्यक्ष तथा व्यक्त होता गया है। इस विषय में कुछ लोगों को भ्रम है कि सभ्यता तथा ज्ञान के साथ

प्रकृति प्रेम

हमारा प्रकृति प्रेम कम होता जाता है। उनकी धारणा कुछ इस प्रकार की है कि सौन्दर्य्य-भावना पर आधारित प्रकृति-प्रेम भ्रमपूर्ण ज्ञान से होता है। और ज्यों ज्यों हम प्रकृति तथा उसके नियमों से परिचित होते जाते हैं, हमारा प्रेम का भाव उसके सौन्दर्य्य के साथ ही विलीन होता है। परन्तु यह ठीक नहीं है। वस्तुतः हम ज्यों ज्यों प्रकृति से परिचित होते जाते हैं: हम प्रकृति को अधिकाधिक अपने जीवन तथा चेतना के सम पर पाते है। इस कारण एक प्रकार से प्रकृति के प्रति हमारा सर्वचेतनवादी मत होता जाता है। हम प्रकृति के नियमों में अपने जीवन की समानान्तरता पाते हैं। आन्तरिक विश्व और वाह्य विश्व की यह एक रूपता एक विशेष आकर्षण का विषय हो गई है। परन्तु आज मानव अपनी समस्या में इतना अधिक उलझा लगता है कि वह प्रकृति को प्रयोजनात्मक दृष्टि के अतिरिक्त देख नहीं पाता। परन्तु मानवीय जीवन की अशांति तथा हलचल के विरोध में प्रकृति की शांति आज भी उतनी ही आकर्षक हो उठती है।

क—यदि हम मिथ-शास्त्र तथा मानव-शास्त्र के सहारे पिछले विकास क्रम पर विचार करते हैं, तब भी इसी सत्य तक पहुँचते हैं। प्रारम्भिक युग में मानव चेतना पर प्रकृति की अज्ञात रूपात्मकता छायी रहती थी जिससे वह उस स्थिति में केवल अपनी आवश्यकताओं को ही समझ

मानव इतिहास के क्रम में

सकता था। इसके अनन्तर मानव ने मानस के सहारे प्रकृति के आकारों को स्थान-केन्द्रित करना आरम्भ किया। यह वस्तु-बोध की अज्ञानात्मक अवस्था थी। उस समय उसको बोध था कि वह ऐसी अपरिचित वस्तु से घिरा है जिसको वह नहीं जानता था। इस स्थिति में प्रकृति केवल उसके भय का विषय थी। तीसरे स्तर पर प्रकृति

स्पष्ट रूप-रेखा में आने लगती है। परन्तु इस स्थिति में मानव प्रकृति को अपने ही समान समझने का भ्रम करता था। इस मानवीकरण के युग में मानव प्रकृति में उसके रूप से अलग एक सूक्ष्म रूप भी मानता था। धीरे धीरे भय के साथ जिज्ञासा भी बढ़ने लगी और प्रकृति को मानव अपने समान सप्राण और सचेतन समझने लगा। इस स्थिति तक वह प्रकृति को पहचान सका था और यहीं से प्रकृति सौन्दर्य की कल्पना की जा सकती है। इसके पूर्व सौन्दर्य केवल सुखयानुभूति के रूप में माना जा सकता है। इस स्वचेतना के (आत्म) आरोप के बाद प्रकृति सर्वचेतन रूप में अधिक व्यापक तथा सुन्दर हो गई और इस स्थिति के बाद प्रकृति अब हमारे समस्त भावों और कल्पनाओं का प्रतिबिंब ग्रहण करने लगी है। हम देखते हैं कि इस विकास में प्रकृति-सौन्दर्य अधिक स्पष्ट तथा व्यक्त ही हुआ है।

पंचम प्रकरण

प्रकृति सौन्दर्य और काव्य

पिछले प्रकरणों में मानव और प्रकृति के संबन्धों के माध्यम से सौन्दर्य की व्याख्या की गई है। परन्तु इस विवेचना में प्रकृति-सौन्दर्य पर ही अधिक ध्यान केन्द्रित किया गया है। इस सौन्दर्य की रूप-रेखा उपस्थित करते समय काव्य तथा कला संबन्धी उल्लेख आए हैं; लेकिन वे प्रासंगिक ही कहे जा सकते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में प्रकृति-सौन्दर्य काव्य का विषय किन विभिन्न रूपों में होता है, इस पर विचार करना है। वस्तुतः हम देखेंगे कि काव्य भी सौन्दर्य-भाव से संबन्धित है। इसलिए प्रश्न यह है कि प्रकृति सौन्दर्य काव्य सौन्दर्य में किस प्रकार और किन रूपों में अभिव्यक्त होता है। परन्तु इस विवेचना के पूर्व काव्य का एक निश्चित स्वरूप भी हमारे सामने होना चाहिए। हम देख चुके हैं कि प्रकृति के सौन्दर्य-भाव में हमारा कलात्मक दृष्टिकोण ही प्रमुख रहता है। लेकिन काव्य के विषय में विद्वानों में ऐसा विचार

वैषम्य है कि किसी एक के मत को लेकर चलने से काव्य का स्वरूप एकांगी ही लगता है। यद्यपि ऐसा है कि प्रत्येक सिद्धान्त की व्यापकता में अन्य सभी अंग समा जाते हैं। इस प्रकार जब तक काव्य विषयक विभिन्न मत किसी क्रमिक स्वरूप में नहीं उपस्थित हो जाते, उसका पूरा स्वरूप हमारे सम्मुख नहीं आ सकेगा। और साथ ही इन मतों के विषय में भ्रम भी रह सकता है।

काव्य की व्याख्या

§१—प्रत्येक काव्य-वर्ग के आचार्य्य ने अपने मत को इतना महत्त्व दिया है और साथ ही व्यापकता भी प्रदान की है कि एक ओर यह मत अपने रूप विशेष के कारण सीमिति और भ्रामक विदित होता है और दूसरी ओर अपनी व्यापकता के कारण दूसरे मतों को आत्मसात् भी कर लेता है। अलंकार, ध्वनि, रीति तथा रसवादी आचार्यों के सिद्धान्तों में यही बात समान रूप से पाई जाती है। भारतीय काव्य संबन्धी सिद्धान्तों में कवि के मनस्-परक विषय-पक्ष की उपेक्षा भी की गई है।[१] जहाँ तक पाश्चात्य विद्वानों के मत का प्रश्न है; उनमें भी काव्य की विभिन्न स्थितियों को महत्त्व दिया गया है। परन्तु इनमें समन्वय का मार्ग ढूँढ़ा जा सकता है। वैसे पश्चिम में काव्य संबन्धी इतने वर्ग या स्कूल भी नहीं हैं। वहाँ मुख्यतः काव्य के दो रूप विषयक सिद्धान्त प्रचलित रहे हैं, जिन को स्वच्छंदवादी तथा संस्कार-वादी कहा गया है। बाद में ये सिद्धान्त विशेष युगों से बँध कर सिद्धान्त विषयक विभिन्नता के प्रतीक नहीं रह सके। क्योंकि प्रत्येक युग में काव्य संबन्धी विभिन्न प्रवृत्तियाँ तो मिलती ही हैं। इन दोनों सिद्धान्तों

विभिन्न मतों का समन्वय

१—इस विषय में लेखक की 'संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रकृति' नामक लेख देखना चाहिए (हिन्दुस्तानी जी० सि० ४७ ई०)।

में व्यक्तिगत स्वानुभूति तथा परिस्थितिगत चरित्र-चित्रण का भेद है; साथ ही एक की शैली भावात्मक है और दूसरे की रूपात्मक है। इन्हीं के अन्तर्गत अन्य अनेक मत हैं जिनका उल्लेख उचित स्थान पर किया जायगा। काव्य के सम्पूर्ण स्वरूप को ध्यान में रखते हुए विचार करने पर लगता है काव्य सामञ्जस्य है, समन्वय है और एक सम है। और यह सम अनुभूति, अभिव्यक्ति तथा संवेदना (प्रभाव) तीनों को लेकर है। इसीलिये कहा जा सकता है काव्य सौन्दर्य्य-व्यंजना है।

काव्य सौन्दर्य्य-व्यंजना है

६२—सौन्दर्य्य की विवेचना भावों के विकास तथा प्रकृति के संबन्ध में की गई है। यही सौन्दर्य्य कौशल की निर्भर साधना में कला को जन्म देता है और कला जब सौन्दर्य्य के उपकरणों से सम उपस्थित कर लेती है, वह काव्य सौन्दर्य्य हो जाता है। इस सीमा में संगीत भी काव्य है। संगीत में नाद और लय के विरोध तथा वैषम्य से भाव-साम्य उपस्थित किया जाता है और काव्य में व्यंजनात्मक ध्वनियों के संयोग में, विरोध-वैषम्य के आधार पर भाव साम्य उपस्थित किया जाता है। साधारण कलाओं में सौन्दर्य्य की व्यंजना प्रकृति के उपकरणों से की जाती है। उपकरणों के प्राकृतिक गुण स्वयं भावाभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। केवल उनमें अभिव्यक्ति की सप्राण व्यंजना की आवश्यकता रहती है। परन्तु काव्य में व्यंजना का सबसे अधिक महत्त्व है। इसी कारण भारतीय ध्वनि-सिद्धान्त और योरोपीय अभिव्यंजनावाद काव्य में अधिक स्वीकृत रहे हैं। इनमें काव्य के मुख्य स्वरूप का संकेत है। काव्याभिव्यक्ति की साधन-रूप भाषा में शब्द भाव-व्यंजना के प्रतीक होते हैं। अन्य कलाओं में रूपात्मक सौन्दर्य्य का आदर्श रहता है; संगीत में भाव और उपकरणों का सम ही सौन्दर्य्य है। परन्तु काव्य में ध्वनि को व्यंग का आश्रय लेना पड़ता है। यह ध्वनि जब सौन्दर्य्य की व्यंजना करती है तभी काव्य है। इसको 'रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम्' के रूप में स्वीकार किया जा

सकता है और इस 'शब्द' में 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' का भाव भी मूलतः सन्निहित है।[२]

काव्य-सौन्दर्य की यह भावना पाश्चात्य मतों से भी प्रतिपादित होती है। इस प्रकार काव्य कवि की स्वानुभूति है: भाषा के माध्यम से उपस्थित की हुई रूपात्मक अभिव्यक्ति है और इस काव्य की अभिव्यक्ति का अर्थ है संवेदनशीलता। काव्य का सौन्दर्य अनुभूति, अभिव्यक्ति तथा प्रभावात्मक संवेदना तीनों से ही संबन्धित है। भारतीय अलंकार, ध्वनि तथा रस सिद्धान्तों में विभिन्न प्रकार से काव्य-सौन्दर्य के स्तरों की व्याख्या की गई। परन्तु इन तीनों का समन्वय ही काव्य में सौन्दर्य हो जाता है।

काव्यानुभूति

§३—पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों ने अनुभूति को काव्य सौन्दर्य में महत्त्व पूर्ण स्थान दिया है। वहाँ अधिकांश विद्वानों ने काव्य की व्याख्या विषयि पक्ष की मनस्-परक दृष्टि से की है और इसमें कवि की अनुभूति की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। इसका उल्लेख जब संस्कारवादी आचार्य करते हैं, तब वे इसे जीवन संबन्धी अन्तर्दृष्टि मानते हैं। परन्तु स्वच्छंदवादी विचार-धारा में उसे कवि की व्यक्तिगत भावात्मक अनुभूति माना गया है। भारतीय सिद्धान्तों में कवि की स्वानुभूति की उपेक्षा की गई है, अर्थात् कवि के मनस्-परक पक्ष की, काव्य की विवेचना में अवहेलना हुई है। काव्य के व्यापक विस्तार में कवि के मानसिक पक्ष के दो प्रमुख रूप मिलते हैं। एक तो विषय रूप वस्तु-जगत् जिससे कवि प्रभाव ग्रहण करता है और दूसरा उसी का मानसिक पक्ष जो स्वतः प्रभाव-स्थिति है। किसी भी मनःस्थिति के लिए कोई आलंबन-रूप वस्तु-विषय आवश्यक है। परन्तु यह विषय केवल भौतिक प्रत्यक्ष-बोध के रूप में नहीं वरन् मानसिक कल्पनात्मक स्थितियों में भी रह सकता

---

२. रसगंगाधर; पंडितराज जगन्नाथ (पृ० ४) काव्यालंकार; भामह।

है। इस विषय के भी दो रूप हैं। एक तो भौतिक स्वरूप में वस्तु या व्यक्ति; दूसरे मानसिक स्थिति में वस्तु का गुण या व्यक्ति का आचरण। इन मानसिक स्थितियों को वस्तु या व्यक्ति से संबन्धित उच्च-मूल्यांकन समझना चाहिए जो उनके रूप के साथ सम्मिलित कर लिए गए हैं। इसके आधार में सौन्दर्य्य के साथ सत्य और शिव भी सम्मिलित हैं और यह शिव कुछ नहीं केवल सामाजिक विकास का अध्यन्तरित रूप है। परन्तु कवि की स्वानुभूति की मनः स्थिति में व्यक्ति तथा वस्तु इसी प्रकार चित्रित होते हैं। समझने के लिए राम के व्यक्तित्व में स्वरूप और चरित्र दोनों को ले सकते हैं। जब हम राम का विचार करते हैं, उस समय राम सुन्दर हैं और अच्छे (चरित्र) भी हैं। उनके सौन्दर्य्य में दोनों ही रूप समन्वित होकर आते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि वस्तु की यह विशेषता तो मानसिक है फिर इसमें व्यक्ति अथवा वस्तु का अलग उल्लेख क्यों किया गया है। जब हम किसी वस्तु के सीधे सम्पर्क में होते हैं एक सीमा तक ऐसा कहना सत्य है। परन्तु जब वस्तु या व्यक्ति अपने गुण अथवा आचरण के साथ मानसिक परप्रत्यक्ष में उपस्थित होते हैं, उस समय उनको अनुभूति की स्थिति के साथ विषय या आलंबन भी माना जा सकता है। समष्टि का यह रूप मानसिक आश्रय पर भावानुभूति के अन्य रूप धारण करता है और बाद में वस्तु को भी दूसरी रूप-रेखा प्रदान करता है। परन्तु आचरण और गुणों का यह मूल्यांकन भाव-स्थितियों से विकसित होकर भी ज्ञान के समीप है और सौन्दर्य्य की रूपमयता में ही कवि की अनुभूति का विषय बनता है।

वस्तुतः किसी भी मानसिक स्थिति में विषय और विषयि, आलंबन और आश्रय को अलग नहीं किया जा सकता। यहाँ विवेचना की सुविधा के लिए ही इन पर अलग अलग विचार किया गया है। स्थिति के अनुसार आश्रय का मानसिक दृष्टिकोण भी बदलता है। वैसे एक प्रकार से कवि अपनी अनुभूति की समस्त स्थितियों का आश्रय ही है।

इन्द्रिय-वेदन की प्रथम स्थिति में केवल संवेदनात्मक प्रेरणाएँ ही मानसिक अनुभूतियाँ हो सकती हैं, परन्तु कवि की मनःस्थिति के स्तर पर परप्रत्यक्ष भी मानसिक भावों और अनुभावों को रूप प्रदान करते हैं। फिर ये भाव दूसरे वस्तु-विषय को प्रभावित कर उनको भिन्न प्रकार से रूप दान करते हैं। कभी कभी इस भाव-स्थिति की विषय-वस्तु मानस में दूसरे भावों को उद्दीप्त करने में सहायक होती है। यह बात वस्तु और व्यक्ति दोनों के विषय में विभिन्न परिस्थितियों के साथ लगती है। वस्तु के उदाहरण में—लाल कमल प्रेम का प्रतीक है, परन्तु रति के आधार पर वह अन्य भाव-स्थिति भी उत्पन्न कर सकता है। व्यक्ति में इसी प्रकार एक आचरण दूसरे भाव की उद्भावना कर सकता है। राम के सौन्दर्य के साथ वीरत्व का योग है, साथ ही यह वीरत्व भक्ति का आधार भी बन जाता है। फिर इसके अतिरिक्त समस्त आचरणात्मक शिव और वस्तु का रूपात्मक सत्य मानसिक सौन्दर्यानुभूति में विभिन्न रूप धारण कर सकता है। वीरता सुन्दर हो जाती है, सुन्दरता सत्य हो जाती है। इन समस्त मूल्यों का सौन्दर्य अनुभूति का रूप ही है।

§४—अधिकांश विद्वानों ने अनुभूति के साथ अभिव्यक्ति का उल्लेख किया है। वस्तुतः काव्य में अधिक व्यक्त स्थिति अभिव्यक्ति की है जो अनुभूति और प्रभावात्मक संवेदना को समन्वय की स्थिति में प्रस्तुत करती है। कदाचित् इसीलिए काव्य की व्याख्या करनेवाले शास्त्रियों का ध्यान विशेष रूप से अभिव्यक्ति पर केन्द्रित रहा है। काव्य का अनुभूति तथा संवेदनात्मक (प्रभाव) पक्ष इसके अन्तर्गत कर दिया गया है। भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने अलंकार में सौन्दर्य को काव्य की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है। ध्वनि के विस्तार में तो समस्त काव्य का रूप अभिव्यक्ति रूप में आजाता है। रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत 'शब्द' तथा 'वाक्य' की स्वीकृति में

काव्याभिव्यक्ति

काव्य के अभिव्यक्त पक्ष को स्वीकार किया गया है। और रीति काव्य की अभिव्यक्ति का स्वरूप है।[3] विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों ने भी अभिव्यक्ति को काव्य का मुख्य रूप माना है। वर्डस्वर्थ काव्य को स्वाभाविक सशक्त भावों का प्रवाह कहते हैं और शेली के अनुसार साधारण अर्थ में काव्य की परिभाषा कल्पना की अभिव्यक्ति के रूप में की जा सकती है। इसी प्रकार हैज़लिट कल्पना और वासना की भाषा को काव्य कहते हैं।[4]

क—जिस काव्य के मनस् परक विषयि-पक्ष का उल्लेख पिछले अनुच्छेद में किया गया है, वह सर्व-साधारण की मनःस्थिति से संबन्धित अनुभूति है। साधारण व्यक्ति और कवि में भेद अवश्य है, पर वह साधारण मानस-शास्त्र का नहीं है। कवि की स्वानुभूति की विशेषता उसकी अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा तथा साधना का परिणाम है। इसके द्वारा वह सूक्ष्म स्थितियों तथा मनोभावों तक पहुँच जाता है और उनसे संबन्धित अनुभूति को अपने मानस में रोक भी सकता है। परन्तु प्रमुख बात है उसमें अभिव्यक्ति की आन्तरिक प्रेरणा, जिससे रोकी हुई अनुभूति को व्यक्त करने के लिए वह प्रयत्नशील होता है। काव्य की अभिव्यक्ति में शब्द भाव के रूपात्मक प्रतीक हैं। ये शब्द ध्वनि के आधार

भाव-रूप

---

३ वामन के अलंकार सूत्र में 'काव्यं खलु ग्राह्यमलङ्कारात्' ।१। सौन्दर्य्य-मलंकारः ।२। (प्र०)। आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक में; 'काव्यस्यात्मा ध्वनि-रिति' (प्र०)। विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।३।' (प्र०)। पंडितराज जगन्नाथ के रसगंगाधर में—'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।' (प्र०)। वामन के काव्यालंकार सूत्र में—'रीतिरात्मा काव्यस्य' ६ (प्र०)।

४ वर्डस्वर्थ के 'प्रिफेस टु लिरिकल बैलेडस्' में; पी० बी० शेली के 'ए डिफेन्स ऑव पोइट्री' में तथा डब्लू० हेज़लिट के 'लेक्चर्स ऑन इंगलिश पोएट्स' में उल्लिखित।

पर बनते हैं। शब्द में अर्थ-रूप का संयोग एक प्रकार की अभिव्यक्ति है। संस्कृत के आचार्यों ने इसी बात को ध्यान में रखकर 'शब्दार्थौ' को काव्य का रूप स्वीकार किया है। शब्द में सन्निहित भाव-बिंब एक बार परप्रत्यक्ष रूप ग्रहण करता है, जिसमें वस्तु के रूप का आलंबन भी सम्मिलित रहता है। परन्तु ये परप्रत्यक्ष रूप अभिव्यक्ति के पहले ध्वनि (शब्द) बिंब ग्रहण करते हैं। भाषा के विकास के साथ यह कहना तो कठिन है कि भाषा अपने भावात्मक रूप में कब कल्पना-रूपों से हिल मिल गई। परन्तु अब तो कल्पना-रूप भाषा के साथ ही हमारे मानस में स्थिर है। भाषा के शब्दों में परप्रत्यक्ष उसकी भावमयी कल्पना में अपना आधार ढूँढ़ते हुए वस्तु के साथ उपस्थित होते हैं। इसी प्रकार भाषा के वस्तु-रूपों में भावात्मक अनुभूति का संयोग भी आरम्भ से होता रहा है। भाषा के रूप के साथ वस्तु के रूप की स्थिति सरल और सुरक्षित है—वृक्ष कहने के साथ रूप का बोध हो जाता है। भाषा की प्रारम्भिक भावुकता धीरे-धीरे कम होती गई है। प्रारम्भ में प्रत्यक्ष-बोध में जो प्रभाव 'वृक्ष' शब्द के साथ सम्मिलित था, वह रूप से अलग होता गया। अन्त में स्वानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए व्यंजना के माध्यम से अन्य संयोगों का आश्रय लेना पड़ता है। फिर भी समस्त अभिव्यक्ति का आधार 'शब्द' का अर्थ ही है।

ख—शब्द में मानसिक भाव बिंब के अतिरिक्त ध्वनि-बिंब भी होता है और ध्वनि-बिंब का अभिव्यक्ति में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ध्वनिबिंब

कारलाइल के अनुसार काव्य वस्तुओं की अन्तः प्रवृत्ति की अनुभूति पाने वाले मानस के संगीतात्मक विचार की अभिव्यक्ति है। शब्द लिखित रूप में प्रत्यक्ष-बोध के आधार पर रूप तथा ध्वनि दोनों प्रकार से हमारे सामने आता है। परन्तु अधिकतर शब्द के, ध्वनि से संबन्धित अर्थ में ही वस्तु-रूप के साथ भाव बिंब सन्निहित रहता है। इसी कारण ध्वनि का प्रयोग

लगभग व्यंजना के अर्थ में होता है और शब्द के अर्थ का आधार होने के कारण ही, ध्वनि का काव्य से संबन्धित गुण और रीति के सिद्धान्तों में प्रमुख स्थान रहा है। शब्द के ध्वन्यात्मक प्रयोग के लिए आवश्यक है कि यह ध्वनि-बिंब वस्तु के आधार में परप्रत्यक्ष के साथ भावुकता का संयोग स्थापित कर सके। छंद के मूल में ध्वनि की गति और लय का ही मानसिक तादात्म्य सन्निहित है।

ग—भाव-रूप तथा ध्वनि-बिंब का शब्दार्थ में सामञ्जस्य रहता है। परन्तु काव्य में शब्द के माध्यम से रूप और अर्थ की अभिव्यक्ति का समन्वय अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। सामञ्जस्य की कलात्मक व्यंजना ही काव्य का सौन्दर्य्य है।

सामंजस्य

समस्त ध्वनि-काव्य में यह सौन्दर्य की व्यजना रहती है। आलंकारिक शैली में इसी प्रकार की सौन्दर्य्य-कल्पना है।[५] यद्यपि अलंकार संलक्ष्य क्रम-ध्वनि के अन्तर्गत व्यंग्य भी होता है। इनमें यह है कि ध्वनि व्यंजित भाव-संयोगों से अधिक सबन्धित है, जब कि अलंकार वस्तु के रूप-गुण के साम्य का आधार ढूँढ कर अधिक चलता है। व्यापक दृष्टि से अलंकार में ध्वनि का और ध्वनि का अलंकार में समन्वय हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण अभिव्यक्ति की यह सम-भावना विभिन्न रूप ग्रहण करती है। परन्तु सभी का उद्देश्य एक है: अभिव्यक्ति की सम-स्थिति प्राप्त करना जिस पर अनुभूति और संवेदना सौन्दर्य्य-रूप हो जाती है। इस स्तर पर मानसिक संवेदनात्मक स्थिति केवल भाव-संयोग के आधार पर नहीं वरन कलात्मक योग और रूपों की विशेष स्थिति पर क्रियाशील होती है। अभिव्यक्ति के इसी रूप को समझाने के लिए, उसे नाना रूपों को धारण करने वाली कल्पना की उड़ान तथा असाधारण आदि कहा गया है।

§५—काव्य में एक प्रकार के आनन्द की भावना सन्निहित

---

५ दण्डी के काव्यादर्श से 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते।' (द्वि०)

है। वह सुख का रूप नहीं मानी जा सकती। सुख-संवेदनावादी सौन्दर्य-शास्त्रियों के समान कुछ विद्वानों ने इसी आधार पर काव्य की व्याख्या करने की ग़लती की है। अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में सब से अधिक सरल आनन्द प्राप्त होता है। यह आनन्द-स्थिति केवल भावों के आधार पर ही उत्पन्न नहीं हुई है। यह तो अनुभूति की व्यंजना की चमत्कृत स्थिति से संबन्धित है। परन्तु काव्य तथा कला के क्षेत्र में 'आनन्द' का आदर्श समान रूप से लागू नहीं है, क्योंकि इसमें विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूप हो सकते हैं। जिस प्रकार विकास की मनः-स्थितियों के साथ सौन्दर्य भाव विभिन्न आधार पर रहा है, ऐसी परिस्थिति काव्य के विषय में भी समझी जा सकती है। जिस विद्वान ने जिस दृष्टिकोण को महत्त्व दिया है, उसने काव्य की व्याख्या भी उसी के आधार पर की है और उसके मत में सत्य का अंश भी इसी सीमा तक है। भारतीय काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत रस-सिद्धान्त में काव्य के इस आनन्द को भावों के आधार पर समझा गया है। परन्तु यह काव्य के संवेदनात्मक प्रभाव-पक्ष की व्याख्या कहा जा सकता है; इसके आधार पर काव्य की पूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकती। इसी कारण ध्वनिवादियों ने इसको असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग के रूप में स्वीकार किया है। काव्य केवल मानवीय भावों के आधार पर नहीं रखा जा सकता। उसमें कवि की स्वानुभूति के रूप में कवि की मनःस्थिति तथा पाठकों की रसानुभूति के रूप में उनकी मनःस्थिति का व्यंजनात्मक सौन्दर्य रहता है।

काव्यानन्द या रसानुभूति

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' को मानने वाले रसवादियों की दृष्टि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से व्यक्त स्थायी भाव रूप रस में सीमित नहीं है।[१] यह परिभाषा रस-निष्पत्ति की आनन्दमयी सम-

१—जैसा मम्मट काव्यप्रकाश में कहते हैं—'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी-

स्थिति में ही पूर्ण समझी जायगी। इस स्थिति में रस कवि और पाठक दोनों की मानसिक असाधारण स्थिति से संबन्धित है। रस सिद्धान्त की व्याख्या करने वाले आचार्यों ने प्रारम्भ में काव्यानुभूति तथा साधारण भावों को एक ही धरातल पर समझने की भूल की है। बाद में रस को अलौकिक कह कर उसे साधारण भावों से अलग स्वीकार किया गया है। परन्तु रसों के वर्गीकरण में फिर यह भेद भुला दिया जाता है, वैसे यह वर्गीकरण आधार रूप स्थायी भावो को लेकर ही है। रस को लेकर यह वर्गीकरण दोषपूर्ण है और इसमें वासना के साधारणीकृत रूप को ही रस समझा गया है। सामाजिकों के हृदय में स्थायी भावों की स्थिति ठीक है; विभाव, अनुभाव तथा संचारियों के द्वारा उसकी एक साधारणीकृत स्थिति का बोध भी होता है। परन्तु रसात्मक आनन्द को समान भावों के उद्बोधन-रूप में नहीं माना जा सकता। एक स्तर पर मानसिक भाव-संयोग के द्वारा सुखानुभूति सम्भव है; परन्तु काव्यानन्द के स्तर पर तो सौन्दर्य्याभिव्यक्ति ही आनन्द का विषय हो सकती है। इस भाव-स्थिति में स्थायी-भावों का आधार केवल सामाजिक साहचर्य्य-भावना का सूक्ष्म रूप माना जा सकता है। जैसा कहा गया है रस के व्याख्या-क्रम में ये सभी स्थितियाँ मिल जाती हैं। परन्तु इन सभी मतों में रस को साधारण भावों के स्तर पर समझने का भ्रम किया गया है। प्रारम्भिक स्थिति में 'रस' का सिद्धान्त आरोपवाद और अनुमानवाद में सुखानुभूति की आत्म-तुष्टि के रूप में समझा गया है। बाद में भोगवाद और व्यक्तिवाद में आत्म तुष्टि अधिक स्पष्ट है, पर इसके साथ ही साधारणीकरण की स्वीकृति के साथ साहचर्य-भाव का रूप भी आ जाता है।[७] इसी के

भावो रसः स्मृतः।२८। (च०)

७ भट्टलोल्लट के आरोपवाद में काव्य-विषय के साथ सामाजिक आरोप कर लेता है, जिस प्रकार नट पात्र में। श्री शङ्कुक ने अनुमानवाद माना; क्योंकि

आधार पर व्यक्तिवाद की अभिव्यक्ति में सौन्दर्य्य की व्यंजना का रूप भी मिल जाता है।

आलंबन-रूप में प्रकृति

§ ६—पिछले प्रकरण में प्रकृति के सौन्दर्य्य-भाव पर विचार किया था और यहाँ काव्य को सौन्दर्य्य रूप में ही समझा गया है। इस प्रकार प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति काव्य की सौन्दर्य्य-व्यंजना का विषय सरलता से हो सकती है। प्रकृति-सौन्दर्य्य की अनुभूति के लिए कवित्वमय तथा कलात्मक दृष्टि का उल्लेख किया गया है। यही सौन्दर्य्य जब काव्य में अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण करता है, कवि की अनुभूति के साथ रूप बदलता है। प्रकृति का व्यापक विस्तार, उसका नाना रूपात्मक सौन्दर्य्य हमारी स्वानुभूति का विषय हो सकता है। परिवर्तन और गति की अनन्त चेतना में मग्न प्रकृति युगों में मानव-जीवन से हिलमिल गई है। मानव इसके क्रोड़ में विकसित हुआ है; प्रकृति के युग-युग के परिचय का संस्कार उसमें साहचर्य्य-भाव के रूप में सुरक्षित है। इन्हीं संस्कारों में कवि प्रकृति के समक्ष अनुभूतिशील हो उठता है; और अपनी कल्पना से काव्य-व्यंजना को रूप दान करता है। इस प्रकृति-काव्य में प्रकृति आलंबन होती है और कवि स्वयं ही भावों का आश्रय है। काव्य की अभिव्यक्ति में यह आलंबन रूप विभिन्न प्रकार से उपस्थित होता है। प्रकृति-आलंबन की व्यापक स्थापना से भावों को आधार मिल सकता है, और केवल आश्रय की मनःस्थिति में

प्रकृति-काव्य

[illegible] भट्ट नायक भावना [illegible] से ही रसास्वादन मानते हैं, [illegible] ध्वनि शब्द में [illegible] और साधारणीकरण को प्रतिपादित किया है। अभिनवगुप्त ने शब्द की व्यंजना-शक्ति से रसनिष्पत्ति का [illegible] स्वीकार किया है।

भावों की व्यंजना उपस्थित कर प्रकृति का संकेतात्मक स्वरूप चित्रित किया जा सकता है। साथ ही आश्रय की स्थिति में कवि उस में अपनी चेतना तथा भाव-स्थिति का प्रतिबिंब भी प्रस्तुत करता है। प्रकृति के इस आलंबन-रूप में विशेषता यह है कि इसमें आलंबन तथा आश्रय की भाव-स्थिति एक सम पर उपस्थित होती है। अगले भाग में हम देखेंगे कि संस्कृत काव्याचार्यों ने प्रकृति को आलंबन-रूप में स्वीकार नहीं किया है। इसकी विवेचना उसी स्थल पर की जा सकेगी।

स्वानुभूत सौन्दर्य चित्रण

§ ७—वनस्पति-जगत् का हलके-गहरे रंगों का छायातप, पक्षियों का स्वर-लय तरंगित संगीत, स्थिरता की दृढ़ भावना लिए आकाश में फैला हुआ पर्वत का महान् विस्तार, सरिता का निरन्तर गतिशील प्रवाह, गगन में फैली हुई उषा की अरुणाभा और रजनी का तारों से युक्त नीलाकाश, यह समस्त प्रकृति का शृंगार मानव के मन को भावों की सौन्दर्य-स्थिति प्रदान करता है। कवि अपनी अन्तर्दृष्टि से प्रकृति के सौन्दर्य का अनुभव अधिक स्पष्ट करता है और अपनी स्वानुभूति को काव्य की अभिव्यक्ति का रूप देता है। कभी-कभी कवि कथानक के पात्रों में अपनी मनःस्थिति को अध्यन्तरित कर लेता है। परन्तु प्रकृति-सौन्दर्य्य के प्रति तल्लीनता की भावना भावात्मक गीतियों में ही अधिक सुन्दर रूप से उपस्थित होती है।

आह्लाद-भाव

क—इन्द्रियों से संबन्धित प्रकृति-सौन्दर्य्य की गम्भीर अनुभूति के आह्लाद में इन्द्रिय-वेदना संबन्धी सुखानुभूति का ही आधार है। परन्तु कल्पना की गम्भीरता उसे सौन्दर्य्य का ऊँचा धरातल प्रदान कर देती है। यह आह्लाद इन्द्रिय सुख-संवेदना का ही प्रगाढ़ और व्यापक रूप है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए कवि प्रकृति के रंग-रूप, ध्वनि-आदि से युक्त सौन्दर्य्य की कल्पना गहराई से करता है और इस कल्पना में फिर प्रगाढ़ सुख की अनुभूति

का योग भी उपस्थित करता है। यह सौन्दर्य के प्रति आह्लाद की भावना गम्भीर और सूक्ष्म कल्पना का आधार लेकर विभिन्न रूप ग्रहण करती है। इसमें पूर्व उल्लिखित विकास की पृष्ठ-भूमि है। प्रसंगवश यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य के रूपों में एक दूसरे का प्रसार बहुत पाया जाता है। यहाँ विवेचना की दृष्टि से इनको अलग अलग वर्णन किया जा सका है। प्रकृति के इस आह्लादित रूप में उसके रूप का चित्रण भी आधार रूप से रहता है।

आनन्दानुभूति

ख—आह्लाद की भावना जब प्रकृति के रूपात्मक आधार को एक सीमा तक छोड़ देती है, वह इन्द्रिय सुखानुभूति से अलग सौन्दर्य की आनन्दानुभूति के रूप में व्यक्त होती है। इस प्रकृति रूप में कवि की अनुभूति भी अधिक रहती है। प्रकृति का यह सौन्दर्य रूपात्मक नहीं वरन् भावात्मक सौन्दर्य के आधार पर ही स्थित है। इस प्रकृति के सौन्दर्य सामञ्जस्य में कवि स्वयं अपने को मग्न पाता है और यह मग्नता विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है। इस आनन्द की स्थिति में कवि को प्रकृति जीवन और सौन्दर्य दान देती है और सप्राण कर उल्लसित भी करती है। इस प्रेरणा के उल्लास में कवि अपने मन में स्थित विभिन्न संचारियों तथा अनुभावों का वर्णन काव्य में करता है, प्रकृति-आलंबन का रूप केवल रेखाओं में रहता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि आनन्दानुभूति की अभिव्यक्ति संचारियों के रूप में ही हो। इस अनुभूति का चित्रण कवि व्यंजनात्मक शैली में करता है और उस स्थिति में प्रकृति के रूपात्मक प्रयोगों का आश्रय लेता है। परन्तु प्रकृति का यह रूप अन्य रूपों के साथ अधिक प्रयुक्त होता है।

ग—आनन्दानुभूति की इस स्थिति के बाद प्रकृति-सौन्दर्य कवि के मानस में प्रतिघटित होकर आत्मतल्लीनता की स्थिति में अनुभूत होता है। यह सौन्दर्य-रूप कवि के मानस और प्रकृति के सम की

अभिव्यक्ति है। इस स्थिति पर कवि प्रकृति-सौन्दर्य की चेतना भूल जाता है और उसके मन में यह सौन्दर्य आनन्द के रूप में स्वयं अभिव्यक्ति की प्रेरणा बन जाता है। आनन्दानुभूति की यह आत्मतल्लीन स्थिति प्रकृति के सर्वचेतनशील आधार पर है जो साहचर्य्य भाव की सहानुभूति से संबन्धित है। कवि की आत्मतल्लीन स्थिति में अन्य सभी भाव शांत होकर विलीन हो जाते हैं। इसकी अभिव्यक्ति में कवि शांत वातावरण उपस्थित करता है और रूपात्मक शैली का आश्रय लेता है जिसमें उल्लास के प्रतीक व्यापक तल्लीनता की व्यंजना करते हैं। प्रकृतिवादी रहस्यानुभूति की आधार-भूमि भी यही है। कभी भावों के गम्भीर तथा शांत वातावरण में प्रकृति सौन्दर्य की आत्मलीन अनुभूति, अपनी उच्च आधार-भूमि के कारण रहस्यानुभूति लगती है।[८]

आत्मतल्लीनता

§८—कवि प्रकृति की अनुभूति के साथ अपने मानवीय जीवन का प्रतिबिंब भी समन्वित करता है। ऐसी स्थिति में प्रकृति में चेतना-शक्ति और भावों की छाया दिखाई देने लगती है। इस अभिव्यक्ति में प्रकृति मानवीय जीवन के सम पर जान पड़ती है। भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने इस आरोप को पूर्ण रसानुभूति नहीं स्वीकार किया वरन 'रसाभास' और 'भावाभास' के अन्तर्गत माना है। दूसरे भाग में संस्कृत काव्य-शास्त्र के साथ इसकी विवेचना की गई है। परन्तु यह संवेदनशील मनः

प्रतिबिंबित-सौन्दर्य चित्रण

८—प्रकृति का यह आलंबन-रूप प्रकृतिवादी काव्य तथा गीतियों में उपस्थित होता है। अपने आलोच्य युग में हम देखेंगे कि इस प्रकार के काव्य-रूपों का अभाव है। इसके न होने के कारणों की विवेचना 'आध्यात्मिक साधना में प्रकृति' नामक प्रकरणों के प्रारम्भ में की गई है। और यह रूप किस प्रकार इस साधना में अध्यन्तरित स्थिति में मिलता है, इसका उल्लेख इन्हीं प्रकरणों में यथा-स्थान किया गया है।

स्थिति रसात्मक आनन्द के समक्ष है। इसमें प्रकृति मानसिक प्रतिबिंब के रूप में भावों का आलंबन है। आश्रय की भाव-स्थिति का आरोप इस पर होता है परन्तु इस स्थिति में आश्रय के भावों का भिन्न कोई आलंबन नहीं है। आश्रय के रूप में कवि की मनःस्थिति अपने भावों का आलंबन इस सीमा में स्वयं होती है। फिर प्रकृति पर प्रतिबिंबित होकर यह भाव-स्थिति अपने आश्रय का ही आलंबन बन जाती है। उद्दीपन के प्रकृति-रूप में और इस रूप में थोड़ा ही भेद है। जब भावों का आलंबन कोई दूसरा व्यक्ति होता है उस समय इस स्थिति में प्रकृति आश्रय के भावों को उद्दीप्त करती है।

क—मानव प्रकृति को अपनी चेतना के आधार पर ही समझता है। इस कारण प्रकृति की समानान्तर स्थितियों में अपनी जीवन शक्ति का आरोप कवि के लिए सरल और स्वाभाविक है। कवि अपनी अभिव्यक्ति में प्रकृति के गतिशील और प्रवाहित रूपों को सजीव और सप्राण कर देता है। काव्य के इस रूप में प्रकृति अपने आप में लीन और क्रियाशील उपस्थित होती है, परन्तु यह मानवीय चेतना का प्रतिबिंब ही है। इस स्थिति में प्रकृति व्यापक चेतना के प्रवाह से ही सप्राण जान पड़ती है जो समान रूप से परिवर्तन और गति की शक्ति के रूप में स्थित है। काव्य की इस अभिव्यक्ति में—हिलती हुई पत्तियों में प्राणों का स्पन्दन है, बहती हुई सरिता में जीवन का प्रवाह है, पवन में शक्ति का वेग है और आकाश के चमकते तारों में जीवन की चमक है। कवि इस रूप को उद्दीपन के अन्तर्गत भी रख सकता है। इस स्थिति में कवि शक्ति या जीवन का आवाहन प्रकृति से करेगा लेकिन यह प्रेरणा किसी दूसरे आलंबन के संबन्ध को लेकर होगी।

सचेतन

ख—मानव चेतना के साथ प्रकृति मानवीय जीवन के रूप में भी अभिव्यक्त होती है। कवि प्रकृति के विभिन्न रूपों और व्यापारों में व्यापक चेतना के स्थान पर व्यक्तिगत जीवन का आरोप करता है।

और इस प्रकार प्रकृति व्यक्तिगत जीवन के संवन्धों में स्थिर होकर हमारे सामने उपस्थित होती है। प्रकृति के क्रिया-

म.नवीकरण

कलापों में मानवीय जीवन-व्यापार की झलक व्यक्त होती है। प्रकृति के मानवीकरण की भावना में पशु-पक्षी जगत् तो मानवीय संवन्धों में व्यवहार करते प्रकट ही होते हैं, वनस्पति तथा जड़ जगत् भी व्यक्ति विशेष के समान उपस्थित होता है। कवि की भावना में वृक्ष पुरुष के रूप में और लता स्त्री के रूप में एक दूसरे को आलिंगन करते जान पड़ते हैं। सरिता प्रियतमा के रूप में नीरनिधि से मिलने को आकुल दौड़ रही है। पुष्प उत्सुक नेत्रों से किसी की प्रतीक्षा करते हैं। इस प्रकार मानव के व्यक्तिगत जीवन और संवन्धों के साथ प्रकृति में मानवीय आकार के आरोप की भावना भी प्रच-लित है। साहचर्य्य के आधार पर व्यापक प्रतिविंव के रूप में प्रकृति का सौन्दर्य्य-रूप तो आलंबन है परन्तु आकार के आरोप के साथ शृंगारिक भावना अधिक प्रवल होती गई है और इस सीमा पर यह प्रकृति का मानवीकरण रूप शृंगार का उद्दीपन-विभाव समझा जा सकता है। इसमें आलंवन प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में हो सकता है। अप्रत्यक्ष आलंवन रूप प्रेयसी के होने पर प्रकृति का आरोप ही प्रत्यक्ष आलंबन का कार्य करता है। इस सीमा पर प्रकृति का आलंबन रूप मानवीकरण तथा इस प्रकृति के उद्दीपन रूप में वहुत कुछ समानता है।

ग—वस्तुतः कवि अपनी अभिव्यक्ति तथा वर्णनों में इन विभिन्न रूपों को अलग अलग करके नहीं चलता। वह अपने चित्रण में इन मुख्य रूपों को कितने ही प्रकार से मिश्रित कर देता

भ व-मश्र

है और इन मिश्रित योगों के अनेक भेद किए जा सकते हैं। परन्तु उनको उपस्थित करना न तो यहाँ आवश्यक है और न सम्भव ही। मानवीकरण के अनन्तर, इसीसे संवन्धित प्रकृति के एक रूप का उल्लेख और किया जा सकता है। मानवीय क्रिया-

व्यापारों के बाद मानवीय भावों का स्थान है। प्रकृति इनका भी प्रतिबिंब ग्रहण करती है और वह मानवीय भावों में मग्न जान पड़ती है। कवि अपनी कल्पना में विभिन्न भावों को प्रकृति पर प्रतिघटित करता है और वह उसी के भावों का प्रसरण मात्र है। इसलिए भाव-मग्न प्रकृति आश्रय (कवि) के भावों को प्रतिबिंबित करती हुई स्वयं आलंबन हो है। व्यापक सहानुभूति से प्रकृति-सौन्दर्य के आश्रय पर जो भाव कवि के मन में उत्पन्न होते हैं, उन्हीं को वह प्रकृति पर प्रसरित कर देता है और इस प्रकार साहचर्य-भावना से प्रकृति हमारे विभिन्न भावों का आलंबन हो सकती है। काव्य में प्रकृति के विभिन्न रूप हमको चिन्तित, आशान्वित और करुणासिक्त लगते हैं। प्रकृति का यह रूप स्वतंत्र आलंबन के समान उपस्थित होता है, पर पिछली मनःस्थिति के समानान्तर या वर्तमान किसी भिन्न भाव-स्थिति का सहायक होकर उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आ जाता है। हम देख चुके हैं कि पिछले प्रकृति-रूप में भी आलंबन से उद्दीपन की सीमा में जाने की प्रवृत्ति है। इसका प्रमुख कारण यह है कि हमारी भाव-स्थिति अधिकतर मानवीय संबन्धों को लेकर है। संस्कृत काव्य-शास्त्र की विवेचना के अन्तर्गत इस बात को अधिक स्पष्ट किया गया है।[१]

उद्दीपन-रूप प्रकृति

§९—अभी तक काव्य में प्रकृति के उन रूपों का वर्णन किया

---

१ इस प्रकार के प्रकृति-रूप थोड़े से विभेद के कारण आलंबन से उद्दीपन के अन्तर्गत आते हैं। इसी कारण दूसरे भाग के 'विभिन्न काव्य-रूपों में प्रकृति' तथा 'उद्दीपन विभाव में प्रकृति' नामक प्रकरणों में काव्य-रूपों का आलंबन तथा उद्दीपन को लेकर स्पष्ट भेद नहीं किया जा सका है।

गया है जिनमें कवि अपनी भावस्थिति में प्रकृति के समक्ष रहता है।

मानव-काव्य

परन्तु काव्य का विस्तार मानवीय भावों में है जो मानवीय संबन्धों में ही स्थित है। इस कारण साहित्य में मानव-काव्य ही प्रधान होता है। वैसे तो प्रकृति-काव्य में भी कवि की व्यक्तिगत भावना ही प्रधान रहती है। परन्तु जब किसी स्थायी-भाव का अन्य कोई प्रत्यक्ष आलंबन होता है, उस समय प्रकृति उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही विभिन्न रूपों में उपस्थित होती है। प्रकृति के सम्पर्क में रूप या परिस्थिति आदि के संयोग से मानवीय आलंबन प्रत्यक्ष हो जाता है, अथवा उससे संबन्धित भावों को उद्दीपन की प्रेरणा प्राप्त होती है। आश्रय की किसी विशेष भाव-स्थिति में प्रकृति अपनी साहचर्य्य भावना के कारण आलंबन विषयक किसी संबन्ध में उपस्थित होती है और प्रकृति में यह भावना आश्रय की मनःस्थिति से संबन्धित है। इस प्रकार प्रकृति की उद्दीपन शक्ति उसके सौन्दर्य्य और साहचर्य्य के साथ परिस्थिति के संयोगों पर भी निर्भर है। प्रबन्ध काव्यों में प्रकृति कथानक की परिस्थिति और घटनास्थिति आदि के रूप में चित्रित होकर उपयुक्त मनःस्थिति का वातावरण उपस्थित करती है। परन्तु जैसा पिछले विभाग में विचार किया है प्रकृति के इस रूप तथा पिछले आलंबन रूप में बहुत सूक्ष्म भेद है।

मानवीय भाव और प्रकृति

§१०—पिछले प्रकरणों की व्याख्या में हम देख चुके हैं कि प्रकृति से मानव का चिरंतन संबन्ध चला आ रहा है। उसके सौन्दर्य्य में मानवीय साहचर्य्य भावना की स्थायी रूप से प्रवृत्ति बन गई है। प्रकृति की परिस्थितियाँ भी मानव की परिचयात्मक स्मृति हैं। ऐसी स्थिति में मानव किसी भी मनःस्थिति में हो वह प्रकृति से सम स्थापित कर सकता है: साथ ही उससे भावात्मक प्रेरणा भी प्राप्त कर सकता है। अगर आश्रय में भाव की स्थिति अन्य आलंबन को लेकर होगी तो वह उस भाव को ग्रहण करती विदित होगी और इस सीमा पर वह विभिन्न

रूपों में उद्दीपन का कार्य करती है।

क—जब आश्रय के मन में भाव किसी आलंबन को लेकर छिपा रहता है और ऊपर प्रकट नहीं होता, उस समय प्रकृति उस भाव की मनःस्थिति के समानान्तर लगती है। उसका यह समानान्तर स्वरूप मनःस्थिति का संकेत भर देता है। इस प्रकृति-रूप में केवल भावों की दबी हुई उमस का वर्णन होता है। इस रूप में प्रतिबिंबित प्रकृति-स्वरूप की चेतना सन्निहित है। इनमें भेद केवल इतना है कि उसमें सम्पूर्ण जीवन की व्यापक अभिव्यक्ति प्रकृति पर छायी रहती है और इस प्रकृति के रूप में मनःस्थिति की अज्ञात भावना का संकेत भर मिलता है। बहती हुई सरिता में यदि उत्कंठा की भावना व्यक्त होती हो अथवा घुमड़ते हुए बादलों में हृदय की उमड़न की ध्वनि हो और वह भी किसी परदेशी की स्मृति को लेकर, तो यह उद्दीपन का रूप ही समझा जा सकता है। क्योंकि प्रकृति के इस रूप में अज्ञात भावना को प्रत्यक्ष में लाने का प्रयास छिपा है।

मनःस्थिति के समानान्तर

ख—इसके अनन्तर प्रकृति का सम्पर्क व्यक्त तथा अव्यक्त भावों को प्रदीप्त करता है। यह उद्दीपन की प्रेरणा कभी अव्यक्त-भाव को ऊपर लाकर अधिक स्पष्ट रूप प्रदान करती है और कभी व्यक्त भाव को अधिक तीव्र कर देती है। वसन्त का प्रसार एक ओर रति की भावना जाग्रत करता है, दूसरी ओर विरही-जनों की उत्कंठा को और भी बढ़ा देता है। इस प्रकार इससे उद्दीप्त होकर रति और उत्कंठा का भाव प्रकृति के साथ एक रूप बन जाता है। भाव स्थिति का यह व्यापार साम्य तथा विरोध के आधार पर ही चलता है। कभी प्रकृति का उल्लास मन के सम पर उसे उल्लसित करता है और कभी उसकी व्यथा के विरोध में उसे अधिक तीव्र करता है। प्रकृति का रूप कभी हमारे भावों से निरपेक्ष भी जान पड़ता है; तब भी साहचर्य-भावना की उपेक्षा के रूप में भावों

भावोद्दीपक रूप

को वह प्रभावित करती है। परन्तु इस प्रकार का संबन्ध कथानक की पृष्ठ-भूमि के रूप में ही अधिक सम्भव है।

ग—यहाँ तक प्रकृति के सीधे उद्दीपन-रूप की विवेचना हुई है। परन्तु मानवीय भावों की अभिव्यक्ति से साम्य उपस्थित कर प्रकृति उद्दीपन के अन्तर्गत आती है। भावों की अभिव्यक्ति के साथ प्रकृति का वर्णन विभिन्न रूपों में किया जा सकता है। भावों के साथ प्रकृति का रूप इन्हीं भावों को ग्रहण करके फिर उन्हीं को उद्दीप्त करने लगता है। कभी भाव अप्रत्यक्ष आलंबन के स्थान पर प्रत्यक्ष आधार लेकर व्यक्त होता है और कभी-कभी भावों की व्यजना प्रकृति में आरोप के सहारे अधिक तीव्र हो जाती है। इसी के अन्तर्गत प्रकृति से आलंबन विपयक साहचर्य संबन्ध स्थापना की भावना है। अपनी भावाभिव्यक्ति में पात्र या स्वयं आश्रय रूप में कवि प्रकृति के रूपों को कभी दूत मान लेता है और कभी प्रिय सखा। इस प्रकृति रूप के आधार में भी साम्य तथा विरोध की भावना है; वस्तुतः विरोध में भी साम्य का एक रूप ही है।[१०]

अप्रत्यक्ष आलंबन रूप (आरोप)

§११—कथानकों की साधारण परिस्थितियों तथा घटना-स्थितियों को उपस्थित करने के लिए कवि प्रकृति का वर्णन करता है। परन्तु यह चित्रण केवल वस्तु-स्थिति ही सामने नहीं उपस्थित करता; कवि इसमें भाव-ग्रहण कराने की प्रेरणा भी सन्निहित करता है। वह वर्णन की व्यंजना में आगामी भावों को उद्बोधित करता है अथवा उस चित्रण में ही भावात्मक वातावरण उपस्थित करता है। साधारण वस्तु स्थिति का चित्रण वर्णन का सरल रूप है और इसको तो आलं-

भावों की पृष्ठभूमि में प्रकृति

१०—प्रकृति-रूप के इन भेदों को दूसरे भाग के 'उद्दीपन-विभाव में प्रकृति' नामक प्रकरण में अधिक स्पष्ट किया गया है।

वन ही माना जायगा। चित्रण शैली के अन्तर्गत इसका उल्लेख आगे किया जायगा। परन्तु जब इन वर्णनों में आगे होने वाली घटना या भाव के संकेत सन्निहित हो जाते हैं, उस समय प्रकृति-रूप, आश्रय के भाव को साधारणीकरण के आधार पर ग्रहण करने वाले पाठक की मनःस्थिति को प्रभावित करता है और इस कारण यह रूप उद्दीपन के अन्तर्गत माना जा सकता है। इस रूप में प्रकृति कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल होकर कथानक की घटना को वातावरण प्रदान करती है।

क—साधारण वस्तु स्थितियों में व्यंजना व्यापार द्वारा कवि भावों की अभिव्यक्ति प्रकृति में करता है। इस प्रकार स्थान और काल की सीमाओं में वह भावात्मक वातावरण तैयार करता है। यह भावात्मकता उन भावों के अस्पष्ट संकेत हैं जो सामाजिकों के हृदय में उदय होंगे। यह व्यंजना भी भाव स्थितियों के साम्य पर आधारित है। यदि किसी करुण घटना का उल्लेख करना हुआ तो कवि वर्णना में भी करुण भाव की व्यंजना सन्निहित कर देगा। यह व्यंजना ध्वनि और आरोप दोनों के आधार पर की जा सकती है।

भाव-व्यंजना

ख—कथानक या भावों की पृष्ठ-भूमि में प्रकृति मानव सहचरी के समान उपस्थित होती है और कभी कभी वह इस सहचरण में विरोधी जान पड़ती है। इस रूप में अन्य रूपों का समन्वय हो गया है। परन्तु प्रमुखतः इसमें साहचर्य-भावना का ही उद्दीपन रूप माना जा सकता है। किसी सीमा में प्रकृति अपने समस्त उल्लास के साथ अपने सौन्दर्य में अपनी समस्त भाव-भंगिमा के द्वारा मानवीय भावों को प्रभावित करती हुई उन्हें उल्लास मग्न करती है। इसी के विपरीत मानसिक विरोध की स्थिति में वह उपेक्षाशील होकर अपने क्रिया-कलाप में स्वयं मग्न जान पड़ती है और उसकी

सहचरण की भावना

इस उपेक्षा से मानवीय भाव-स्थिति को उत्तेजना मिलती है। इतना ही नहीं, प्रकृति की कठोरता और भयंकरता का साथ मनःस्थिति के लिए उद्वेगजनक है; यह स्थिति की बाधा विरोध का ही एक रूप है।[११]

रहस्यानुभूति में प्रकृति

§१२—प्रकृति के आलंबन-रूप की विवेचना करते समय आनन्दानुभूति तथा आत्म-तल्लीनता का उल्लेख किया गया है। यह हमारी सर्वचेतन भावना का परिणाम है, जो साधारण रूप से प्रकृति में व्यापक है। इसमें अभिव्यक्ति की भाव-गम्भीरता में रहस्यानुभूति का रूप जान पड़ता है। परन्तु रहस्य की भावना में साधक अपने प्रिय की साधना करता है और लौकिक प्रेम को व्यापक आधार देकर अपने अव्यक्त प्रिय से मिलन प्राप्त करना चाहता है। इस प्रेम को व्यापक आधार देने के लिए साधक प्रकृति की प्रसरित चेतना में अपने प्रेम के प्रतीक ढूँढ़ता है। रहस्यवादी साधक अपनी अनुभूति के लिए उससे प्रतीक अवश्य ढूँढ़ता है; परन्तु उसे आलंबन मान कर अधिक दूर तक नहीं चलता। प्रकृतिवादी रहस्यवादी इसके सौन्दर्य्य को अपने प्रेम का आधार तो मानते हैं; परन्तु केवल इस सौन्दर्य्य के माध्यम से चरम-सौन्दर्य्य की अनुभूति जाग्रत करने के लिए। इस प्रकार प्रकृति उनके प्रेम का आलंबन है तो केवल प्रेम को व्यापक रूप देने के लिए है। इस प्रकार रहस्यवाद की सीमा में प्रकृति कुछ दूर तक ही आलंबन कही जा सकती है और जब प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रेम का आधार अन्य प्रेमी आलंबन हो जाता है उस समय वह उद्दीपन के अन्तर्गत ही आती है।

प्रतीक और सौन्दर्य्य

---

११ कथानक से संबन्धित होने के कारण प्रकृति के इन उद्दीपन-रूपों को विभिन्न काव्य-रूपों के अन्तर्गत ही लिया गया है।

नता है, उसमें केवल चित्रण रेखाओं में होता है। कभी कभी तो कवि भावों की व्यंजना तथा प्रकृति-चित्रण में कोई सामञ्जस्य भी नहीं स्थापित कर पाता: परिणाम स्वरूप प्रकृति की घटना-स्थितियों का उल्लेख मात्र किया जाता है और ऐसे रूप अधिकतर रूढ़िवादी होते हैं, जैसा अगले भाग में हम देख सकेंगे।

क—प्रकृति को अधिक प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित करने के लिए वस्तु-स्थिति तथा क्रिया-व्यापारों की संश्लिष्टता का प्रयोजन होता है।

संश्लिष्ट-चित्रण

परन्तु यह वर्णन केवल सत्यों के उल्लेखों में नहीं सीमित है। प्रकृति के विस्तृत स्वरूप की उन स्थितियों और क्रिया-व्यापारों को चुन कर सजाना होता है. जो अपनी रूपात्मक अभिव्यक्ति में चित्र को सजीव रूप में सम्मुख रख सकें। कुछ कवि इस चयन में असफल होते हैं, वे परम्परा के अनुसार नामों का उल्लेख कर पाते हैं। ये कवि प्रकृति का क्रिया-स्थिति रूप सजीव चित्र नहीं खींच पाते। रूप को उपस्थित करने में वस्तु तथा क्रिया की स्थितियों का भाव-संयोग उपस्थित करना आवश्यक है और भाव के साथ किसी अन्य भाव की व्यंजना भी सन्निहित की जा सकती है, जिसके आधार पर पिछले कुछ रूपों की कल्पना सम्भव है। इस प्रकार के संश्लिष्ट प्रकृति चित्र कवि अपनी सूक्ष्म प्रयावेक्षण शक्ति के आधार पर ही उपस्थित कर सकता है, जो एक सीमा तक सौन्दर्य-भाव के स्वतः आधार हैं।

ख—प्रकृति-चित्रण को अधिक व्यंजनात्मक तथा भाव-गम्य करने के लिए कवि अन्य समानान्तर चित्रों को सामने रखता है। ये चित्र

कलात्मक चित्रण

रूप तथा भाव दोनों से संबन्धित हो सकते हैं और आलंकारिक प्रयोग के रूप में उपस्थित किए जाते हैं। प्रकृति के एक रूप या उसकी एक स्थिति को अधिक व्यक्त अथवा भाव-व्यंजित करने के लिए कवि प्रकृति के अन्य रूपों का आश्रय लेता है। पाठक प्रकृति के प्रत्येक रूप से परिचित नहीं होता, इस कारण कवि व्यापक प्रकृति-चित्रों अथवा मानवीय स्थितियों आदि का

के नन्दन-वन में चिर वसन्त है, न झरने वाले फल-फूल हैं तथा मन चाही इच्छा पूर्ण करने वाला कल्पतरु है। स्वर्गीय कल्पना के रूप निश्चित आदर्शों पर युगों से चले आ रहे हैं। इसमें मानवीय कल्पना का सत्य सन्निहित है इस कारण युग युग के कवियों ने इस स्वर्ग की उद्भावना की है और वे इससे रूप ग्रहण करते रहे हैं। इसके अतिरिक्त अन्य चित्रों में भी इसके सौन्दर्य्य रूपों का प्रयोग उपमानों की योजना में हुआ है और इनके प्रयोग से कल्पना को अधिक व्यापक तथा स्पष्ट रूप मिल सका है। रूढ़ि के अन्तर्गत इन रूपों के साथ भी अन्याय हुआ है।[13]

प्रकृति का व्यंजनात्मक प्रयोग

§१४—काव्य के अन्तर्गत भाषा की भावाभिव्यक्ति और शब्द की रूप तथा भाव व्यंजक शक्ति का उल्लेख किया गया है। यह भी कहा गया है कि शब्द वर्तमान रूप में नामात्मक अधिक है, उसमें रूप तथा भाव की व्यंजना शक्ति कम है। काव्य में रूप और भाव की व्यंजना ही प्रधान है, नाम तो विचार और तर्क के लिए उपयुक्त है। काव्य की यह व्यंजना-शक्ति वर्णन-चमत्कार पर तो निर्भर है ही, परन्तु इसमें अलंकार भी सहायक होते हैं। वर्णनात्मक व्यंजना का एक रूप अलंकार भी है। वैसे पहले ही उल्लेख किया गया है कि एक प्रकार का आलंकारिक प्रयोग व्यंजना के अन्तर्गत आता है। परन्तु साम्य और विरोध के संयोग उपस्थित कर अधिकांश उपमा-मूलक अलंकार एक प्रकार से रूप या भाव की व्यंजना ही करते हैं और अलंकारों में रूप तथा

व्यंजना और उपमान

१३--मध्य-युग के काव्य में चित्रण के दृष्टि कोण से हम देखेंगे कि संश्लिष्ट-चित्रण से अधिक उल्लेखों की प्रवृत्ति है तथा कलात्मक चित्रणों से अधिक रूढ़ि का पालन मिलता है।

सीमा बनाकर रहती हैं। वस्तुओं के अतिरिक्त इन स्थितियों में भी सौन्दर्य का भाव सन्निहित रहता है। मानवीय तथा अन्य वस्तुओं की स्थितियों के सजीव वर्णनों में सौन्दर्य-दान करने के लिए इन प्रकृति-स्थितियों को उपमा, उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति आदि के उपमानों में प्रस्तुत करते हैं। इनको उपस्थित करने के लिए कवि स्वतःसम्भावी प्रकृति-रूपों को लेता है और काल्पनिक स्थितियों को भी प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार कवि प्रकृति की नवीन आदर्श-कल्पना कर सकता है, उसी प्रकार प्रकृति के उपमानों की नवीन परिस्थितियों की उद्भावना भी करता है। स्वाभाविक प्रकृति-रूप परप्रत्यक्ष के आधार पर भाव-संयोग ग्रहण करते हैं और इसी प्रकार आदर्श-रूप में काल्पनिक भाव-संयोग उपस्थित हो जाते हैं। यह आदर्श-योजना चित्र को अधिक सजीव करती है। परन्तु जब इसमें कवि विचित्रता उत्पन्न करने के लिए असम्भव और असुन्दर कल्पनाएँ जोड़ता है, वह काव्य के लिए बोझा बन जाती हैं। कभी इससे वैचित्र्य का आनन्द अवश्य मिलता है, परन्तु रूढ़िगत परम्परा में यह प्रवृत्ति काव्य को असुन्दर और दोष-पूर्ण करती है।

उपमानों में स्थिति योजना

§१७—पिछले भावों के विकास के प्रकरण में हम देख चुके हैं कि प्रकृति के प्रत्येक रूप और स्थिति में हमारे अन्तःकरण के तल पर एक भाव स्थिर हो गया है। इस कारण उपमानों के रूप में इनसे भावों की व्यंजना भी होती है। व्यापक प्रकृति-वर्णनों में ये संयोग भाव की मनःस्थिति का संकेत देते हैं परन्तु उपमान के रूप में वस्तु के रूप और उसकी स्थिति के साथ भाव-व्यंजना करते हैं इसके अतिरिक्त लाक्षणिक प्रयोगों में भी ये प्रकृति-रूप (उपमान) भाव की व्यंजना करते हैं। विभिन्न प्रकृति रूप अलग अलग भावों से संबन्धित हैं और यह भाव उनके सौन्दर्य पर ही विकसित हुआ है। लाल कमल यदि रति का प्रतीक है तो नील कमल में करुणा की भावना सान्निहित है। एक ही रूप में विभिन्न

उपमानों से भाव-व्यंजना

भावों को व्यक्त करने के लिए विभिन्न उपमानों का प्रयोग किया जा सकता है। मीन के समान नेत्र से चंचलता का भाव प्रकट होता है, तो मृगशावक के समान नेत्र से सरलता का भाव व्यक्त है। इस प्रकार स्थितियों से भी भावाभिव्यक्ति की जा सकती है। इनका प्रयोग मानसिक-स्थितियों को प्रकट करने के लिए किया जाता है। कभी कभी उपमानों की योजना से वस्तु-स्थितियों में भाव-संकेत व्यंजित होते हैं। उषाकाल का लालाभ आकाश उल्लास और प्रेम की व्यंजना करता है और सन्ध्या के गोधूली श्रान्ति तथा निराशा आदि भावों को व्यंजित करती है। कभी कभी सन्दर्भ से स्थिति में परिवर्तन होना सम्भव है।

अभी तक उपमानों का उल्लेख रूप और स्थितियों को लेकर किया गया है। परन्तु भावों के चित्रण में प्रकृति के नाना रूपों का प्रयोग उपमानों के आधार पर किया जाता है। जिस मानसिक आधार पर इनका प्रयोग होता है, वह भाव-संयोग ही है। इस प्रकार की व्यंजना भी दो प्रकार से की जा सकती है। पहले में तो भावों की व्यंजना (चित्रण के रूप में) प्रकृति उपमानों के सहारे की जाती है। पर्वत के समान चिन्ता, पवन के समान कल्पना, पारिजात के समान अभिलाषा आदि प्रयोग लाक्षणिक व्यंजना के उपमान हैं। दूसरे रूप में प्रकृति के रूपों को मनोभावों के रूप में लेते हैं। कल्पना का आकाश, आशा का प्रकाश, करुणा का सागर आदि रूपों में इस प्रकार की व्यंजना है। इनके मूल में भी जैसा कहा गया है, उपमानों के समान संयोग की भावना है। परन्तु इन लाक्षणिक व्यंजनाओं में अभ्यन्तरित रूप से सौन्दर्य की व्यंजना की जाती है।[१४]

१४--प्रकृति उपमानों की योजना में रूप तथा स्थितियों का सुन्दर प्रयोग मध्ययुग के प्रमुख कवियों में मिलता है। भाव-व्यंजना के लिए उपमानों का प्रयोग कम ही हुआ है। और भाव-चित्रण के लिए प्रकृति-उपमानों का वास्तविक प्रयोग बहुत ही कम मिलता है। आधुनिक छायावाद में ही इसका अधिक

द्वितीय भाग

हिन्दी साहित्य का मध्ययुग

(प्रकृति और काव्य)

प्रथम प्रकरण

काव्य में प्रकृति की प्राचीन परम्परा

(मध्ययुग की पृष्ठभूमि)

काव्य और काव्य शास्त्र

§ १—हिन्दी साहित्य का मध्ययुग अपनी काव्य संबन्धी प्रवृत्तियों के क्षेत्र में अपने से पहले की साहित्यिक परम्पराओं से प्रभावित हुआ है; जैसा कि स्वाभाविक है। अगले प्रकरण में हम इस युग की कुछ अन्य स्वच्छंद प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे जिसका मूल अपभ्रंश के काव्यों में भी मिलता है। परन्तु काव्य के प्रमुख आदर्शों को प्राकृत तथा अपभ्रंश के साहित्य के समान हिन्दी साहित्य ने भी संस्कृत साहित्य के काव्य से ग्रहण किया है। ऐसी स्थिति में अपने मुख्य विषय में प्रवेश करने के पूर्व संस्कृत साहित्य के काव्य और प्रकृति संबन्धी मतों की व्याख्या करना आवश्यक है। प्रथम भाग में इस बात का उल्लेख किया गया है कि मानवीय कल्पना के विकास में प्रकृति का सहयोग रहा है।

कला और काव्य का आधार भी कल्पना है इस कारण प्रकृति से इनका सहज संवन्ध सम्भव है। काव्य-शास्त्र काव्य के रूप, भाव और आदर्शों की व्याख्या करता है और इसलिए उसमें काव्य तथा प्रकृति के संवन्धों की विवेचना भी मिलती है। काव्य-शास्त्र की विवेचना में प्रकृत संवन्धी उल्लेख गौण ही रहते हैं, फिर भी उनका महत्त्व कम नहीं है। इन संकेतों में काव्य में प्रचलित प्रकृति-रूप की परम्पराएँ छिपी रहती हैं। साथ ही शास्त्रीय विवेचना की प्रवृत्तियों से आगे का साहित्य पूरी तरह से प्रभावित होता है। संस्कृत काव्य-शास्त्र की व्याख्या में उसके साहित्य के प्रकृति-रूपों की प्रवृत्तियों का ज्ञान हो जाता है और जो काव्य-ग्रंथ शास्त्रीय आदर्शों की प्रेरणा ग्रहण करते हैं उनके प्रकृति रूप तो शास्त्रीय विवेचना से अत्यधिक प्रभावित होते हैं। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में भक्ति-काव्य ने परम्परा के रूप में और रीति-काव्य ने सिद्धान्त के रूप से भी, संस्कृत काव्य के अनुसरण के साथ उसके शास्त्रीय आदर्शों का पालन भी किया है। इस अनुसरण का अर्थ अनुकरण नहीं मानना चाहिए। मध्ययुग के काव्य मे अनेक स्वतंत्र प्रवृत्तियों का विकास हुआ है, जिन पर विचार किया जायगा। लेकिन मध्ययुग ने अपने से पूर्व के काव्य और काव्य-शास्त्र से क्या प्रभाव ग्रहण किया, इसको समझने के लिए आवश्यक है कि हम संस्कृत काव्य-शास्त्र तथा काव्य दोनों में प्रकृति-रूपों पर विचार कर लें।

काव्य-शास्त्र में प्रकृति

§ २—काव्य-शास्त्र के आदर्शों के विषय में प्राच्य और पाश्चात्य शास्त्रियों का मत वैषम्य है। आदर्शों के मौलिक भेद के कारण इनके काव्य में प्रकृति संवन्धी मत भी भिन्न हैं। भारतीय आचार्यों ने प्रारम्भ से काव्य को 'शब्दार्थौ काव्यं' के रूप में स्वीकार किया है। संस्कृत के

काव्य का मनस्-परक विषयि-पक्ष

आदि आचार्य की इस काव्य संबन्धी व्याख्या को सभी परवर्ती आचार्यों ने माना है। 'शब्द' और 'अर्थ' के समन्वय को काव्य मानने में संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। 'शब्द' के द्वारा भाषा के रूपात्मक अनुकरण (मानसिक) की ओर संकेत है और साथ ही अर्थ की व्यापक सीमाओं में अभिव्यक्ति का रूप है। 'शब्द' की रूपात्मकता में और अर्थ की व्यंजना में अनुभूति की भावना भी सन्निहित है: क्योंकि कवि की स्वानुभूति के बिना 'शब्द-अर्थ' की कोई स्थिति ही नहीं स्वीकार की जा सकती। परन्तु संस्कृत काव्य-शास्त्र में कवि की इस स्वानुभूति रूप काव्य के मनस्-परक पक्ष की अवहेलना की गई है। इसके विपरीत पश्चिम में काव्य के मनस-परक विषयि पक्ष की ही अधिक व्याख्या हुई है। प्लेटो ने काव्य की विवेचना वस्तु-रूप में की थी, परन्तु अरस्तू ने काव्य और कला को 'अनुकरण' के रूप में स्वीकार किया है। यह 'अनुकरण' साधारण अर्थ में प्रकृति के रूप-सादृश्य से संबन्धित है, परन्तु वस्तुतः इसका अर्थ मानसिक अनुकरण है। आगे चल कर यही 'अनुकरण' कवि की स्वानुभूति की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण किया गया है। इसमें काव्य के मनस-परक विषयि पक्ष रूप कवि की मनःस्थिति का अधिक महत्त्व है। काव्य के वस्तु-परक विषय पक्ष को गौण स्थान दिया गया। क्रोशे के अभिव्यंजनावाद में इसी स्वानुभूति की अभिव्यक्ति की व्यापक विवेचना की गई है। महाद्वीप (योरप) और इंगलैण्ड के स्वच्छंदवादी युग के आधार में काव्य के इसी सिद्धान्त की प्रधानता थी और इस युग के गीतात्मक प्रकृतिवाद को प्रेरणा भी इसी से मिली है।[1] परन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र में अभिव्यक्ति को रूपात्मक मानकर आचार्यों ने 'शब्द-अर्थ' दोनों को 'काव्य-शरीर'

---

१ इंगलैंड में क्रोशे के सिद्धान्त का प्रतिपादन ई० एफ० कैरट और जी० कॉलिन ने किया है।

माना है।[२] इस प्रकार ये अपने दृष्टिकोण में स्पष्ट अवश्य हैं, क्योंकि इन्होंने 'काव्य-आत्मा' को स्वीकार किया है। परन्तु इन आचार्यों का ध्यान काव्य विषय के वस्तु-रूप पर ही अधिक रहा है। इसका एक कारण है। भारतीय आचार्यों में विश्लेषण की प्रवृत्ति अत्यधिक रही है और विश्लेषण के क्षेत्र में भाव और अनुभूति भी वस्तु और रूप का विषय बन जाते हैं। बाद में ध्वनिवादियों और रसवादियों ने काव्य की अभिव्यक्ति में 'आत्मा' को भी स्थान देने का प्रयास किया है। परन्तु यह तो काव्य की पाठकों पर पड़नेवाली प्रभावशीलता से ही संबन्धित है; इसमें कवि की मनःस्थिति का स्पष्ट समन्वय नहीं है। काव्य कवि की किस प्रकार की मानसिक प्रेरणा की अभिव्यक्ति है, इस ओर इन्होंने ध्यान नहीं दिया है। इस विषय में डा० सुशील कुमार दे का कथन महत्त्वपूर्ण है—"भारतीय सिद्धान्तवादियों ने अपने कार्य के एक महत्त्वपूर्ण अंग की अवहेलना की है। यह काव्य-विषय की प्रकृति को कवि की मनःस्थिति के रूप में समझकर परिभाषा बनाने का कार्य है, जो पाश्चात्य सौन्दर्य्य-शास्त्र का प्रमुख विषय रहा है।"[३] इस उपेक्षा का कारण भारतीय काव्य-शास्त्र का सूक्ष्म और शुष्क विवेचनात्मक दृष्टिकोण तो है ही, साथ ही भारतीय काव्य-कला की चिरन्तन आदर्श-भावना भी है।[४] इस विषय में संस्कृत के आचार्य

---

२ भामह (प्र० २३) दण्डी (प्र० १०)

तैः शरीरञ्च काव्यानामलङ्कारश्च दर्शिताः।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली॥

३ संस्कृत पोइटिक्स; भाग २ पृ० ६५

४ इस विषय में लेखक का 'संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रकृति का रूप' नामक लेख देखना चाहिए। भारतीय काव्य और कला का आदर्श वह सादृश्य-भावना है जो कवि के बाह्य अनुभव का फल न होकर आन्तरिक समाधि पर निर्भर है। जिसके लिए आत्म-संस्कार और आत्म-योग की आवश्यकता है।

बिलकुल अनिमिश्र हों, ऐसा नहीं है। डा० दे ने भी स्वीकार किया है कि 'स्वभावोक्ति' और 'भाविक' अलंकारों में जो अलंकारत्व है, वह वस्तु और काल की स्थितियों को लेकर कवि की मनःस्थिति पर ही स्थिर है। भामह और कुन्तल 'वक्रोक्ति' से हीन काव्य नहीं मानते, परन्तु दण्डी ने इस सत्य की उपेक्षा नहीं की है और 'स्वभावोक्ति' को अलंकार स्वीकार किया है। इन दोनों अलंकारों में कवि की वस्तु और काल विषयक सहानुभूति स्वयं अलंकृत हो उठती है। इनके अतिरिक्त काव्य-शास्त्र में कुछ और भी संकेत है जिनमें कवि की भावात्मक मनःस्थिति का समन्वय पाया जाता है, कदाचित डा० दे ने इस ओर ध्यान नहीं दिया।

संस्कृत काव्य-शास्त्र में इसका उल्लेख

§ ३—विचार करने से 'वक्रोक्ति' में भी इसी बात का संकेत मिलता है। भामह ने 'वक्रोक्ति' अथवा 'अतिशयोक्ति' को अलंकार का प्रयोजन माना है। कुन्तल ने इसी आधार पर 'वक्रोक्ति' को अधिक विकसित रूप प्रदान किया है। कुन्तल ने 'अतिशय' और 'वक्रत्व' के भाव में जो वैचित्र्य और विच्छित्ति (सौन्दर्य) का उल्लेख किया है; उसमें पाठक पर पड़नेवाले प्रभाव के अतिरिक्त कवि की मनःस्थिति का संकेत है।[५] अभिव्यक्ति के सौन्दर्य या वैचित्र्य के स्रोत की ओर ध्यान देने पर कवि की अनुभूत मनःस्थिति अवश्य सम्मुख आती। उस समय प्रकृति सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य की अनुभूति के माध्यम से अभिव्यक्ति का काव्यानन्द की परम्परा में अधिक उचित सामञ्जस्य होता। परन्तु यह तो 'वैदग्ध्यभङ्गी भणितिः' के रूप में आलंकारिक दूर की सूझ का कारण बन गया।[६] फिर भी इन काव्य-शास्त्रियों का वैचित्र्य और

५—वक्रोक्तिजीवित (प्र० २)

लोकोत्तरचमत्कारिवैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते॥

६ वक्रोक्तिजीवित; कुन्तल : प्र० ११.

सौन्दर्य्य संबन्धी उल्लेख स्वयं इस बात का साक्षी है कि इन्होंने कवि और कलाकार की अनुभूतिशील मनःस्थिति की एकान्त उपेक्षा नहीं की है। इस विषय में एक उल्लेखनीय बात और भी है। लगभग समस्त आचार्यों ने काव्य की अभिव्यक्ति के लिए कवि-प्रतिभा को आवश्यक माना है, यद्यपि इनके लिए काव्य निर्माण का विषय ही रहा है। भामह और दण्डी इसको 'नैसर्गिक' कहते हैं और 'सहज' मानते हैं। वामन 'प्रतिभा से ही काव्य का स्रोत है' स्वीकार, करते हैं और उसे मस्तिष्क की 'सहज-शक्ति' के रूप में मानते हैं। मम्मट इसी के लिए अधिक व्यापक शब्द 'शक्ति' का प्रयोग करते हैं। अभिनव इसको 'नवनिर्माणशालिनि प्रज्ञा' कहते हैं, जो 'भाव-चित्र' और 'सौन्दर्य-सजन' में कुशल होती है। आदि आचार्य भरत ने भी इसको कवि की आन्तरिक भावुकता 'अन्तर्गत भाव' के रूप में स्वीकार किया है।[७] इस 'प्रतिभा' के अन्तर्गत भी कवि की मनःस्थिति आ जाती है। कवि प्रतिभा से ही अपनी अनुभूतियों के आधार पर सादृश्य-भावना की काल्पनिक अभिव्यक्ति करता है। परन्तु आचार्यों ने 'प्रतिभा' को अनुभूति से अधिक प्रज्ञा के निकट समझा है। यद्यपि भारतीय आत्म-ज्ञान की सीमा में अनुभूति का निलय हो जाता है, परन्तु ज्ञान के प्रसार में विश्लेषणात्मक क्रियाशीलता है और अनुभूति की अभिव्यक्ति में संश्लेषणात्मक प्रभावशीलता। भरत का 'अन्तर्गत-भाव' कवि-प्रतिभा के मानसिक-पक्ष की अनुभूति से निकटतम है। इस प्रकार निश्चय ही संस्कृत के साहित्याचार्यों को काव्य के इस अनुभूति पक्ष का भान था और उसकी उपेक्षा का कारण आदर्श की विशेष प्रवृत्ति

उभ वेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥

७ भामह; काव्यालंकार (प्र० ५); दण्डी; काव्यादर्श (प्र० १०३—४); वामन; काव्यालं०(प्र० ३. १६)अभिनव;लोचन० (पृ० २९); भरत; नाट्यशास्त्र(पं०११२)

मात्र है ।

क—कारण कुछ भी हो परन्तु इस उपेक्षा के परिणाम स्वरूप उनके सामने भावात्मक गीतियों का रूप नहीं आ सका और साथ ही प्रकृति का उन्मुक्त स्वच्छंदवादी दृष्टिकोण भी नहीं ग्रहण किया जा सका। वैदिक साहित्य के बाद संस्कृत तथा पाली आदि के साहित्य में गीतियों का विकास नहीं हुआ है और न उनमें स्वच्छंद प्रकृति का रूप आ सका है। परन्तु फिर भी जिन काव्यों पर काव्य की शास्त्रीय विवेचनाओं का प्रभाव नहीं है, उनमें प्रकृति सौन्दर्य्य नाना रूपों में चित्रित हुआ है। परन्तु शास्त्र-ग्रंथों के प्रभाव में बने हुए काव्यों में तो चित्रणों में भी सहज स्वाभाविक सौन्दर्य्य का अभाव है। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में शास्त्र-ग्रंथों का प्रभाव जम चुका था और इस कारण जिस सीमा तक इस युग का काव्य संस्कृत काव्य-शास्त्रों से प्रभावित है, उस सीमा तक उसमें प्रकृति का रूढ़िवादी स्वरूप ही मिलता है। इसी दृष्टि के फलस्वरूप संस्कृत में शास्त्रीय-ग्रन्थों की सूक्ष्म विवेचना के साथ ही कवि शिक्षा ग्रन्थों का भी निर्माण हुआ था। इस प्रकार के आचार्यों में क्षेमेन्द्र, राजशेखर, हेमचन्द्र और वाग्भट्ट प्रमुख हैं। इनके ग्रन्थों में काव्य विषयक शिक्षाएँ हैं। ये विभिन्न पूर्ववर्ती काव्यों के आधार पर लिखे गये हैं। इन ग्रन्थों से प्रकट होता है कि इन काव्य-शास्त्रियों ने किस सीमा तक काव्य को अभ्यास का विषय बना दिया है। इनमें प्रकृति-वर्णन संबन्धी विभिन्न परम्पराओं का उल्लेख हुआ है और कवि के लिये इन परम्पराओं से परिचित होना आवश्यक समझा गया है।[८] आगे के कवियों ने रूढ़ि के अर्थ में ही

उपेक्षा का परिणाम

---

८ इनको 'कवि समय' कहा गया है। राजशेखर की 'काव्य मीमांसा' इस विषय में सब से स्पष्ट और विशद ग्रन्थ है। चतुर्दश अध्याय में उन्होंने (१) जाति (२) द्रव्य (३) गुण (४) क्रिया के विभाग में इन समयों को बाँटा

इन परम्पराओं को अपना लिया है। मध्ययुग के काव्य में जो प्रकृति-वर्णनों में उल्लेखों का रूढ़िवादी रूप मिलता है, वह इसी का परिणाम है।

§४—पहले भाग में संस्कृत आचार्यों की काव्य संबन्धी परिभाषाओं पर विचार किया गया है। इनमें कुछ का ध्यान अभिव्यक्ति की शैली पर केन्द्रित है और कुछ का अभिव्यक्ति के प्रभाव पर। वस्तुतः इनमें भेद ऊपर से ही है, वैसे इनमें एक दूसरे का अन्तर्भाव मिलता है। ये सभी परिभाषाएँ काव्य विषय और उसके अभिव्यक्त प्रभाव पर ही केन्द्रित हैं। आगे चलकर ध्वनि के अन्तर्गत रस ने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। रस-सिद्धान्त बाद तक अपनी पूर्णता को प्राप्त करता रहा है। परन्तु आगे चलकर, रस-निष्पत्ति के लिए जिन स्थायी-भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारियों का उल्लेख किया गया है, उन्हीं को मुख्य स्थान दिया जाने लगा। इसके विषय में यह रूढ़िवादिता भ्रामक है। रस-निष्पत्ति में स्थायी-भाव का आधार, विभाव, अनुभाव तथा संचारियों का संयोग तो मान्य है। परन्तु रस अपनी निष्पत्ति में इन सबसे संबन्धित नहीं है, वह तो अपनी समस्त भिन्नता में एक है और अलौकिक आनन्द है। इसके अतिरिक्त स्थायी-भावों की संख्या इतनी निश्चित नहीं कही जा सकती। आवश्यक नहीं है कि संचारी अपनी अभिव्यक्ति की पूर्णता में भी रसाभास मात्र रहें, वे काव्यानन्द न प्रदान कर सकें। सौन्दर्य और शान्त भाव मानव के हृदय में इस प्रकार स्थिर हो चुके हैं कि उनको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि तात्त्विक दृष्टि से

रस की व्याख्या

है। फिर स्थिति के अनुसार उनका (१) स्वर्ग्य (२) भौम (३) पातालीय में विभाजन किया गया है और ये सब समय-रूप कवि परम्पराएँ (१) अशतो-निबंधन (२) सतोऽप्यनिबन्धन और (३) नियमतः में विभाजित हैं। इन सब का वर्णन सोलहवें अध्याय तक चलता है।

विचार किया जाय तो ये रति और शम या निर्वेद के अन्तर्गत भी नहीं आ सकते। परन्तु इस ओर संस्कृत आचार्यों ने ध्यान नहीं दिया है। परिणाम स्वरूप इन दोनों भावों के आलंबन-रूप में आनेवाली प्रकृति साहित्य में केवल उद्दीपन-रूप में स्वीकृत रही। मानव के मन में सौन्दर्य की भावना सामञ्जस्यों का फल है और यह भाव रति स्थायी-भाव का सहायक अवश्य है। परन्तु रति से अलग उसकी सत्ता न स्वीकार करना अतिव्याप्ति दोष है। उसी प्रकार शान्त केवल निर्वेद-जन्य संसार से उपेक्षा का भाव ही नहीं है, वरन् भावों की एक निरपेक्ष स्थिति भी है। सौन्दर्य भाव और शान्त भाव मनःस्थिति की वह निरपेक्ष स्थिति है जो स्वयं में पूर्ण आनन्द है। वस्तुतः अन्य रस भी अपनी निष्पत्ति की स्थिति में उसी धरातल पर आ जाते हैं जहाँ मनःस्थिति निरपेक्ष आनन्दमय हो जाती है। यह एक प्रकार से भाव-सौन्दर्य के आधार पर ही सम्भव है। इन भावों के आलंबन-रूप में प्रकृति का बिखरा हुआ राशि राशि सौन्दर्य है, इससे अनुभूति ग्रहण कर कवि अपनी अभिव्यक्ति का एक बार स्वयं आश्रय बनता है और बाद में पाठ करते समय पाठक ही आश्रय होता है। हम कह चुके है कि इन भावों को आचार्यों ने स्थायी भाव नही माना है और साथ ही उनके विचार से प्रकृति केवल उद्दीपन विभाव में आती है। इस दृष्टिकोण का प्रभाव संस्कृत-साहित्य के प्रकृति-रूपों पर तो पड़ा ही है, हिन्दी के मध्ययुग में भी प्रकृति का स्वतंत्र रूप से उन्मुक्त चित्रण इसीशास्त्रीय परम्परा के पालन करने के फलस्वरूप नहीं हो सका है।

उद्दीपन-विभाव

क—आचार्य भरत ने रस निष्पत्ति के लिए विभाव, अनुभाव और संचारियों का उल्लेख किया है। निष्पत्ति विषयक मतभेदों के होते हुए भी इस विषय में सभी आचार्य एक मत हैं। विभाव के अन्तर्गत ही उद्दीपन विभाव में प्रकृति का रूप आता है। कुछ आचार्यों ने उद्दीपन के चार भाग करके प्रकृति को तटस्थ स्वीकार किया है; इस प्रकार प्रकृति के विषय में उनका बहुत

संकुचित मत रहा है।[१] रस सिद्धान्त के रूढ़िवादी क्षेत्र में स्थायी-भावों की सीमाएँ निश्चित हो जाने पर यदि प्रकृति केवल भावों को उद्दीप्त करने वाली रह गई तो आश्चर्य नहीं। वस्तुतः प्रकृति अपने नाना रूप-रंगों में आदि काल से ही मानवीय भावों को प्रभावित करती आई है। इस पर पहले भाग में विचार किया गया है। यद्यपि भावों की स्थिति मनस् में ही है, पर उनको उद्भूत और संवेदनशील करने के लिए प्रकृति के इन्द्रिय ज्ञान और मनः साक्षात् की आवश्यकता है। आज भी प्रकृति एक ओर हमारी स्थिति और हमारे भावों को आधार प्रदान करती है और दूसरी ओर वह भावों के विकास में सापेक्ष, निरपेक्ष तथा उपेक्षाशील होकर सहायक होती है। यही कारण है कि प्रकृति को व्यापक रूप से उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत मानने की भूल आचार्यों के द्वारा हुई है। यद्यपि एक दृष्टि से इसमें सत्य भी है। पर इस एकांगी विश्लेषण से काव्य में प्रकृति रूपों की सीमा

---

१ प्रतापरुद्रयशोभूषण: श्रीविद्यानाथ कृत (रस प्रकरण पृ० २२२)

अथ विभावः

विभावः कथ्यते तत्र रसोत्पादनकारणम्।
आलम्बनोद्दीपनात्मा स द्विधा परिकीर्त्यते॥

रसार्णवसुधाकर; श्री शिङ्गभूपालः (पृ० १६२, ८७, ७८, ८६)

अथ शृंगारस्योद्दीपनविभावः

उद्दीपनं चतुर्धा स्यादालम्बनसमाश्रयम्।
गुणचेष्टालङ्कृतयस्तटस्थाश्चेति भेदतः॥

अथ तटस्थाः

तटस्थाश्चन्द्रिका धारागृहचन्द्रोदयावपि।
कोकिलालापमाकन्दमन्दमारुतषट्पदाः॥
लतामण्डपभूगेहदीर्घिकाजलदारवाः।
प्रासादगर्भसङ्गीतक्रीडाद्रिसरिदादयः॥

भी संकुचित हुई है और इसका प्रभाव हमारे आलोच्य युग के काव्य पर भी पड़ा है।

ख—इसी के साथ संस्कृत काव्याचार्यों की एक प्रवृत्ति का उल्लेख कर देना आवश्यक है। मनस् ही प्रकृति के रूपों को भावात्मकता प्रदान करता है और हम देख चुके हैं कि इस क्रिया प्रतिक्रिया में मानव अपने विचार को अलग नहीं कर सकता। यही कारण है कि जब वह प्रकृति-रूपों को भावों में ग्रहण करता है, प्रकृति अनुप्राणित हो उठती है और उसकी अभिव्यक्ति में वह मानवीय आकार में भी कभी कभी उपस्थित होती है। इस प्रकार के भावारोपों तथा आकार क्रिया आदि के आरोपों को साहित्य-शास्त्री रस के अन्तर्गत न लेकर 'रसाभास' और 'भावाभास' के अन्तर्गत मानते हैं।[10] कहा गया है, रस अपने स्तर पर एक रस है, सम है उसमें कमी और अधिकता का प्रश्न व्यर्थ है। परन्तु आचार्यों को वर्गीकरण करना था और उनके सामने उनका दृष्टिकोण भी था। पर आनन्द में स्तर हो सकते हैं विभिन्नता नहीं। इस दृष्टि के परिणाम के विषय में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।

आरोप

§५—संस्कृत के प्रारम्भिक आचार्यों ने काव्य विवेचना में अलंकारों को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। काव्य के समस्त स्वरूप में

---

१० काव्यानुशासनवृत्ति; वाग्भट्ट (अ० ५ पृ० ५९)

तत्र वृत्तादिष्वनौचित्येनारोप्यमाणौ रसभावौ रसभावाभासतां भजतः।

काव्यानुशासन; हेमचन्द्र (पृ०.१०१)

नरिन्द्रयेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासौ।

हेमचन्द्र ने आगे (१) संभोगाभास (२) विप्रलम्भाभास में वर्गीकरण कर के इसके उदाहरण भी दिये हैं।

अलंकारों में उपमान योजना

अलंकारों का स्थान भले ही गौण हो परन्तु उसके अन्तर्गत जो प्रारम्भ से ही सौन्दर्य की भावना सन्निहित रही है वह महत्त्वपूर्ण है।[११] काव्यानन्द समष्टि रूप प्रभाव है, उसमें अलग अलग करके यह कहना यह काव्य है और यह सहायक है बहुत उचित नहीं है। विवेचना के लिए ऐसा स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः अलंकार भी काव्य के अन्तर्गत है और उनके उपमानों का सौन्दर्य-स्रोत प्रकृति का व्यापक सौन्दर्य है। जब अलंकारों के द्वारा भाव या सौन्दर्य का व्यंग्य होता है; उस समय तो ध्वनिकार इनको संलक्ष्यक्रम गुणीभूत व्यग्य के अन्तर्गत लेकर काव्य स्वीकार भी करते हैं। अलकारों में उपमानों की प्रकृति योजना 'सादृश्य' के आधार पर सौन्दर्य का अन्तर्निहित व्यंग्य रखती ही है, उसके लिए अन्य व्यंग्य की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। बाद में अलंकारों में उक्ति वैचित्र्य की भावना बढ़ती गई है। इस प्रकार अलंकारों की संख्या में तो वृद्धि हुई है, पर इनमें कलात्मक सादृश्य की सौन्दर्य भावना नहीं पाई जाती। काव्य शास्त्रियों ने इनको आभूषण बना डाला है। इस प्रवृत्ति से बाद का सस्कृत साहित्य और हिन्दी का मध्ययुग दोनों ही बहुत अधिक प्रभावित हैं।

§६—प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि हिन्दी साहित्य के मध्य युग में संस्कृत की काव्य रीतियों का बहुत कुछ प्रभाव रहा है। संतों को छोड़कर भक्ति काल की सभी परम्पराओं के कवि इन साहित्यिक रीतियों से परिचित थे।

हिन्दी काव्य-शास्त्र

---

११ काव्यादर्श; दण्डी;

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते।

साहित्य-दर्पण; विश्वनाथ;

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥

कृष्ण-भक्ति के प्रमुख कवि सूर, और तुलसी दोनों ही में काव्य की शास्त्रीय मान्यताओं को प्रत्यक्ष रूप से ढूँढ़ा जा सकता है और मध्य-युग के उत्तर-काल में संस्कृत काव्य-शास्त्र की विभिन्न रीतियों का अनुसरण किया गया है। इस काल की शास्त्रीय विवेचनाओं में मौलिकता के स्थान पर परम्परा पालन और कवित्त्व प्रदर्शन ही अधिक है। ऐसी स्थिति में उनसे काव्य संवन्धी किसी मौलिक मत की आशा नहीं की जा सकती। इस युग में हिन्दी साहित्य के आचार्यों ने किसी विशेष मत का प्रतिपादन नहीं किया है। काव्य में प्रकृति के विषय में इन्होंने संस्कृत आचार्यों का मत स्वीकार कर लिया है और वर्णनों में उनकी परम्पराओं को मान लिया है। केशव को छोड़कर इन कवि-आचार्यों ने प्रकृति को रस के अन्तर्गत उद्दीपन-विभाव में रख दिया है। कृपाराम उद्दीपन के विषय में लिखते हैं —

"उद्दीपन के भेद वहु सखी वचन है आदि।
समयसाजलों वरनिये कवि कुल की मरजादि" ॥[१२]

देव ने भी गीत नृत्य आदि के साथ प्रकृति को भी उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत ही रखा है,—

"गीत नृत्य उपवन गवन आभूषन वनकेलि।
उद्दीपन शृंगार के विधु वसन्त वन वेलि" ॥[१३]

भिखारीदास ने अपने काव्य-निर्णय में रस को ध्वनि के अन्तर्गत रखा है और प्रकृति को विभाव के उदाहरण में प्रस्तुत किया है।[१४] सैयद ग़ुलाम नवी ने विभाव के विभाजन के अनन्तर उद्दीपन के अन्तर्गत षट-ऋतु वर्णन किया है 'अथ उद्दीपन में षट-ऋतु मध्ये वसन्त ऋतु

---

१२ हिततरंगिनी; ११

१३ भाव-विलास

१४ निर्णयकाव्य-निपोथ; भिखारीदास (पृ० २२)

नहीं वरन् समस्त क्षेत्रों में पाई जाती है। यही प्रवृत्ति ऋतु काव्यों, दूत काव्यों और मुक्तकों के वर्णनों में भी पाई जाती है। प्रकृति की वर्णनात्मक योजना प्रबन्ध काव्यों (रामायण और महाभारत) में पात्र और घटना की स्थितियों के अनुसार की गई है।[१७] आगे चल कर अश्वघोष और कालिदास के महाकाव्यों में प्रकृति-चित्रण कथानक की मानवीय परिस्थितियों और भावों के सामञ्जस्य के आधार पर हुए हैं।[१८] परन्तु बाद के कवियों के सामने प्रकृति का उद्दीपन-रूप में प्रयोग ही अधिक प्रत्यक्ष होता गया है। यद्यपि इनके काव्यों में प्रकृति-वर्णनों के लिए सम्पूर्ण सर्ग प्रयुक्त हुए हैं।

क—किसी रूप में क्यों न हो, भारतीय काव्यों में कथा के साथ इन वर्णनाओं को स्थान मिलने का एक कारण है और वह

सांस्कृतिक आदर्श

भारत की अपनी सांस्कृतिक दृष्टि है। विश्वकवि रवीन्द्र ठाकुर का कथन है: "वर्णना, तत्त्व की आलोचना और आवान्तर प्रसंगों से भारतीय कथा-प्रवाह पग पग पर खण्डित होने पर भी प्रशान्त भारतवर्ष की धैर्य्य च्युति होते नहीं दीख पड़ती।" इसका कारण है कि भारतीय कथानकों में उत्सुकता से अधिक रोचकता का ध्यान दिया जाता है। आदर्शों के प्रति आकर्षण ही रहता है उत्सुकता नहीं और भारतीय काव्य तथा कला का सिद्धान्त आदर्श रूपों को उपस्थित करना रहा है। इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य जन साहित्य न होकर ऊँचे स्तर के लोगों का साहित्य रहा है. कथानक के प्रति उत्सुकता जन मस्तिष्क को ही होती है, पंडित-वर्ग तो वर्णना-सौन्दर्य्य में ही मुग्ध होता है। इस वर्णना के अन्तर्गत प्रकृति भी अपने समस्त रूप-रंगों में आ जाती है। महा-प्रबन्ध काव्यों

१७--महाभारत; कैरात-पर्व ३८ रामायण; अरण्य-काण्ड के अनेक स्थल।

१८--सौन्दरानन्द; प्रथम, षष्ठ सर्ग : कुमारसम्भव, प्रथम सर्ग; रघुवंश, प्रथम सर्ग।

में प्रकृति दृश्यों के वर्णन स्थान स्थान पर स्वयं में पूर्ण तथा अपनी स्थानगत विशेषताओं के साथ उपस्थित हुए हैं। ये वर्णन घटनाओं से सीधे संबन्धित न होकर भी जीवन के प्रवाह में अपना स्थान रखते हैं। वस्तुतः भारतीय साहित्य में जीवन सरिता का गतिमान् प्रवाह न होकर विस्तार में फैले हुए सागर की हिलोरें हैं जिनमें गति से अधिक गम्भीरता और प्रवाह से अधिक व्यापकता है। यही कारण है कि रामायण ही में मार्गस्थ प्रकृति के दृश्यों में राम के और चुपचाप बैठकर प्रकृति के फैले हुए रूपों को देखने का पूरा प्रयास है।[१९] वर्णना की यह भावना तो सदा बनी रही है, पर इसका पूर्ण-कलात्मक विकसित स्वरूप, बाण की 'कादम्बरी' के प्रकृति-स्थलों में आता है। इनमें घटना-स्थिति की ओर लाने में पूरा धैर्य दिखाया गया है, साथ ही परिस्थिति तथा वातावरण के सामञ्जस्य में वस्तु स्थितियों के चित्र क्रमिक एकाग्रता के ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं।[२०] जीवन में प्रकृति का स्थान केवल स्थूल आधार के रूप में ही नहीं है; वह मानसिक चेतना के साथ कभी छायी रहती है और कभी उसमें प्रसरित होती लगती है। ऐसी स्थिति में घटना की परिस्थितियों के साथ प्रकृति सामञ्जस्य के रूप में भी महाकाव्यों में प्रस्तुत की जाती है। पाश्चात्य महाकाव्यों में प्रकृति का यह रूप अधिक मिलता है। संस्कृत में कालिदास इस प्रकार के सामञ्जस्य पूर्ण प्रकृति-वर्णन के मुख्य कवि हैं। इनके बाद किसी सीमा तक अश्वघोष और भारवि के काव्यों में भी इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं।[२१]

---

१९ अरण्य-काण्ड, सर्ग ११, मार्ग में राम-लक्ष्मण; सर्ग १५ पंचवटी; अयोध्या-काण्ड, सर्ग ११९, सन्ध्या-वर्णन।

२० विन्ध्य अटवी के वर्णन से शाल्मली-स्थित कोटर तक का वर्णन।

२१ बुद्ध-चरित, प्रथम-सर्ग, जन्म के अवसर पर; चतुर्थ सर्ग, स्त्री-निर्माण; किरातार्जुनीय, चतुर्थ-सर्ग-हिमालय की यात्रा।

ग—बाद के अन्य कवियों में कथानक के साथ वर्णनों के सामञ्जस्य की भावना कम होती गई। इस शिथिलता के साथ वर्णन वैचित्र्य और उद्दीपन की रूढ़िगत प्रवृत्ति बढ़ती गई। फिर साहित्याचार्यों द्वारा उल्लिखित—

रूढ़िवाद

"नगरार्णवशैलर्तुचंद्रार्कोदयवर्णनैः।
उद्यानसलिलक्रीड़ामधुपानरतोत्सवैः॥"[२२]

को ही दृष्टि में रखकर वर्णनों को यत्र-तत्र जमाने का प्रयास किया गया है। इन कवियों में माघ, बुद्धघोष, जानकीदास तथा श्री—हर्ष जैसे कवि भी हैं।[२३] इनके काव्यों में प्रकृति-चित्रण के संबन्ध में किसी भी प्रसंग-क्रम का कोई भी ध्यान नहीं रखा गया है। ऐसे वर्णनों में कथानक का सूत्र छूट जाता है, केवल वर्णना का आनन्द मात्र रह जाता है।

द—वर्णना स्वयं एक शैली नहीं कही जा सकती वह तो अभिव्यक्ति की व्यापक रीति भर है। वर्णना कितनी ही शैलियों के आधार पर की जा सकती है। शैली से हमारा तात्पर्य काव्यों में प्रकृति के रूपों को भावगम्य करने के लिए प्रयुक्त रीतियों से है। इनमें शब्दों की विभिन्न शक्तियों, भाषा की व्यंजना शक्ति और आलंकारिक प्रयोगों के द्वारा वर्णित विषय को मनस् में भाव-ग्रहण के लिए प्रस्तुत किया जाता है। कला और काव्य में भारतीय आदर्श-भावना का जो विकास हुआ है, उसका सत्य प्रकृति वर्णन के इतिहास में भी छिपा है। भारतीय साहित्य में प्रकृति-वर्णन में भी आरम्भ से ही अनुकरण के अन्दर सादृश्य (Image) की भावना थी। बाद में सादृश्य के आधार पर कल्पनात्मक आदर्शवाद

वर्णना शैली

---

२२ काव्यादर्श; दण्डी

२३ इन सब कवियों ने सर्गों के सर्ग में प्रातः, सायं तथा ऋतुओं आदि का वर्णन किया है।

की सृष्टि हुई है। फिर इस कल्पनात्मक आदर्शवाद में वैचित्र्य का समन्वय होकर कला का रूप कृत्रिम हो उठा है; सौन्दर्य का स्थान आश्चर्य जनक विचित्रता ने ले लिया और कल्पना का स्थान दूर की उड़ान ने ग्रहण किया। इस प्रकार रूप-सादृश्य के स्थान पर केवल शब्द-साम्य पर ध्यान दिया जाने लगा। परम्परा का यह रूप क्रमिक रूप से संस्कृत के प्रकृति वर्णन के इतिहास में मिलता है। महाभारत के प्रकृति-रूपों में वस्तु, परिस्थिति और क्रिया-व्यापार का वर्णन उल्लेखात्मक ढंग से हुआ है, जिनमें रेखा-चित्रों की संश्लिष्टता पाई जाती है। इन चित्रों में प्रकृति के अनुकरणात्मक दृश्यों की सुन्दर उद्भावना है। इस अनुकरणात्मक योजना में केवल वस्तु तथा स्थितियों के चुनाव में आदर्श-भाव का संकेत है। परन्तु आदि कवि ने अपने नायक को जिन प्राकृतिक क्षेत्रों में उपस्थित किया है, उन स्थलों का वर्णन कवि ने विशद रूप से स्वयं किया है या पात्रों से कराया है। इन वर्णनों में वस्तु क्रियादि स्थितियों की व्यापक संश्लिष्टता है। परन्तु साथ ही भावात्मक और रूपात्मक सादृश्यमूलक अलंकारों द्वारा प्रकृति वर्णनों का विस्तार भी 'रामायण' में मिलता है। अश्वघोष के 'बुद्ध चरित' तथा 'सौन्दरानन्द' में, और कलिदास के 'रघुवंश' तथा 'कुमारसम्भव' में यह संश्लिष्टात्मातमक वर्णन-योजना मिलती अवश्य है, परन्तु उनमें वस्तु तथा भाव को चित्रमय बनाने की प्रवृत्ति अधिक होती गई है। वस्तु और भाव दोनों को चित्रमय बनाने के लिये इन कवियों ने अधिकतर सादृश्य का आश्रय लिया है। महाकवि कालिदास में स्वाभाविक चित्रमयता का कलात्मक रूप बहुत सुन्दर है। प्रकृति के एक चित्र से दूसरे चित्र को सादृश्य के आधार पर प्रस्तुत करने में वे अद्वितीय हैं। उन्होंने उपमा और उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग इसी मनोवैज्ञानिक आधार पर व्यंजना और अभिव्यक्ति के लिए किया है। प्रकृति-चित्र उपस्थित करने में अलंकारों का यह कलात्मक प्रयोग 'सेतुबन्ध' में भी हुआ है। केवल भेद इस बात का है कि इसमें स्वाभाविक रूप से

स्वतःसम्भावी सादृश्य योजना के स्थान पर काल्पनिक कवि-प्रौढ़ोक्ति सिद्ध सादृश्यों की योजना ही अधिक है। इसमें ऐसे रूप-रंगों की जो स्वाभाविक हैं विभिन्न काल्पनिक स्थितियों में योजना की गई है। फिर भी कला का यह आदर्श नितान्त कृत्रिम नहीं कहा जा सकता, इसकी रूपात्मकता और व्यंजना मानसशास्त्र के आधार पर हुई है। भारवि के 'किरातार्जुनीय' में अन्य प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं परन्तु इसमें काल्पनिक चित्रों को असाधारण बनाने की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। और इसमें वह प्रवरसेन के 'सेतुबंध' और माघ के 'शिशुपालवध' के समान है। साथ ही भारवि में चमत्कार की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होने लगती है। यह कल्पना आदर्श तभी तक कही जा सकती है, जब तक प्रस्तुत चित्रमयता के आधार में भाव की या रूप की कुछ व्यंजना हो। परन्तु जब साधारण असाधारण में खो जाता है, हम स्वाभाविक रूप या भाव को न पाकर केवल चकित भर होते हैं, आनन्द मग्न नहीं। बुद्धघोष के पद्यचूड़ामणि' में आदर्श-कल्पना के सुन्दर चित्रों के साथ असाधारण का भाव भी आने लगा है। कुमारदास के 'जानकी-हरण' में प्रकृति-वर्णन की शैली अधिकाधिक कष्ट-कल्पनाओं से पूर्ण होती गई है। इसमें अलंकारवादियों की भद्दी प्रवृत्ति का प्रवेश अधिक पाया जाता है, जो आगे चलकर माघ और श्रीहर्ष के काव्यों में क्रमशः चरम को पहुँच गई है। आलंकारिता की सीमा तक 'जानकीहरण' की उत्प्रेक्षाओं और उपमाओं में भाव को स्पर्श करने की शक्ति है। परन्तु माघ और श्रीहर्ष में बौद्धिक चमत्कार की ओर अधिक रुचि है। इनकी चमत्कृत उक्तियों में अलंकार का आधार कल्पना की स्वाभाविक प्रक्रिया से उत्पन्न सहज-चित्र नहीं हैं वरन् चमत्कार की भावना में ही है। कुमारदास उत्प्रेक्षाएँ भाव-वस्तु के चित्रों को प्रस्तुत करने के लिए भी प्रयुक्त करते हैं और उस सीमा में वे भारवि के समकक्ष ठहरते हैं। माघ आदर्श रंग-रूपों के द्वारा असाधारण, फिर भी स्वाभाविक चित्रों की उद्भावना में प्रवरसेन की प्रतिभा

को पहुँचते हैं। उनमें यद्यपि उक्ति-वैचित्र्य अधिक है फिर भी वे प्रकृति के अधिक निकट हैं और श्रीहर्ष प्रकृति के स्थान पर मानवीय-भावों के पंडित हैं। श्रीहर्ष के पांडित्य ने उनका सर्वत्र ही साथ दिया है, इस कारण उनके प्रकृति-वर्णनों में चरम का उक्ति-वैचित्र्य है जिसमें प्रकृति के रूप की सहजता बिलकुल खो गई है। यद्यपि यहाँ प्रकृति-वर्णन के प्रसंग में ही इस प्रकार शैली की परम्परा का रूप दिखाया गया है : फिर भी यह आदर्श और शैली की संबन्धात्मक परम्परा प्रकृति के सभी प्रकार के रूपों में समान रूप से पाई जाती है। चाहे प्रकृति का मानवीकरण रूप हो या उद्दीपन रूप हो, यह शैली का विकास सभी जगह मिलेगा।[२४]

प्रकृति-रूपों की परम्परा

§९—प्रथम भाग में कहा जा चुका है मानव और उसकी कला के विकास में प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति का पूरा हाथ रहा है। मानव के जीवन में सौन्दर्य की स्थापना करके उसे कला-त्मक बनाने का श्रेय भी उसके चारों ओर फैली हुई प्रकृति को ही मिलना चाहिए। इस सौन्दर्यानुभूति का आलंबन है प्रकृति, उसका व्यापक सौन्दर्य। परन्तु जब प्रकृति हमारे अन्य भावों पर प्रभाव डालती हुई विदित होती है, उस समय उसका उद्दीपन-रूप होता है। संस्कृति के काव्याचार्यों ने प्रकृति को उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत माना है परन्तु संस्कृत काव्यों की विशद शृंखला में सभी प्रकार के प्रकृति-रूप आते हैं। यहाँ एक बात को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। प्रकृति में ही हमारा जीवन व्यापार चल रहा है, इस प्रकार मानव के आकार, स्थिति और भावों के तादात्म्य-संबन्ध

आलंबन का संभ

२४ इस विषय में लेखक का 'संस्कृत काव्य में प्रकृति-वर्णन की शैलियाँ' नामक निबन्ध देखना चाहिए।

के लिए और साधरणीकरण के लिए भी आधार-रूप से प्रकृति का वर्णन आवश्यक होता है। इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन एक ओर पृष्ठभूमि के रूप में भावों को प्रतिध्वनित करते हैं और साथ ही दूसरी ओर उनका प्रभाव मानसिक भावों पर भी पड़ता है। फिर प्रकृति कभी वस्तु आलंबन के रूप में और कभी भाव आलंबन के रूप में उपस्थित होती है। शुद्ध उद्दीपन विभाव में आनेवाली प्रकृति का रूप इससे भिन्न है, जिसमें प्रकृति केवल दूसरे भावों को उद्दीप्त करने की दृष्टि से चित्रित होती है।

§१०—संस्कृत साहित्य में प्रकृति का उन्मुक्त आलंबन रूप कम है, जिसमें भाव का आश्रय कवि या पाठक ही होता है। प्रकृति को

उन्मुक्त आलंबन

आलंबन मानकर कवि अपनी भाव-प्रवणता में प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति से अविभूत भावनाओं की अभिव्यंजना प्रकृति-चित्र की रूप-रेखा के साथ करता है। परन्तु इस प्रकार के मनस्-परक प्रकृति-चित्र संस्कृत साहित्य में बहुत ही कम हैं। यह प्रकृति का प्रभावात्मक रूप गीतियों में अधिक व्यक्त हो उठता है। प्रकृति को पाकर कवि स्वयं अनुभूतिशील होता है और उस समय वह केवल भावों की अभिव्यक्ति कर पाता है, प्रकृति के चित्र या तो रेखा-रूप में आधार प्रदान करते हैं या भावों को व्यंजित करते हैं। संस्कृत साहित्य में ऐसे गीति-काव्य का अभाव है, यद्यपि वैदिक साहित्य प्रकृति के उल्लास में डूबा हुआ ही विदित होता है। परन्तु यह उन्मुक्त भावों का काव्य-रूप जिसमें रूप से भाव-पक्ष अधिक होता है, संस्कृत की साहित्यिक परम्पराओं में नहीं आ सका है। सम्भव है उस समय की जन-गाथाओं में ऐसे गीत हों जो आज हमारे सामने नहीं हैं। संस्कृत साहित्य में इस भावना ने अन्य रूपों में अभिव्यक्ति का माध्यम ढूँढा है।[२५] वाल्मीकि रामायण में कहीं कहीं प्रकृति के उन्मुक्त आलं-

---

२५ इस विषय में लेखक का 'गीति-काव्य में प्रकृति का रूप और संस्कृत साहित्य'

वन चित्रों के साथ इस सौन्दर्यानुभूति की व्यंजना अवश्य आ जाती है। प्रकृति की वर्णना में कभी कभी पात्र की मनःस्थिति का रूप भी मिला हुआ है। काव्यों में तो इस प्रकार की व्यंजना पात्रों की पूर्व मनःस्थिति के उद्दीपन रूप में ही हुई है और या इस प्रकार के वर्णनों में आरोप की प्रवृत्ति अधिक है। कथानक के साथ प्रकृति का स्वतंत्र आलंवन जैसा रूप अवश्य मिलता है। उस समय या तो पात्र स्वयं ही वर्णन करते हैं और या वे वर्णनों से अलग अलग रहते हैं। संस्कृत के महाकाव्यों में घटनाओं द्वारा कथानक के विकास से अधिक ध्यान वर्णन-सौंदर्य पर दिया जाता रहा है। इस कारण ये भी वर्णन-प्रसंग वस्तु-स्थिति और भाव-स्थिति दोनों के आधार न होकर स्वतंत्र लगते हैं। आदि काव्य में ऐसे वर्णनों को अधिक स्थान मिल सका है; उसमें दृश्यों की चित्रमय योजना की गई है। रामायण में वस्तु-स्थिति, परिस्थिति और व्यापार-स्थिति के साथ वातावरण की योजना में रूप-रंग, ध्वनि-नाद, आकार प्रकार और गंध-स्पर्श के संयोगों द्वारा चित्रों को स्पष्ट मनस्-गोचर बनाने का प्रयास किया गया है। पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि साधारण चित्रमय वर्णनों को आलंकारिक योजना द्वारा व्यंजनात्मक बनाने का प्रयास चलता रहा है जो आगे चलकर रूढ़ि और वैचित्र्य की प्रवृत्ति में दिखाई देता है। साथ ही स्वतंत्र वर्णनों को उद्दीपन की व्यापक-भावना के अन्तर्गत ही चित्रित करने की प्रवृत्ति का भी विकास होता गया है। यद्यपि पिछले महाकाव्यों में भी सर्ग के सर्ग सन्ध्या, प्रातः और ऋतु आदि के वर्णनों में लगाए गए हैं और उनका कोई विशेष संवन्ध भी कथा के विस्तार से नहीं लगता। फिर भी समस्त वर्णन व्यापक उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं।

§ ११—पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकृति पृष्ठ-भूमि के रूप

नामक निवन्ध देखना चाहिए (विश्व-भारती पत्रिका, श्रावण-आश्विन, २००३।

पृष्ठ-भूमि : वस्तु-आलंबन

में भी कभी वस्तु-आलंबन के रूप में और कभी भाव आलंबन के रूप में उपस्थिति होती है। प्रकृति समस्त मानवीय स्थितियों को आधार प्रदान करती है। अपने परिवर्तित रूपों में समय और स्थान का ज्ञान प्रस्तुत करती है। इन रूपों में प्रकृति स्वतंत्र आलंबन नहीं है, परंतु स्थितियों के प्रसार में समवाय रूप से आलंबन अवश्य है। महाभारत में प्रकृति के रूप अपने रेखा चित्रों में इसी प्रकार के हैं। ये चित्र पात्र की वस्तु-स्थिति और मार्ग के स्वरूप वातावरण आदि को सम्मुख लाने के लिए हैं। रामायण में भी इस प्रकार के वर्णन स्थान-स्थान पर आए हैं। ये चित्र वन-गमन-प्रसंग के बाद के हैं। राम वन में विचरण कर रहे हैं, उस समय उनके मार्ग का और उसमें स्थित वन, पर्वत, निर्झरों का चित्र सम्मुख रखना स्थितियों की विभिन्न रेखाओं को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक था। रामायण में समय और स्थान का वर्णन भी है जो अधिकांश स्थलों पर स्वतंत्र रूप में ही है। इसी स्वतंत्र प्रवृत्ति के कारण ही कदाचित् बाद के कवियों ने प्रातः, सायं, सूर्योदय, चन्द्रोदय तथा ऋतु वर्णनों के रूप किसी वस्तु-स्थिति आदि के आधार नहीं हो सके। क्रमशः इनका संबन्ध कथानक की घटनाओं की पृष्ठ-भूमि में या पात्रों की स्थितियों के आधार रूप में नहीं के बराबर होता गया। कालिदास और अश्वघोष के काव्यों में इस प्रकार के वर्णनों का संबन्ध किसी सीमा तक आलंबन की भावना से है। स्थान आदि के वर्णन इसी वस्तु आलंबन के अन्तर्गत हुए हैं; यद्यपि अपनी परम्परागत प्रवृत्ति के फलस्वरूप शैली में भेद अवश्य है। संस्कृत के नाटकों में समय और स्थान के इस प्रकार के आलंबन-चित्र पात्रों और घटनाओं को आधार प्रदान करने के लिए किए गए हैं। बाण की 'कादम्बरी' में प्रकृति की विस्तृत चित्र योजना अपनी समस्त पूर्णता में घटना-स्थल स्पष्ट करने के लिये ही हुई है और वह वस्तु-आलंबन की सुन्दरतम उदाहरण है। यद्यपि इन चित्रों में इतनी पूर्णता

और इतना सौन्दर्य-विस्तार है कि वे स्वयं स्वतंत्र-आलंबन लगते हैं। परन्तु चित्र अपने क्रमिक-विकास में विशेष घटना-स्थिति की ओर चित्र-पट के दृश्यों की भाँति घूमते, केन्द्रित होते आते हैं। भारवि के 'किरातार्जुनीय' में अर्जुन के मार्ग का वर्णन भी किसी किसी स्थल पर इसी प्रकार का है।

भाव आलंबन

क—कभी कभी कवि प्रकृति के चित्रों को किसी मनःस्थिति विशेष की पृष्ठ-भूमि के रूप में प्रस्तुत करता है अथवा प्रकृति में पात्र विशेष के मनःस्थित-भावों को प्रतिध्वनित करता है। ऐसी स्थिति में प्रकृति भाव आलंबन के रूप में उपस्थित होती है। यह प्रकृति की पृष्ठ-भूमि किसी मनोभाव से निरपेक्ष होकर भी भाव-आलंबन के रूप में रह सकती है, क्योंकि प्रकृति-सौन्दर्य में भावानुभूति के अनुकूल स्थिति उत्पन्न कर देने की शक्ति है। संस्कृत काव्यों में इस प्रकार का प्रकृति का भाव-आलंबन रूप कम है और जो चित्र हैं उनमें प्रकृति अनुकूल स्थिति में ही है—वह कभी पात्र का स्वागत करती जान पड़ती है और कभी छिपे हुए उल्लास की भावना व्यंजित करती है। कालिदास ने 'रघुवंश' में और भारवि ने 'किरातार्जुनीय' में कुछ ऐसे प्रकृति के रूप दिए हैं। इनमें कहीं कहीं तो केवल पाठक की मनःस्थिति को भाव के अनुरूप बनाने का प्रयास है और कहीं प्रकृति स्वय इस भाव को प्रकट करती जान पड़ती है। मानवीय भावों के समानान्तर प्रकृति के चित्रों को उपस्थित करना भी इसी भाव आलंबन की सीमा में आ जाता है। कालिदास ने 'रघुवंश' में प्रातःकाल का वर्णन और ऋतु का वर्णन राजा के ऐश्वर्य के समानान्तर प्रस्तुत किया है। ये वर्णन भाव-आलंबन हैं क्योंकि प्रकृति के रूप-व्यापार उसी भाव में आत्मसात् हो जाते हैं। साथ ही स्वयंवर-प्रसंग के प्रकृति संबंधी संकेतात्मक वर्णन भी वस्तु-आलंबन और भाव-आलंबन के अन्तगत आ जाते हैं जिनमें किसी स्थान-काल का

दास के 'मेघदूत' में जो मधुर-भावना है वह अन्यत्र नहीं है। प्रकृति से सहचरण की भावना का स्रोत मानव की स्वच्छंद प्रवृत्ति में ही है। आदि प्रबन्ध-काव्य में राम सीता का समाचार प्रकृति से पूँछते हैं; महाभारत में भी दमयन्ती नल का समाचार प्रकृति के नाना रूपों से पूछती फिरती है। 'अभिज्ञान शाकुंतल' का सौन्दर्य प्रकृति की सहचरण-भावना में ही सन्निहित है। भवभूति के 'उत्तर राम-चरित' में प्रकृति के प्रति यही भावना प्रकृति-रूप पात्रों की उद्भावना भी करती है; और प्रकृति के चित्र तो इस भावना से अनुप्राणित हैं ही। 'विक्रमोर्वशीय' में इसी भावना के आधार पर एक अंक की समस्त वातावरण संबन्धी आयोजना की गई है जो अपने सौन्दर्य में अद्वितीय है।

विशुद्ध उद्दीपन विभाव

§ ३—शुद्ध-उद्दीपन के अन्तर्गत आने वाले प्रकृति के वर्णन भाव की किसी पूर्व स्थिति को उत्तेजित करते हैं। ऐसी स्थिति में प्रकृति कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल चित्रित होती है। निरपेक्ष प्रकृति भी भावों की उद्वेगशील स्थिति में उद्दीपन का कार्य करती है। संस्कृत साहित्य में अधिकांश रूप से पहले दो रूप ही पाये जाते हैं। रामायण में वियोगी राम के द्वारा पम्पासर का वर्णन प्रकृति का निरपेक्ष रूप प्रस्तुत करता है। इस स्थल पर प्रकृति का निरपेक्ष रूप राम के हृदय में दो मनोभावों का समानान्तर सामञ्जस्य उपस्थित करता है। परन्तु इस स्थल पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति ने राम के मनोभाव को अधिक गम्भीर रूप से पाठक के सामने नहीं प्रस्तुत किया। प्रकृति के उद्दीपन का स्वाभाविक रूप भी रामायण में पाया जाता है। प्रकृति के परिवर्तित स्वरूप अपने संयोगों के साथ वेदना को घनीभूत करते हैं। महाकवि अश्वघोष के 'सौन्दरानन्द' में प्रकृति अपनी अनुकूल रूप-रेखा में वियोगी हृदय के साथ व्याकुल है। कुछ स्थलों पर कालिदास ने प्रकृति-चित्रों की उद्भावना स्वाभाविक रीति से ही भावों को उद्दीप्त करने के लिए की है। 'कुमारसम्भव' में वसन्त-वर्णन अपने समस्त

वर्णन में उद्दीपन के रूप में प्रकृति का सुन्दरतम उदाहरण है। विध्वस्त अयोध्या और देवपुरी का वर्णन इसी दृष्टि से हुआ है। पहले ही कहा जा चुका है कि उद्दीपन रूप में प्रकृति मनोभावों को अधिक प्रगाढ़ करने में सहायक होती है, साथ ही अनुप्राणित प्रकृति की सहचरण भावना में जो आरोप की भावना है वह भी उसी प्रवृत्ति से संबन्धित है। इस कारण प्रकृति के उद्दीपन रूप के वर्णन मिश्रित हैं। बाद के कवियों में प्रकृति का उद्दीपक स्वरूप भी रूढ़िवादी होता गया है। ये कवि प्रकृति के समस्त वर्णनों को उद्दीपन के रूप में ही खींच ले जाते हैं। महाकाव्यों में कथा-प्रसंग से अलग केवल काल्पनिक नायिकाओं को पृष्ठभूमि में लाकर प्रकृति के उद्दीपन रूप को उपस्थित किया गया है। यह उद्दीपन की प्रवृत्ति प्रारम्भ से पाई जाती है, क्योंकि मानवीय स्वच्छंद भावना में भी किसी अदृश्य नायिका का रूप विद्यमान रहता है। रामायण के सुन्दर-काण्ड के वर्णनों में यह भावना पाई जाती है; साथ ही कालिदास के 'ऋतुसंहार' में भी सारी उद्दीपन की भाव धारा किसी अदृश्य प्रेयसी को लेकर ही है। परन्तु बाद के कवियों ने वस्तु-वर्णन और काल वर्णन को केवल इसी दृष्टि से प्रस्तुत करना आरम्भ किया था। यह प्रवृत्ति अपनी रूढ़िवादिता में यहाँ तक बढ़ी कि वर्णन-प्रसंगों में प्रकृति की भिन्न वस्तुओं का उल्लेख करके ही नामों का एक साथ वर्णन किया जाने लगा। और कभी कभी तो इन स्थलों पर केवल मानवीय मधु क्रीड़ाओं का वर्णन मात्र प्रस्तुत हो उठता है। कलात्मक रूढ़िवादिता ने संस्कृत काव्यों को कभी उन्मुक्त वातावरण नहीं दिया जिसमें प्रकृति का स्वतंत्र आलंबन रूप या उद्दीपन रूप ही विशुद्ध हो सकता। ये काव्य अधिकाधिक कृत्रिम और अस्वाभाविक होते गये हैं। उनमें भावात्मकता के स्थान पर बौद्धिक भावना है और वर्णनों की चित्रमयता और भावशीलता के स्थान पर चित्रण कल्पना और स्थूल आलंकारिता अधिक आती

गई है।[२७]

§१४—पिछली विवेचना में कहा जा चुका है कि स्वाभाविक मानसशास्त्र के आधार पर अलंकारों का प्रयोग भाव और वस्तु को अधिक स्पष्टता से अभिव्यक्त करने के लिए होता है। बाद में अलंकारों में वर्णन-वैचित्र्य का कितना ही विकास क्यों न हो गया हो परन्तु उनकी अन्तर्निहित प्रवृत्ति अभिव्यक्ति को अधिक व्यंजनात्मक करने की रही है। साहित्य में प्रकृति की चित्रमय योजना के द्वारा आलंकारिक प्रयोगों से वस्तु-स्थिति परिस्थिति और क्रिया-स्थितियों को वातावरण के साथ अधिक भाव-गम्य बनाया गया है। इसके लिए जिन स्थलों पर प्रकृति के एक चित्र को स्पष्ट करने के लिए दूसरे दृश्य का आश्रय लिया गया है, वे चित्र सुन्दर बन पड़े हैं। ऐसे प्रयोग वाल्मीकि में भी मिलते हैं; परन्तु अश्वघोष और कालिदास में इनका विकास हुआ है। कालिदास में अलंकारों के ऐसे चित्रमय प्रयोग सर्वश्रेष्ठ बन पड़े हैं। भारवि और प्रवरसेन में अलंकारों का यह रूप रहा है, यद्यपि कल्पना अधिक जटिल होती गई है। माघ में यह प्रवृत्ति कम होती गई है। इन प्रयोगों में कहीं स्वतःसम्भावी रूपों की योजना का आश्रय लिया गया है और कहीं कवि प्रौढोक्ति सम्भव काल्पनिक रूपों की, जो अपने रंग-रूपों, आकार-प्रकार तथा ध्वनि-गंध के संयोग में विभिन्न स्थितियों के आधार पर सम्भव हो सकते हैं। भारवि और माघ में प्रकृति उपमानों की योजना का यही दूसरा रूप अधिक पाया जाता है। इसके अतिरिक्त अलंकारों में मानवीय स्थितियों और क्रियाओं से भी साम्य उपस्थित किया गया है। इसमें अलंकारों में प्रकृति का प्रयोग मानवीकरण के रूप में होता है और कहीं रूप को ही भावात्मक बनाने के लिए। बाद में इसमें भी

अलंकारों में उपमान

---

२७ विशेष विस्तार से 'संस्कृत काव्य में प्रकृति' नामक लेखक की पुस्तक में विचार किया गया है। (जो शीघ्र प्रकाशित होगी)

कृत्रिमता और असाधारण की प्रवृत्ति आ गई है।

क—अलंकारों में प्रकृति का उपयोग उपमानों के रूप में होता है इसके अन्तर्गत मनोविज्ञान के साथ ही सौन्दर्य्य भाव का भी अन्तर्भाव है। सादृश्य और संयोग के आधार पर सुन्दर और रमणीय भाव की अभिव्यक्ति करनेवाला अलकार एक शैली है। वाल्मिकि, कालिदास अश्वघोष और भास के अलंकारिक प्रयोगों में अधिकतर इस सौन्दर्य्य भाव का विचार मिलता है। परन्तु बाद में अलंकारों में वैचित्र्य-भावना के विकास के साथ ही वस्तुत्व की विचित्र कल्पना और प्रेयत्व की कार्य-कारण संबन्धी ऊहात्मकता का आरोप होता गया। संस्कृत काव्यों की परम्परा में जो व्यक्ति या वस्तु के लिए प्रयुक्त उपमानों का सत्य है, वही वस्तु-स्थिति, परिस्थिति और क्रियास्थिति संबन्धी उपमानों की योजना के विषय में भी सत्य है। संस्कृत के कवियों में कला से कृत्रिमता की ओर कल्पना से ऊहा की ओर जाने की प्रवृत्ति समान रूप से सभी क्षेत्रों में पाई जाती है।

सौन्दर्य्य मे वैचित्र्य

ख—प्रकृति के विभिन्न रूपों के साथ हमारा भाव-संयोग भी होता है जिसका आधार हमारी अन्तर्वृत्ति की सौन्दर्यानुभूति है। इसी के

सकते हैं, परन्तु अपनी सामूहिक चेतना में वे रूढ़िवादी ही हैं। [२८]

§ १५—संस्कृत की काव्य-शास्त्र संबन्धी परम्परा तथा उसके काव्य के विभिन्न रूप हिन्दी-साहित्य के मध्ययुग की भूमिका के समान हैं। परन्तु हम आगे देखेंगे कि यह भूमिका साहित्य के आदर्शों तक ही सीमित है। अन्य क्षेत्रों में इस युग के साहित्य ने स्वतंत्र रूप से विभिन्न क्षेत्रों से प्रेरणा ग्रहण की है। संस्कृत-साहित्य के बाद के काव्य के समानान्तर प्राकृत और अपभ्रंश का साहित्य भी है। इन साहित्यों का एक भाग तो धार्मिक चेतना से पाली के समान ही प्रभावित रहा है। प्राकृत साहित्य में संस्कृत काव्यादर्शों का अनुकरण अधिक दूर तक हुआ है। अपभ्रंश-साहित्य में संस्कृत साहित्य के आदर्शों का पालन तो मिलता है, पर एक सीमा तक इसमें स्वच्छंद प्रवृत्तियों का समन्वय भी हुआ है। यह भावना जन-जीवन के सम्पर्क को लेकर ही है। परन्तु अपभ्रंश के काव्यों में (जिनमें प्रमुखता जैन काव्यों की है) धार्मिक प्रवृत्ति तथा साहित्यिक आदर्शों के अनुसरण के कारण स्वच्छंदवाद को पूरा अवसर नहीं मिल सका। इस कारण उसमें प्रकृति संबन्धी किसी परम्परा का रूप स्पष्ट नहीं हो सका है। अगले प्रकरण में हम देखेंगे कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में काव्य को एक बार फिर अधिक उन्मुक्त वातावरण मिला।

हिन्दी मध्य युग की भूमिक

मूलक सिद्ध किया है और मध्ययुग की भक्ति-भावना को साहित्यिक रूप में स्वीकार किया है।[२] स्वाभाविक रूप से राजनीतिक स्थिति तथा भारत में इस्लाम धर्म के प्रवेश का प्रभाव मध्ययुग के साहित्य पर अवश्य पड़ा है। इस युग के साहित्य पर जो प्रभाव इनका पड़ा है, उस पर आगे विचार किया जायगा। परन्तु इस युग की व्यापक भूमिका में युग की काव्य-प्रवृत्तियों को समझने के लिए आवश्यक है कि मध्ययुग की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के साथ दार्शनिक, धार्मिक तथा कलात्मक पृष्ठ-भूमि को भी प्रस्तुत कर लिया जाय। वस्तुतः हिन्दी मध्ययुग का साहित्य इस सांस्कृतिक चेतना के आधार पर विकसित हुआ है।

श्रृंखला की कड़ी

§२—इस विषय में एक बात का उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। अभी तक हम मध्ययुग के साहित्य के साथ संस्कृत साहित्य की बात सोचने के अभ्यस्त रहे हैं। इस युग के साहित्य के पूर्व अपभ्रंश तथा प्राचीन हिन्दी का विशाल साहित्य है। चारण काव्यों के रूप में प्राचीन हिन्दी का बहुत कम साहित्य हमारे सामने है। भारतीय साहित्य की श्रृंखला की यह कड़ी अभी तक उपेक्षित रहा है और इस कारण हिन्दी मध्ययुग की काव्यगत परम्पराओं की पूरी रूप-रेखा हमारे सामने नहीं आ सकी है।[३] धार्मिक भाव-धारा के विषय में भी पहले इसी प्रकार सन्देहात्मक स्थिति थी। इसी परिस्थिति के कारण ग्रियर्सन ने भक्ति को मध्ययुग की आकस्मिक वस्तु के रूप में समझा था। इधर दक्षिण के आलवारों की भक्ति परम्परा के प्रकाश में आने पर तथा सिद्धों और नाथों के

बाबू श्यामसुन्दरदास इसी मत के हैं। डा० रामकुमार भी राजनीतिक कारण को महत्त्व देते हैं।

२ हिन्दी-साहित्य की भूमिका;

३ राहुल सांकृत्यायन; हिन्दी काव्य-धारा की भूमिका।

दिखाई पड़ती हैं। इस युग में, दर्शन, धर्म तथा समाज आदि क्षेत्रों में रूढ़ि का विरोध हुआ और नवीन आदर्शों की स्थापना हुई। इस वातावरण के निर्माण के लिए तत्कालीन राजनीतिक स्थिति अनुकूल हुई। मुसलमान शासक विदेशी होने के कारण अपने धर्म के पक्षपाती होकर भी यहाँ कि परिस्थिति के प्रति उदासीन थे। मध्ययुग के पूर्व ही कुमारिल तथा शंकर ने बौद्धों को परास्त कर दिया था और राजपूत सामन्तों की सहायता से हिन्दू-धर्म का पुनरुत्थान हो चुका था। परन्तु न तो जनता के जीवन से बौद्धों का प्रभाव हट सका और न हिन्दू-धर्म की स्थापना से सामाजिक व्यवस्था का रूप ही निश्चित हो सका था। ऐसी स्थिति में राज्य-शक्ति भी विदेशी हाथों में चली गई। फिर तो धर्म को सामाजिक व्यवस्था का आधार बनाए रखना और अद्वैत दर्शन से धर्म के साधना पक्ष का प्रतिपादन करना दोनों ही कठिन हो गया। परिणाम स्वरूप उस समय एकाएक दर्शन, धर्म और समाज सभी को जनरुचि का आश्रय ढूँढना पड़ा। इसका अर्थ है इनको अपनी व्यवस्था की रूप-रेखा प्रचलित समाज की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर देनी पड़ी। साहित्य जीवन की जिन समष्टियों की अभिव्यक्ति है, वे सभी अपना संतुलन जन-जीवन के व्यापक प्रसार से कर रहीं थीं।

क—ऐसी स्थिति में मध्य-युग के साहित्य को जन-आन्दोलन के स्वच्छंद झोंके ने एक बार हिला दिया।[5] संस्कृत साहित्य की संस्कार-

स्वच्छंद वातावरण

वादी परम्परा में स्वच्छंदवाद को उन्मुक्त वातावरण नहीं मिल सका था। अपभ्रंश साहित्य में एक बार उसने प्रवेश करने का प्रयास किया है और मध्ययुग में इसको उन्मुक्त वातावरण भी मिल सका है, परन्तु यह प्रयास पूर्ण सफल नहीं हुआ। इस साहित्यिक आन्दोलन ने अपनी अन्य प्रेरणाएँ विभिन्न स्रोतों से प्राप्त की है और इस कारण उसमें विभिन्न रूप पाए जाते

---

५ हिन्दी-साहित्य की भूमिका; पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी; पृ० ५७

आचारों तथा विश्वासों के विकृत रूप में लेना चाहिए।[७] जनता किसी भी धर्म के बौद्धिक-पक्ष पर अधिक ध्यान नहीं देती, फिर बौद्ध-धर्म तो विशेषतः सन्यासियों का धर्म था। जहाँ तक मस्तिष्क की समस्या थी, तर्क का क्षेत्र था, शंकर का अद्वैत अटल और अकाट्य था। परन्तु जीवन की व्यावहारिक दृष्टि से यह दर्शन दूर पड़ता है। मध्ययुग की जनता के लिए अपने बौद्धिक स्तर पर यह तत्त्ववाद ग्राह्य होना सम्भव नहीं था। जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को स्पर्श करने के लिए भी जीवन की अस्वीकृति मध्ययुग के आचार्यों को सम्भव नहीं जान पड़ी। आध्यात्मिक साधना के लिए अद्वैत को विशिष्ट अर्थ में ही स्वीकार किया जा सकता है। इसी कारण रामानुजाचार्य तथा उनके परवर्ती आचार्यों ने विशिष्टाद्वैत का ही प्रतिपादन किया है। दार्शनिक प्रतिपादन की शैली तर्क है और इस कारण इन आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन तर्क के आधार पर ही किया है। अद्वैतवाद में जिस सीमा तक बौद्धिक कल्पना का चरम है, उस सीमा तक जीवन का व्यावहारिक समन्वय नहीं है। आत्मवान् जीव स्वचेतना तथा रूपात्मक जगत् की अनुभूति को लेकर ही आगे बढ़ता है। जीवन के स्वाभाविक और स्वच्छंद दर्शन में अद्वैत की व्यापक एकता का संकेत तो मिलता है, पर उसके लिए जगत् की रूपात्मक सत्ता को भ्रम मानना और अपनी स्वानुभूत आत्मा के व्यक्तित्व को अस्वीकार करना सरल नहीं है। इसलिए जब दर्शन धार्मिक जीवन और व्यक्तिगत साधना का समन्वय उपस्थित करना चाहता है, वह विभेदवादी लगता है। रामानुजाचार्य ने अपने विशिष्टाद्वैत में इसी एकता और भिन्नता का समन्वय उपस्थित किया है। रामानुज का ब्रह्म प्रकृति, जीव और ईश्वर से युक्त है। ईश्वर अपने पूर्ण स्वरूप में ब्रह्म से एक रूप है। भेद यह है कि ईश्वर धार्मिक

७ हिन्दी-साहित्य की भूमिका; पं० हजारीप्रसाद : पृ० ४।

साधना का आश्रय है और ब्रह्म तत्त्ववाद की त्रि-एकता का प्रतीक है। रामानुज का यह सिद्धान्त बिलकुल नया हो, ऐसा नहीं है। इनमें जीव, प्रकृति और ईश को सत्य मानकर सब में ब्रह्म की अभिव्यक्ति स्वीकार की गई है। यह एक प्रकार से धार्मिक साधना के लिए शंकर के पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्यों का समन्वय समझा जा सकता है। इसमें संसार की रूपात्मक सत्ता का अर्थ लगाने के लिए माया का आश्रय भी नहीं लेना पड़ा है। आचार्य वल्लभ ने अपने पुष्टि मार्ग के लिए जिस शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया है उसका स्वरूप भी इसी प्रकार का है। शंकर ने सत्य के जिस अंशानुक्रम का उल्लेख किया है, उसी को वल्लभ ने सत् (प्रकृति), चित् (जीव) और आनन्द (ईश) के रूप में स्वीकार किया है।[८] जीव में प्रकृति का अंश है इसलिए वह 'सच्चित्' है और ईश में प्रकृति तथा जीव दोनों का तिरोभाव है इसलिए वह 'सच्चिदानन्द' है। इस प्रकार इसमें भी धार्मिक-साधना का दृष्टिकोण ही प्रमुख है। इस समस्त तत्त्ववादी विचार-धारा का कारण यही है कि दर्शन अपना मार्ग जीवन के व्यापक क्षेत्र में बना रहा था। ऐसी स्थिति में दर्शन में उन्मुक्त वातावरण की स्वीकृति सम्भव हो सकी, जिसके फल स्वरूप मध्ययुग के तत्त्ववाद में यथार्थवादी अद्वैत का प्रतिपादन हुआ।

सहज अनुभूति

§५—अभी तक दार्शनिक आचार्यों के तत्त्ववाद का उल्लेख किया गया है। यदि हम मध्ययुग के साधक कवियों के दार्शनिक मत पर विचार करें तो इस यथार्थवादी अद्वैतवाद की बात और भी स्पष्ट हो जाती है। साथ ही मध्ययुग में दार्शनिक स्वच्छंदवाद की प्रवृत्ति भी अधिक व्यक्त हो जाती है। इन साधकों के दार्शनिक मत के साथ ही यह भी जान लेना आवश्यक

---

८ ए कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फिलासफी; आर० डी० रानाडे पृ० २१०, २२२।

है कि ये सहज आत्मानुभूति को ही ज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान) का साधन स्वीकार करते हैं। संतों का 'सहज' ज्ञान यही आत्मानुभूति है। कबीर जब 'सहज' का आध्यात्मिक ज्ञान की सीढ़ी कहते हैं या दादू अधिक कवित्वपूर्ण शब्दों में आत्मानुभूति की झील कहते हैं, तो उसका भाव आत्मानुभूति ही है।[९] जब कहते हैं—'बोलना का कहिए रे भाई, बोलत बोलत तत्तनसाई' उस समय निश्चय ही उनका संकेत आत्मानुभूति की ओर है। प्रेममार्गी सूफ़ी कवियों ने भी ईश्वर को हृदय में बताया है। जायसी कहते हैं—'पिय हिरदय मँह भेट न होई। कोरे मिलाव कहाँ कहि रोई।' परन्तु इन कवियों ने साधना के भाव-पक्ष को ग्रहण किया है। इसी कारण आत्मानुभूति का विषय भावाभिव्यक्ति हो गया है। ज्ञान के विवेचनात्मक पक्ष में सगुणवादी कवियों का भी यही मत है। तुलसीदास ने भक्ति के साथ ज्ञान को भी महत्त्व दिया है, पर वह ज्ञान का व्यापक रूप है, केवल व्यावहारिक नहीं। वैसे तुलसी भावात्मक भक्ति को ही प्रमुख मानते हैं और साथ ही विनयपत्रिका में उन्होंने भेद-बुद्धि वाले ज्ञान को त्याज्य माना है।[१०] सूरदास ने भी सगुणवादी होने के साथ ही अपनी भक्ति में भावाभिव्यक्ति का साधन ग्रहण किया है और भगवान् के प्रेम को आत्मानुभूति के रूप में अंतर्गत आनेवाली ही बताया है।[११] इस प्रकार मध्ययुग के साधक कवियों ने अपनी

---

९ कबीर-ग्रंथा० पृ० ५९; १५—"हस्ती चढ़िया ज्ञान का, सहज दुलीचा डारि।" और दादू की बानी (ज्ञान-सागर) पृ० ४२; ७०—

"दादू सरवर सहज का, ता में प्रेम तरंग।
तह मन झूले आतमा, अपने सई संग॥"

१० विनय-पत्रिका; पद १११—"केशव कहि न जाइ का कहिए?
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोउ जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपुन पहिचानै।"

११ सूरसागर (वे० प्र०) प्र०, पद २—

अभिव्यक्ति में भाव-पक्ष को स्थान दिया है, साथ ही आत्मानुभूति को ज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। इसका कारण यह है कि इन साधकों में कवि की अन्तर्दृष्टि अधिक है, दार्शनिक का तर्क कम और इन्होंने कवि की व्यापक अन्तर्दृष्टि से ही दार्शनिक प्रश्नों पर विचार किया है। भारतीय विचारों की परम्परा में दार्शनिक स्वच्छंदवाद का एक युग उपनिषद्-काल था। उपनिषद्-काल का द्रष्टा कवि और मनीषी था। उसके सामने जीवन और सर्जन का उन्मुक्त वातावरण था। उसने आत्मानुभूति में जिस क्षण सत्य का जो रूप देखा, उसे सुन्दर से सुन्दर रूप में अभिव्यक्त किया। यही कारण है कि उपनिषदों में विभिन्न सिद्धान्तों का मूल मिल जाता है। वस्तुतः सत्य की अनुभूति जब अभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार करती है, उस समय उसके रूपों में अनेक रूपता होना सम्भव है।[१२] हिन्दी मध्ययुग के साधक-कवियों की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है। ये साधक द्रष्टा ही अधिक हैं, विचारक नहीं। यही कारण है कि इनके सिद्धान्तों में विचारात्मक एक-रूपता नहीं है। इनके पास दार्शनिक शब्दावली अवश्य थी, जिसका प्रयोग इन्होंने अपने स्वच्छंद मत के अनुरूप किया है। इसके अनुसार इनको तत्त्ववाद के विभिन्न मतवादों में रखना इनकी उन्मुक्त अभिव्यक्ति के प्रति अन्याय करना है।

समन्वय दृष्टि

§६—भावाभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार करने पर इस युग का साधना-काव्य अनुभूति प्रधान है। इनके विचार और तर्क इसी से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। इस आधार पर सभी परम्पराओं के साधक-कवि अपने विचार में समान

"अवगत गति कछु कहत न आवे।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अंतर्गतही भावे॥"

१२ ए कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फ़िलासफ़ी; आर. डी. रानाडे: पृ. १७८

लगते हैं। जो भेद हैं वह उनके सम्प्रदायों तथा साधना पद्धति के भेद के कारण हैं। इस युग के समस्त साधक कवियों की व्यापक प्रवृत्ति समन्वय तथा सहिष्णुता की है। इनमें जो जितना महान कवि है वह उतना ही अधिक समन्वयशील है। परम सत्य की अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए समन्वय ही आवश्यक है, क्योंकि उसका बोध सीमा ज्ञान के द्वारा ही कराया जाता है। साथ ही भारतीय तत्त्ववाद के विभिन्न मतों से ये साधक परिचित थे और इन्होंने उनकी शब्दावली को पैत्रिक सम्पत्ति के समान पाया है। इस सारी परिस्थिति को यदि हम अपने सामने रखकर विचार करें तो हमें इनमें जो विरोधी बातों का कठिनाई जान पड़ती है, उसका हल मिल सकेगा।

विज्ञानात्मक अद्वैत

क—अनुच्छेद चार में मध्ययुग के यथार्थवादी अद्वैत का उल्लेख किया गया है। परन्तु इसको भौतिक न समझकर विज्ञानात्मक ही मानना चाहिए। हिन्दी मध्ययुग के सभी साधक कवियों ने व्यापक विश्वात्मा की अद्वैत भावना पर विश्वास किया है। निर्गुण संतों में कबीर, दादू और सुन्दरदास आदि ने जिस परावर तथा इन्द्रियातीत का निरूपण किया है वह बहुत दूर तक अद्वैत है। जीव इस स्थिति में ब्रह्म से पूरी एक रूपता रखता है। अन्य जिन संतों में यह व्याख्या नहीं मिलती वे भी पूर्णतः 'भेदाभेदवादी' अथवा 'विशिष्टाद्वैतवादी' नहीं हैं। कुछ स्थलों पर अद्वैत की भावना जीव और ईश की एक रूपता में मिलती है। वस्तुतः इन संतों ने ब्रह्म की व्याख्या समान नहीं की है और वे अनुभूति की अभिव्यक्ति में अद्वैत भावना का स्वरूप भी प्रतिपादित नहीं कर सके हैं। कबीर, दादू तथा सुन्दरदास आदि कुछ ही साधकों ने एकात्म भाव की अभिव्यक्ति करने में एक सीमा तक सफलता प्राप्त की है।[13] परन्तु प्रेम साधना के

---

१३ कबी० ग्रं० पृ० १७-७--"हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हेराई।
बूँद समानी समँद में सो कत हेर्‌या जाई।"

मार्ग पर इन साधकों के विरह तथा संयोग के चित्रों में विशिष्टाद्वैती भावना ही प्रधान लगती है।[१४] और सामाजिक धरातल पर भगवान् को सर्वशक्तिमान् स्वीकार करने पर ये अपने विनय के पदों में भेदा-भेदवादी भी लगते हैं। सूफ़ी प्रेममार्गी कवियों में भी हमको ये तीनों दृष्टिकोण मिलते हैं। विवेचना के रूप में इन्होंने विज्ञानात्मक अद्वैत की स्थापना की है और साधना-पक्ष में विशिष्टाद्वैत को स्वीकार किया है।[१५] साथ ही बाशरा होने के कारण इनके मत में भेद-भाव की भी स्वीकृति है। राम और कृष्ण के सगुणवादी भक्तों ने भी स्थान स्थान पर अद्वैत ब्रह्म का निरूपण किया है, वैसे साधना के क्षेत्र में वे विशिष्टाद्वैती और शुद्धाद्वैती हैं।[१६] व्यापक रूप से इन सभी साधकों में अधिक भावनाएँ मिलती हैं और एक सीमा तक इन सभी में इस बात को लेकर समानता भी है।

ख—इन समस्त साधक कवियों में समानता पाई जाने का कारण है। इन्होंने सत्य की आत्मानुभूति व्यापक आधार पर प्राप्त की है, केवल उसको अपनी साधना में एक निश्चित रूप देने का प्रयास किया है और इसी कारण बहुत सी बातों में भेद हो गया है। यहाँ कुछ अन्य समान बातों का उल्लेख भी किया जाता हैं। मध्ययुग के लगभग सभी साधकों ने विश्व की व्यापक रूपात्मकता को किसी न किसी रूप में, ईश्वर के विराट रूप

व्यापक समता

---

१४ वही: पृ० १०८—"काहे रे नलिनी तू कुम्हलानी तेरहि नाल सरोवर पानी। जल में उत्पत्ति जल में वास, जल में नलिनी तोर निवास॥"

१५ जाय० ग्रं० पृ० १९३—"आपुहि आपु जो देखै चहा। आपुनि प्रभुत आपु सन कहा। सबै जगत दरपन की लेखा। आपुहि दरपन आपुहि लेखा॥" वही पृ० १९९—"रहा जो एक जल गुपुत समुंदा। बरसा सहस अठारह बुंदा।"

१६ सूरसा० पृ० २—"रूप रेख गुण जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावे।"

की अभिव्यक्ति स्वीकार की है। सभी ने माया को कई रूपों में लिया है। माया के संबन्ध में उपनिषद् साहित्य में भी यही स्थिति है।[१७] इन्होंने माया को क्षणिकता, अज्ञान तथा आचरण संबन्धी दोषों के रूप में माना है। यद्यपि उस समय शंकर का मायावाद अधिक प्रसिद्ध था और इसका रूप भी इन साधकों के काव्य में मिलता है। प्रमुखतः माया को दो रूपों में स्वीकार किया गया है। माया का एक भ्रमात्मक पक्ष है जो जीव को ब्रह्म से अलग करता है और उसी के अन्तर्गत सामाजिक आचरण संबन्धी दोषों को लिया जा सकता है। दूसरे रूप में माया ईश्वर की शक्ति है जो विद्या है और जिसके सहारे सर्जन चक्र चलता है। माया का यह रूप जीव का सहायक है। इसके अतिरिक्त वेदांत दर्शन परिणामवादी नहीं है, फिर भी मध्ययुग के साधकों ने सृष्टि-सर्जन का स्वरूप सांख्य से स्वीकार किया है। लगभग इस युग के सभी साधकों ने कुछ भेदों के साथ सर्जन क्रम के लिए प्रकृति और पुरुष को स्वीकार किया है और महत् से अहं आदि की उत्पत्ति उसी क्रम से मानी है। कबीर तथा तुलसी आदि कुछ प्रमुख कवियों ने इसको रूपक माना है और अन्य कवियों ने मूल रूप में स्वीकार कर लिया है।[१८]

ग—इस समस्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि मध्ययुग के तत्त्ववादी आचार्यों ने अपना मत कुछ भी स्थिर किया हो, इस युग के साधक-कवि किसी निश्चित मतवाद के बन्दी नहीं हैं। इन्होंने जीवन और जगत् को स्वच्छंद रूप से उन्मुक्त भाव में देखा है और उसी आधार पर अपनी अनुभूतियों और विचारों को व्यक्त किया है। साथ ही इनके विचारों की पृष्ठ-भूमि में भारत की दार्शनिक विचार-धारा है। तत्त्ववाद के प्राचीन सिद्धान्तों

उन्मुक्त दर्शन

---

१७ का० स० उ० फि० : पृ० २२८

१८ दि निर्गुण स्कूल ऑव पोइट्री: पी० डी० बडथ्वाल पृ० ५०

का उल्लेख भी किया है। परन्तु उनका कथन सामाजिक एकता और व्यवस्था की दृष्टि से है। वास्तव में तुलसी क्रांतिवादी सुधारक नहीं थे, वे परिष्कार के साथ व्यवस्था के पक्षपाती थे। एक सीमा तक इस सत्य का समर्थन संतों ने भी किया है कि धार्मिक मतों का विरोध और उनकी रूढ़िवादिता उनके शास्त्र-ग्रंथों के सत्यों से संबन्धित नहीं है। विरोध तो बिना विचार किए चलने से होता है।[२२] जायसी के साथ अन्य सूफ़ी प्रेम-मार्गी भी समन्वयवादी व्यवस्थापक अधिक हैं। जायसी ईश्वर को प्राप्त करने के अनेक मार्ग स्वीकार करते हैं।[२३] साथ ही इन्होंने तुलसी के समान धर्म ग्रंथों और पुरानी व्यवस्था पर अपनी आस्था प्रकट की है। सूरदास में यह समन्वय तथा उदारता की दृष्टि समान रूप से पाई जाती है; और मानवीय आदर्शों की स्थापना भी इन्होंने की है। भावात्मक गीतकार होने के कारण सूर में सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का प्रश्न अधिक नहीं उठा है।

ख—ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि मध्ययुग के साधक कवियों ने धर्म को मानव के विकास का मार्ग माना है। इन्होंने धर्म को मानव समाज से संबन्धित करके देखा है। व्यक्तिगत तथा सांप्रदायिक भेदों को छोड़कर इनकी व्यापक प्रवृत्ति यही है। साथ ही इनके काव्य में प्रमुख मानवीय आदर्शों को भी महत्त्व दिया गया है। सभी ने भगवान् को मानव मात्र का आराध्य माना है, सभी ने मानव मात्र को समान माना है। इन सभी साधकों ने आत्म-निग्रह, दया, सत्य तथा अहिंसा का

मानव-धर्म

---

२२ संतवानी संग्रह (भाग १); कबीरः पृ० ४६-"वेद कतेब कहहु मत झूठे, झूठा जो न विचारे।"

२३ जायसी-ग्रं०; पद्मावत "विधना के मारग है तेते। सरग नखत तन रोवाँ जेते।"

उपदेश दिया है। साथ ही इन्होंने एक स्वर में धार्मिक विरोधों की निंदा की है और कुप्रवृत्तियों (मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि) से बचने को कहा है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में धार्मिक दृष्टि जीवन को सहज और स्वाभाविक रूप में ग्रहण करती है। संतों में इसकी प्रधानता है। परन्तु सामूहिक रूप से इन साधकों ने रूढ़िगत मान्यताओं को अस्वीकार किया है और समाज को नवीन दृष्टि से देखने का प्रयास किया है।

काव्य में स्वच्छंदवाद

साधना की दिशा

६८—अभी तक युग की परिस्थिति की विवेचना की गई है और काव्य की प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है। काव्य बाह्य की प्रतिक्रिया ही नहीं है, वह अन्तः का प्रस्फुरण भी है। साहित्य के इतिहासकारों ने मध्ययुग के प्रारम्भिक भाग को भक्ति-काल कहा है, परन्तु इसको साधना-काल कहा जाय तो अधिक उचित है। इस काल के अधिकांश कवि साधक थे, और इन्होंने अपनी अनुभूति को ही काव्य में अभिव्यक्ति का रूप दिया है। इसलिए इनकी काव्य-भावना पर विचार करने के पूर्व, साधना की दिशा पर विचार कर लेना आवश्यक है। साधना का क्षेत्र व्यक्तिगत अनुभूतियों का विषय है। इस दृष्टि से सगुण भक्ति और निर्गुण प्रेम दोनों ही व्यक्तिगत साधना के रूप में मनस्-परक हैं। आत्माभिव्यक्ति के रूप में इस युग के काव्य में एक नया युग आरम्भ होता है। कुछ अन्य कारणों से यह प्रवृत्ति व्यापक नहीं हो सकी, जिनका अन्यत्र उल्लेख किया जायगा। यह काव्य में आत्मानुभूति को अभिव्यक्ति करने की शैली स्वतः ही स्वच्छंदवादी प्रवृत्ति की प्रतिपादक है। इसके अतिरिक्त इस साधना में जिन स्वाभाविक भावनाओं का आधार लिया गया है, वे भी जीवन से सहज संबन्धित हैं।

क—जिस प्रेम या भक्ति को इस मध्ययुग के साधकों ने प्रमुखतः अपनी साधना का माध्यम स्वीकार किया है, उसके मूल में काम या रति की भावना अन्तर्निहित है।[२४] साधना के दो रूप स्वीकार किए जा सकते हैं। एक तो विरक्ति जिसमें सांसारिक भावों को त्यागना साधना का लक्ष्य है; परन्तु सहज भावना के विरुद्ध यह साधना कठिन है। दूसरा साधना का रूप व्यापक रूप से अनुरक्ति के आधार पर माना जा सकता है। प्रेम-साधना में इस अनुरक्ति का अर्थ सांसारिक वस्तुओं के प्रति अनुराग नहीं है। इसका अर्थ स्वाभाविक वृत्तियों को संसार से हटाकर अपने आराध्य के प्रति लगाना। मानव-भावों में रति या मादन भाव का बहुत प्रबल और महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी कारण इसके आधार पर साधना अधिक सरल समझी गई है। जो मनोभाव हमको संसार के प्रति बहुत अधिक अनुरक्त रखता है, यदि वही भाव ईश्वरोन्मुखी हो जाता है तो वह उस ओर भी गम्भीर वेग धारण करता है। संतों की 'विरति' भी ब्रह्मोन्मुखी 'निरति' के लिए है। उनका प्रेम भी मानवीय सीमाओं में स्वाभाविक भावनाओं और मनोभावों को लेकर विकसित होता है। सगुणवादी माधुर्य्य-भाव के भक्तों तथा सूफ़ी प्रेमियों में भी साधना की आधार भूमि रति या मादन भाव है। जब इस भाव का आधार लौकिक रहता है, उस समय साधारण काम-कलाप या रति क्रीड़ा में यह अभिव्यक्ति ग्रहण करता है। इस स्थिति में आलंबन रूप के प्रत्यक्ष रहने पर, मनोभाव शारीरिक प्रक्रिया के रूप में अपनी गम्भीर सुखानुभूति को खो देता है। परन्तु जब भाव का आलंबन अप्रत्यक्ष रहता है, उस समय मनोभावों की गम्भीरता सुखानुभूति के क्षणों को बढ़ाती है। साथ ही भाव के लिए

प्रेम और भक्ति

---

२४ तसव्वुफ़ अथवा सूफ़ीमत; चन्द्रबली पाण्डेय: पृ० ११६-१७; : हिन्दी सा० भू० पृ० ७८।

आलंबन का होना भी निश्चित है, इस कारण संतों में भी प्रेम-साधना के क्षणों में द्वैत भावना लगती है। परन्तु संतों का प्रेम किसी प्रत्यक्ष आलंबन को ग्रहण नहीं करता, उसमें आलंबन का आधार बड़ा ही सूक्ष्म रहता है। और लगता है जैसे यह भाव किसी आलंबन की भूली हुई स्मृति के प्रति है। इस अभिव्यक्ति से एक ओर तो सीमा के द्वारा असीम की व्यंजना हो जाती है और दूसरी ओर उनकी साधना में लौकिकता को अधिक प्रश्रय नहीं मिलता।

सूफ़ी साधकों का आधार अधिक लौकिक है। उसमें पुरुष-प्रेम की उन्मत्त-भावना ही 'इश्क मजाज़ी' से 'इश्क हक़ीक़ी' तक पहुँचाती है।[२५] हिन्दी मध्ययुग के प्रेम-मार्गी साधकों ने भारतीय भक्ति भावना के माधुर्य-भाव को भी अपनी साधना में स्थान दिया है। यही कारण है कि उनके प्रबन्ध काव्यों में नारी प्रेम की रति-भावना को भी स्थान मिला है। परन्तु इन्होंने रति या मादन भाव को लौकिक से अलौकिक अपने आलंबन को प्रकृति में व्यापक रूप प्रदान करके ही बनाया है। दूसरी ओर इन्होंने भावाभिव्यक्ति में संयोग के क्षणों को अधिक गम्भीर बनाया है और वियोग के क्षणों को अधिक व्यापक रूप प्रदान किया है। माधुर्य-भाव की भक्ति भी इसी प्रकार अभिव्यक्ति का आश्रय ग्रहण करती है। परन्तु उसका आलंबन व्यापक सौन्दर्य का प्रतीक है जो अपनी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में स्वयं अलौकिक हो उठता है। इस प्रकार सूफ़ी प्रेमी-साधकों और माधुर्य-भाव के भक्तों ने अपने इस भाव के लिए सौन्दर्य का अलौकिक रूप आलंबन रूप से स्थापित किया है। तुलसी की भक्ति भावना में माधुर्य-भाव का आधार नहीं है, परन्तु प्रेम की व्याख्या और आलंबन का सौन्दर्य रूप इनमें भी मिलता है। अपनी दास्य-भक्ति का स्वरूप तुलसी ने सामाजिक तथा आचारात्मक आधार पर ग्रहण किया है।

---

२५ त० या सूफ़ी० : पृ० १२०

परन्तु प्रेम की व्यथा और उसकी संलग्नता को तुलसी ने भी स्वीकार किया है।[२६] कबीर, सूर तथा जायसी आदि ने इसी प्रकार अपने प्रिय को, अपने आराध्य को स्वामी रूप में देखा है और दया की प्रार्थना भी की है। इस प्रकार हिन्दी मध्ययुग में साधना सहज तथा स्वच्छंद रूप से चल रही थी।

ख—मध्ययुग के साधकों ने अपने साधना-मार्ग को सहज रूप से ही ग्रहण किया है; क्योंकि वह मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर ही आधारित है। इन्होंने इसका उल्लेख स्थान-स्थान पर किया है। साधना के इस सहज रूप के कारण इन साधकों की काव्याभिव्यक्ति जीवन की वस्तु है और हृदय को अभिभूत करती है। जिस प्रकार काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत 'रस-सिद्धान्त' में मानव की स्वाभाविक भावनाओं पर आनन्द प्राप्ति का साधन कहा गया है, उसी प्रकार साधना की इस भाव व्यंजना में मनोभावों की चरम अभिव्यक्ति है। रूपगोस्वामी ने इन दोनों का समन्वय 'उज्ज्वल नीलमणि' में किया है।[२७] प्रेम साधना का यह रूप विभिन्न परम्पराओं में किसी भी स्रोत से क्यों न आया हो, अभिव्यक्ति में हमारे सामने दो बातें रखता है। पहले तो एक सीमा तक इन साधकों ने अपनी भावाभिव्यक्ति के द्वारा व्यक्तिगत मनस्-परक काव्य का रूप प्रस्तुत किया है, जिसमें गीतियों की विशेषताएँ मिलती हैं। इस युग के पूर्व भारतीय साहित्य में गीतियों का लगभग अभाव है। और दूसरे भावव्यंजना रूप में सहज और स्वाभाविक माननीय भावों की अभिव्यक्ति को काव्य में स्थान मिला। इसके पूर्व जैसा पिछले प्रकरण में कह चुके हैं, काव्य में कला तथा रूढ़िवाद की प्रमुखता थी। इस प्रकार अभिव्यक्ति के

सहज काव्याभिव्यक्ति

---

२६ तु० दोहावली: दो० २७९ "चातक तुलसी के मते, स्वातिहुँ पियै न पानि। प्रेम तृषा बाढ़ति भली, घटे घटै की कानि।" (तथा इस प्रसंग के अन्य दोहे)

२७ सूर-साहित्य; पं० हजारी प्रसाद : पृ० ८४

क्षेत्र में काव्य संस्कारवादी प्रभाव को बहुत कुछ छोड़कर स्वच्छंद हो सका है।

§६—इस युग के स्वच्छंदवादी वातावरण के साथ ही, इस युग का साधक प्रमुखतः कवि है। तत्त्ववाद की सीमा में न तो हम उसे दार्शनिक कह सकेंगे, और न व्यक्तिगत साधना के संकुचित क्षेत्र में उसे साधक ही कहा जा सकता है। मध्ययुग के साधक-कवियों ने सर्जन, जीवन और समाज पर स्वतंत्र रूप से विचार किया है। इसीलिए इन्हें विचारक और साधक से अधिक कवि ही स्वीकार करना है। इस बात का आग्रह कि ये उच्चकोटि के विचारक या साधक ही थे और उनका काव्य उनकी साधना अथवा विचारों की अभिव्यक्ति का साधन मात्र है, मैं कहूँगा अनुचित है, साथ ही मध्ययुग के कवियों के प्रति अन्याय भी है। परन्तु जब मैं कहता हूँ ये पूर्णतः और प्रमुखतः कवि हैं उस समय यह नहीं समझना चाहिए कि ये कवि होने के साथ ही उच्चकोटि के विचारक अथवा साधक नहीं हो सकते। फिर यह भी कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में जब वे साधक और कवि दोनों ही हैं, उनको साधक न कहकर कवि कहने का आग्रह क्यों? बात एक सीमा तक उचित है; परन्तु इसमें दो कठिनाइयाँ हैं। पहले तो ऐसे अनेक महान् साधक हो गए हैं जिनको अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए माध्यम की आवश्यकता नहीं हुई। दूसरे यह भी आवश्यक नहीं है कि साधना की अनुभूति के अनुसार साधक क अभिव्यक्ति हो सके। वस्तुतः अभिव्यक्ति का जो रूप हमारे सामने है वह उपकरणों के माध्यम में आ सका है; और साधक की कवित्व-प्रतिभा ही उसको अपनी अभिव्यक्ति के उपकरणों के प्रति अधिक सचेष्ट तथा जागरूक रख सकी है। इसी कारण इस युग के कवियों में जो प्रतिभा संपन्न थे, वे ही महान साधक भी लगते हैं क्योंकि उनकी सशक्त अभिव्यक्ति में साधना का गम्भीर रूप आ सका है। इसके साथ

साधक और कवि

ही समन्वय तथा जीवन के प्रति जागरूकता का यह भाव भी इनको कवि के रूप में ही हमारे सामने उपस्थित करता है।

§१० — मध्ययुग के ये साधक-कवि अपने विचारों में स्वच्छंद हैं, साथ ही भाषा के जिस उपकरण को इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार की है उसे भी जनता से ग्रहण किया

उपकरण : भाषा

गया है। वस्तुतः इनका काव्य भाषा, शैली भाव तथा चरित्र आदि की दृष्टि से अपने से पूर्व के का और मौलिक दिखाई देता है। परन्तु इसका अर्थ यह न स्वच्छंद काव्य के पीछे कोई परम्परा नहीं है। जैसे इ विचारों का स्रोत पिछले दार्शनिक विचारकों में मिल जा इससे इनकी उन्मुक्त प्रवृत्ति में कोई वाधा नहीं होती, इस साहित्य के क्षेत्र में भी इनके पीछे एक परम्परा है, तो यह और इससे इनकी मौलिकता और स्वच्छंदता में कोई अंतर भाषा की दृष्टि से मध्ययुग के कवियों की भाषा जनता ही नहीं, वरन् साहित्यिक रूप में जनता की ही भाषा को जन-भाषा के रूप में माना जाता है। परन्तु अधिकांश काव्य की भाषा जन-भाषा के आधार पर प्रचलित भाष जा सकती है। अपभ्रंश का सामन्ती काव्य तथा सिद्धों प्रादेशिक भेदों के साथ प्रचलित भाषा के इसी रूप से इस भाषा के समान मध्ययुग के संतों की भाषा तथा री भाषा को माना जा सकता है। प्रचलित भाषा में ज विचार रखे जा सकते है और दरवारी भाषा में रीति को निभाया जा सकता है। परन्तु जन-भावना की अभिव्यक्ति जन-भाषा में ही अधिक गम्भीर तथा सुन्दर हो सकती है। इसके लिए कवि साहित्यिक परिष्कार के साथ जन-भाषा को अपना लेता है। यही कारण है कि मध्ययुग के कवियों की भाषा जन-भाषा है। इस युग के उत्तरार्द्ध में रीति की रूढ़ि के साथ भाषा भी जनता से दूर होकर

कृत्रिम होती गई है। जहाँ तक छंद का प्रश्न है, वह बहुत कुछ शैली के साथ संबन्धित है। इन कवियों ने भावाभिव्यक्ति के स्थलों पर पद शैली का प्रयोग किया है। पद शैली का विकास निश्चय ही ग्राम्य जन-गीतियों तथा भारतीय संगीत के योग से माना जाना चाहिए। जब कवि अपनी अभिव्यक्ति के लिए वस्तु-परक कथानकों और चरित्रों का आश्रय लेता है, उस समय दोहा-चौपाई की शैली प्रयुक्त हुई हैं। दोहा-चौपाई जन-समाज में अधिक प्रचलित हो सके हैं। एक तो कथानक प्रवाह के लिए जैसे संस्कृत में अनुष्टुभ्-छंद अधिक उपयुक्त है, वैसे ही हिन्दी में यह छंद-शैली उपयुक्त सिद्ध हुई है। दूसरे जैन-साहित्य ने इसका प्रचार अपने कथानकों में पहले से किया था। सत्यों के उल्लेख तथा विचारों को प्रकट करने के लिए दोहों में संक्षेप तथा प्रभाव दोनों ही पाया जाता है, और दोहों का संबन्ध जन-गीतियों के छंद से है। इस प्रकार मध्य-युग के काव्य की प्रवृत्ति भाषा, छंद तथा शैली की दृष्टि से स्वच्छंदवादी है। इसकी भाषा जन-समाज की भाषा है; इसके छंद और इसकी शैली में जीवन को उन्मुक्त रूप से देखने का प्रयास है।

§११—यह तो काव्य की अभिव्यक्ति के माध्यम का प्रश्न हुआ। पर काव्य भावना का क्षेत्र है जो कवि की आत्मानुभूति तथा भावाभिव्यक्ति से संबन्धित है और यह भावना जीवन को लेकर ही है। ये भाव काव्य में कभी तो कवि के व्यक्तिगत जीवन से संबन्धित होकर मनस्-परक स्थिति में व्यक्त होते हैं और कभी अन्य चरित्रों से संबन्धित वस्तु-परक स्थिति में। इन दोनों स्थितियों के अतिरिक्त एक ऐसी भी स्थिति होती है जिसमें कवि अपने मनोभावों को अंध्यन्तरित कर किसी चरित्र के भावों के माध्यम से प्रकट करता है। कवि की स्वानुभूति की मनस्-परक अभिव्यक्ति, भारतीय साहित्य में सबसे पहले मध्ययुग के काव्य में मिलती

स्वच्छंद जीवन

है ।[२८] इस अभिव्यक्ति के रूप में कवि को पूरी स्वच्छंदता मिलती है; और इस कारण इस काव्य में प्राणों को अधिक गहरी अनुभूति मिलती है । मीरा, आलम, रसखान तथा आनंदघन की काव्याभिव्यक्ति में प्राणों की गहरी संवेदना है । यही कारण है कि सूर, तुलसी के विनय के पदों में व्यापक तथा गम्भीर आत्म-निवेदन मिलता है । परन्तु जिन कवियों में अपने चरित्रों की भावना से पूर्ण तद्रूपता है; उनमें भी अपनी प्रतिभा के अनुरूप भावों की अभिव्यक्ति वैसी ही उन्मुक्त तथा सहज हो सकी है । सूर की गोपियों की भाव-व्यंजना में और विद्यापति की राधा की यौवन-सजगता में काव्य ऐसा ही स्वाभाविक है । इसी प्रकार की प्रवृत्ति जायसी की भावाभिव्यक्ति में स्थल-स्थल पर मिलती है । यहाँ पर एक बात का उल्लेख करना आवश्यक है । इस युग में कवि ने काव्य को मनस्-परक आधार तो दिया है; परन्तु उसका व्यक्तीकरण भावों के वस्तु-परक आधार पर ही हो सका है । इसलिए स्वानुभूति को व्यक्त करने वाले कवियों में भी विशुद्ध मनस् परक अभिव्यंजना का रूप नहीं मिलता है । अर्थात् इस काव्य में मानसिक संवेदना से अधिक शारीरिक क्रियाओं तथा अनुभावों को चित्रित करने की प्रवृत्ति रही है और यह स्वछंदवादी प्रवृत्तियों की विरोधी शक्तियों में से एक मानी जा सकती है ।

अभिव्यक्त भावना

क—जिन भावनाओं को इस काव्य में स्थान मिला है, वे जीवन की साधारण परिस्थितियों से संबन्धित हैं । इन भावनाओं में जीवन की सहज स्वाभाविकता है । प्रारम्भिक मध्ययुग की समस्त काव्य-परम्पराओं की प्रमुख प्रवृत्ति यही है । कबीर आदि प्रमुख संतों ने अपने रूपकों को साधारण जीवन से

---

२८ यहाँ इसे साहित्य की व्यापक प्रवृत्ति के रूप में समझना चाहिए । संस्कृत-साहित्य के विषय में लेखक का 'संस्कृत काव्य-रूपों में प्रकृति' नामक लेख देखना चाहिए (विश्व-भारती पत्रिका)

अपनाया है। ये रूपक साधारण जीवन के वातावरण में निर्मित हैं साथ ही इनमें भावनाएँ भी सहज-जीवन की हैं।[२९] सूर का काव्य जन-जीवन की विभिन्न भाव-स्थितियों का स्वच्छंद प्रगुम्फन है। सूर मानवीय भावों को सहज रूप से अनेक छायातपों में चित्रित करने में सिद्धहस्त हैं। भावों की परिस्थिति-जन्य विविधता और स्वाभाविक सरलता सूर में अनुपमेय है।[३०] जायसी का कथानक यद्यपि प्रतीकात्मक है: पर भावों की स्वाभाविकता के लिए उन्हें प्रतीकार्थ को छोड़ना पड़ा है। व्यापक रूप से इन्होंने भारतीय जीवन के स्वाभाविक मनोभावों को उपस्थित किया है।[३१] बाद में अन्य सूफ़ी प्रेममार्गियों में यह सहज तो नहीं रह सका है पर उन्होंने अनुसरण जायसी का ही किया है। तुलसी परिस्थिति जन्य मनोभावों के क्रम को उपस्थिति करने में सफल कलाकार हैं और परिस्थितियों के साथ मनोभावों में भी स्वाभा-

---

२९ संत-कवियों की प्रमुख भावना स्त्री-पुरुष प्रेम को लेकर है। इस कारण वियोग-जन्य परिस्थितियों का रूप इनमें अत्यंत स्वाभाविक है—

"देखा पिया काली मो पै भरी।

सुन्न सेज भयानक लागी, मरौं विरह की जारी।" (सं० वा० भा० २ पृ० १७२)

३० भावों के चित्रण के विषय में सूर की यह विशेपता है कि वे परिस्थिति के केन्द्र पर भाव को केन्द्रित कर देते हैं। उस स्थिति में ऐसा लगता है मानो भाव उसी से निकल कर चारो ओर फैलते जाते हैं और अपने अस्फुरण के अनेक छायातपों में प्रगट होते है। इस प्रकार सूर एक परिस्थिति को चुनकर अनेक लोगों के भावों को एक सम धरातल पर विभिन्न रूपों में प्रतिकृत करते हैं। उदाहरण के लिए बाललीला, माखनचोरी आदि लिया जा सकता है, पर विरह-प्रसंग सब से अधिक सुन्दर है।

३१ जायसी ने नागमती के विरह-वर्णन में मनोभावों का सुन्दर तथा स्वाभाविक रूप दिया है।

विक विस्तार है।[३२] वैसे तुलसी का क्षेत्र भावना से अधिक चरित्र का है।

§१२—चरित्र का रूप भावों के माध्यम से सामने आता है। परन्तु जब हम चरित्र की बात कहते हैं उस समय भावों की समन्वित समष्टि का रूप हमारे सामने आता है। इस कारण सामाजिक जीवन का रूप देखने के लिए, उसके आदर्शों को समझने के लिए चरित्र ही अधिक व्यक्त है। भाव तो मूलतः एक ही हैं। हमारे सामने इस युग के पूर्व का जितना भी साहित्य है, उसमें सभी चरित्र या तो अलौकिक हैं या महापुरुषों के हैं। इसके अतिरिक्त जो अन्य चरित्र हैं, वे भी उच्च-वंश तथा ऐश्वर्य से संबन्धित हैं। अपभ्रंश जैन काव्यों के नायक साधारण होकर भी धार्मिक अलौकिकता से संबन्धित हैं। इस प्रकार की परम्परा साहित्यिक आदर्श के रूप में स्वीकृत थी। मध्ययुग के काव्यों में इस आदर्श का रूप तो समान है, परन्तु इस प्रकार के चरित्रों में एक विशेष बात दृष्टिगत होती है और इस विशेषता का मूल जैन अपभ्रंश काव्यों में मिलता है। चरित्र अपनी कथात्मक स्थिति में कुछ भी रहा हो, परन्तु कवि ने उसका चित्रण साधारण जीवन के आधार पर किया है। जैन काव्यों में साधारण जीवन से चरित्र लेकर उसे आदर्श और असाधारण के रूप में ही ग्रहण करते हैं। सूर के चरित्र-नायक कृष्ण लीलामय परम-पुरुष हैं; पर उनके चरित्र को उपस्थित करते समय कवि यह भुला देता है। सूर ने जिन चरित्रों को उपस्थित किया है, वे साधारण के साथ ही ग्राम के जीवन से संबन्धित हैं। जीवन की सहज

चरित्र-चित्रण

---

३२ सूर के विपरीत तुलसी में परिस्थिति की परिधि रहती है जिसमें से विभिन्न भाव निकल कर केन्द्रित होते रहते हैं। परिस्थिति भावों को घेरे रहती है और भावों की प्रतिक्रिया उसी से चलती रहती है। उदाहरण के लिए धनुष-यज्ञ प्रसंग, राम-वन-गमन प्रसंग, कैकैयी प्रसंग आदि हैं।

स्वाभाविक स्वछंदता उनके चरित्रों में गतिशील है। जहाँ चरित्र में अलौकिक का आभास देना होता है, उस स्थल को सूर अलग रखते हैं; और उस घटना या चरित्र के भाग का स्मरण पात्रों को नहीं रहता। कबीर और अन्य संतों ने जीवन के जितने भी चित्र उपस्थित किए हैं, वे सभी साधारण स्तर के हैं। जायसी तथा उस परम्परा के अन्य कवियों के पात्र राजकुमार तथा राजकुमारियाँ हैं; परन्तु उनका चित्रण साधारण व्यक्ति के जीवन के समान हुआ है। तुलसी के चरित्र अलौकिक हैं, राज-वंश के हैं, साथ ही आदर्शवादी भी हैं। परन्तु इन चरित्रों में राज्य ऐश्वर्य कहीं भी प्रकट नहीं होता और उनका आदर्श साधारण जीवन पर अवलंबित है।

असफल आन्दोलन

§ १३—इस युग की काव्य-भावना पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि इसमें पूर्णतः स्वच्छंदवादी प्रवृत्तियों का समन्वय हुआ है। इसकी पृष्ठभूमि में जो विचार-धारा थी वह अन्य सिद्धान्तों से प्रभावित होकर भी स्वतंत्र वेग से प्रवाहित हुई है। इससे संबन्धित साधना विभिन्न परम्पराओं से विकसित होकर भी जीवन की सहज स्वीकृति पर ही आधारित है। अंत में हम देखते हैं कि काव्य की प्रमुख भावना में जन-जीवन के साधारण स्तर पर मानवीय भावनाओं का ही प्रसार है। परन्तु इस युग के काव्य में इतना व्यापी स्वच्छंदवादी आन्दोलन होने पर भी, उसमें प्रकृति को उन्मुक्त रूप से स्थान नहीं मिल सका। जैसा प्रथम भाग में कहा गया है, मानव की सौन्दर्य-भावना के विकास में प्रकृति का अपना योग है और काव्य की सौन्दर्यानुभूति के आलंबन में प्रकृति को अनेक रूप मिलते हैं। काव्य में जीवन की सहज अभिव्यक्ति के साथ प्रकृति का स्वच्छंद रूप स्वाभाविक है। परन्तु हिन्दी मध्ययुग के काव्य में ऐसा नहीं हो सका। इसका क्या कारण है? वस्तुतः इस स्वच्छंदवादी आन्दोलन के साथ इस युग के काव्य में कुछ प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ भी सन्निहित हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण यह

काव्य पूर्णतः स्वच्छंदवादी नहीं हो सका और उसने उन्मुक्त रूप से प्रकृति को आलंबन रूप में अपनाया भी नहीं।

प्रतिक्रियात्मक शक्तियाँ

§ १४—मध्ययुग के काव्य में दर्शन और धर्म की व्याख्या जीवन के आधार पर की गई थी। परन्तु धर्म के अन्तर्गत आचारात्मक व्यवस्था का रूप प्रधानता से आ जाता है। और इससे धर्म तथा साधना के क्षेत्र में सांप्रदायिकता का विकास हुआ: और इस युग के काव्य में यह प्रमुख प्रतिक्रियात्मक शक्ति रही है जिसने काव्य में स्वच्छंदवाद को पनपने नहीं दिया। प्रत्येक धारा के प्रमुख कवियों में वातावरण अधिक उन्मुक्त है, परन्तु वाद में साधारण श्रेणी के कवियों में रूढ़ि का बंधन अधिक कड़ा होता गया है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप पिछले कवियों ने अपने काव्य का क्षेत्र जीवन की स्वतंत्र अभिव्यक्ति से हटाकर परम्परा को बना लिया। कबीर, दादू तथा नानक आदि कुछ प्रमुख संतों को छोड़कर बाद के अन्य संत कवियों ने अपने संप्रदाय का अनुसरण उधार के वचनों और व्यवहृत रूपकों के आधार पर किया है। सूर, नन्ददास आदि कतिपय कवियों को छोड़कर कृष्ण-काव्य में ऐसी ही परिस्थिति है। बाद में कृष्ण-काव्य के कवियों में सांप्रदायिक आचारों आदि का वर्णन ही अधिक बढ़ता गया है। जायसी के बाद सूफ़ी प्रेममार्गी कवियों में भी अनुसरण तथा अनुकरण अधिक है। इन्होंने अपनी कथा के विभिन्न स्थलों तक को जायसी के अनुकरण पर ही सजाया है। राम-काव्य में तुलसी के बाद कोई उल्लेखनीय कवि भी नहीं दिखाई देता। और इसका कारण कदाचित् यह है कि तुलसी की परम्परा में कोई संप्रदाय नहीं था।

सांप्रदायिक रूढ़िवाद

§ १५—सांप्रदायिकता के अतिरिक्त धर्म की प्रेरणा से उपदेशात्मक प्रवृत्ति अधिक बढ़ गई। इस प्रवृत्ति के फल स्वरूप खंडन

और स्थापना की भावना इस युग के काव्य में विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। इसके कारण काव्य में विवेचना और तर्क को अधिक स्थान मिल सका और ये जीवन की उन्मुक्त अभिव्यक्ति में बाधक ही सिद्ध हुए। संतों में यह प्रवृत्ति अधिक है इस कारण उनके साहित्य में कवित्व कम है। साथ ही साधना-पक्ष में आधार मानवीय भावना का होकर भी व्यापक रूप से मध्ययुग के काव्य का स्वर संसार से विरक्त होने का रहा है। इस विरक्ति-भावना के कारण इस काव्य में जीवन के प्रति आसक्ति का अभाव है। इन साधकों के लिए सांसारिकता का आधार अध्यात्म के लिए ही है। इस वातावरण में उन्मुक्त स्वच्छंदवाद की जीवन के प्रति अटूट आसक्ति को फैलने का अवसर नहीं मिल सका।

धर्म और विरक्ति

§ १६—स्वच्छंदवाद की विरोधी शक्तियों में भारतीय कला की आदर्श-भावना भी है। भारतीय आदर्श कला के क्षेत्र में व्यक्ति को महत्त्व नहीं देता। उसमें व्यापक-भावना के लिए ही स्थान है। यह भावना आदर्श 'सादृश्य' की भावना है जो स्वर्गीय सौन्दर्य की आकृति की तदाकारता पर निर्भर है और यह 'सादृश्य' कवि के वाह्य अनुभव का फल न होकर आन्तरिक समाधि पर निर्भर है जिसके लिए आत्म-संस्कार और आत्म-योग की आवश्यकता है।[33] इस कला के आदर्श के साथ ही कलाकार में आन्तरिक उल्लास भावना भी भारतीय कला की विशेषता रही है। भारतीय कलाकार जीवन की संवेदना को दुःख के रूप में ग्रहण नहीं करता, वरन् उसको उल्लास में परिणित करता

भारतीय आदर्श भावना

---

३३ ट्रान्सफ़ारमेशन ऑव नेचर; कुमारस्वामी : पृ० ४८। इस विषय में लेखक का 'संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रकृति' नामक लेख देखना चाहिए (हिन्दुस्तानी; अग० अक्टू ४७ ई०)

है। मध्ययुग के काव्य का प्रमुख भाग इस कला के आदर्शों से प्रभावित है। इतना ही नहीं, वरन् आराध्य की सौन्दर्य व्यंजना में इसको और भी स्पष्ट रूप प्रदान किया गया है। इस आदर्श के फल स्वरूप मध्ययुग के काव्य के एक बड़े भाग में जीवन की स्वाभाविक भावनाएँ तथा प्रकृति का व्यापक सौन्दर्य्य केवल प्रतीक के अर्थ में ग्रहीत है। परिणाम स्वरूप इस काव्य में जीवन और प्रकृति को प्रमुख स्थान नहीं मिल सका।

§ १७—कहा गया है कि इस युग में काव्य साहित्यिक रूढ़ियों से मुक्त हुआ है। परन्तु वस्तुतः इस युग का काव्य साहित्यिक परम्परा का वहिष्कार नहीं कर सका है। कृष्ण-काव्य ने काव्य-शास्त्र के रस और अलंकार को विशेष रूप से अपनाया है। तुलसी ने इनका निर्वाह बहुत ही सुन्दर और सहज रूप से किया है और इससे स्पष्ट हैं कि वे काव्य-शास्त्र की परम्परा को स्वीकार करके चले हैं। जायसी का शास्त्रीय ज्ञान कम है, फिर भी यथा सम्भव उनका प्रयास भी इस विषय में रहा है। रस-सिद्धान्त अपने विकसित रूप में भक्ति-भावना से बहुत कुछ साम्य रखता है। आलंकारिक योजना आराध्य की रूप साधना के लिए अधिक सहायक हो सकी है। इस प्रकार मध्ययुग के प्रारम्भ में काव्य के अन्तर्गत रस तथा अलंकार आदि को प्रश्रय मिल चुका था। वाद में रसानुभूति को अलौकिकता के स्थान पर लौकिक आधार अधिक मिलता गया; और अलंकारों की सौन्दर्य्य-योजना आराध्य को रूप दान करने के स्थान पर रूढ़िगत नारी के सौन्दर्य्य सँवारने में प्रयुक्त होने लगी। आगे मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में यह प्रवृत्ति कुछ अन्य परिस्थितियों को पाकर रीति-काल के रूप में हमारे सामने आती है।

काव्य-शास्त्र की रूढ़ियाँ

क—आमुख में हम कह चुके हैं कि मध्ययुग का पूर्वार्द्ध भक्ति-काल है और उत्तरार्द्ध रीति-काल। इस समस्त युग को मध्ययुग कहने

के आग्रह के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। यहाँ यह कहना ही पर्याप्त है कि भक्ति-काल में काव्य शास्त्र की रूढ़ि का जो प्रतिक्रियात्मक रूप था वही रीति-काल में प्रमुख हो उठा। और इस कारण इस भाग में स्वच्छंदवाद को बिलकुल स्थान नहीं मिला। अन्य परम्पराओं में धार्मिक तथा सांप्रदायिक रूढ़िवाद का स्थान हो चुका था और रीति की परम्परा प्रमुख हो उठी थी। यह रीति की भावना स्वयं में संस्कारवादी है और हिन्दी साहित्य में तो यह रूढ़ि के रूप में अधिक अपनाई गई है। यद्यपि रीति-काल में कवियों की प्रवृत्ति प्रमुखतः शास्त्रीय नहीं हो सकी: और यह उनकी भावमय स्वच्छंद प्रवृत्ति का संकेत देती है। फिर भी रीति स्वच्छंदवाद की विरोधी शक्ति के रूप में ही स्वीकार की जा सकती है।

रीति-काल

× × ×

§ १७—हमारे सम्मुख समस्त मध्ययुग अपनी काव्य-प्रवृत्तियों के साथ आ चुका है। हम देखते हैं कि इस युग के आरम्भ में काव्य स्वच्छंदवादी प्रवृत्तियों से विकसित हुआ है. साथ ही उसमें कुछ प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ भी क्रियाशील रही हैं और इन्होंने काव्य को पूर्णतः जीवन के उन्मुक्त धरातल पर नहीं आने दिया। परन्तु इन प्रवृत्तियों ने सभी काव्यों को समान रूप से प्रभावित नहीं किया है। यही कारण है कि हमको विभिन्न काव्य-धाराओं में स्वच्छंदवाद का रूप विभिन्न प्रकार से और विभिन्न अनुपातों में मिलता है। साथ ही कुछ कवि ऐसे भी हैं जो अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के कारण किसी धारा के अन्तर्गत नहीं आते और जिनके काव्य में स्वच्छंवाद का अधिक उन्मुक्त रूप मिलता है। कृष्ण-काव्य के वे कवि जो किसी संप्रदाय में नहीं हैं, अथवा जिन्होंने संप्रदाय के बन्धन को स्वीकार नहीं किया है इसी वर्ग के कवि हैं।[३४] साथ ही प्रेम-काव्य

स्वच्छंदवाद का रूप

३४ विद्यापति, मीरा, रसखान, आलम, आनँदघन, शेख तथा ठाकुर

की स्वतंत्र परम्परा भी इसी वर्ग में सम्मिलित की जा सकती है; जिनमें प्रेम की व्यंजना का आधार सूफ़ियों के प्रतीक नहीं है।[३५] परन्तु इन सभी कवियों ने अपने समकालीन साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की है और इस कारण ये एक सीमा तक ही स्वतंत्र कहे जा सकते हैं।

आदि इसी श्रेणी के स्वच्छन्द कवि हैं।

३५ 'ढोला मारूरा दूहा' तथा 'माधवानल कामकंदला' आदि।

तृतीय प्रकरण

आध्यात्मिक साधना में प्रकृति-रूप

§ १—हिन्दी-साहित्य के मध्ययुग का पूर्वार्द्ध धार्मिक काल है। इस काल का अधिकांश काव्य धार्मिक भाव-धारा से संवन्धित है। पिछले

साधना-युग

प्रकरण में इस ओर संकेत किया गया है कि इस काव्य में जिन धार्मिक भाव-धाराओं का विकास हुआ है उनकी पृष्ठभूमि में निश्चित दार्शनिक सिद्धान्त तथा आध्यात्मिक वातावरण था। इस काल के कवियों में वहुत कुछ काव्य संवन्धी प्रवृत्तियों का साम्य है। और इसका कारण उनकी अपनी स्वच्छंदवादी प्रवृत्ति तथा तथ्यों को अनुभूति के माध्यम से ग्रहण करने की प्रेरणा है। परन्तु विभिन्न परम्पराओं से संवन्धित होने के कारण इनके काव्य पर उनके विचारों का प्रभाव निश्चित है। प्रतिभा-संपन्न कवि अपनी परम्परा में अपने संप्रदाय के प्रभाव को लेकर भी एक सीमा तक वतंत्र रह सके हैं। परन्तु वाद के कवियों में अपने संप्रदाय तथा अपनी

परम्परा की रूढ़िवादिता अधिक है और साथ ही वे अपने आदर्श कवि के अनुकरण पर अधिक चलते हैं। प्रत्येक काव्य-परम्परा में एक महान् कवि प्रारम्भ में ही हुआ है और उसी का प्रभाव लेकर बाद के अधिकांश कवि चले हैं। इस कारण आदर्श कवि की रुढ़िवादिता को तो इन कवियों ने अपनाया ही, साथ ही उनका अनुकरण भी इनके लिए रूढ़ि हो गया है। स्वच्छंदवाद की प्रतिक्रियात्मक शक्ति के रूप में धार्मिक सांप्रदायिकता का उल्लेख हुआ है। कहा गया है कि स्वच्छंद प्रवृत्ति तथा अनुभूति-जन्य समन्वय के कारण साधक-कवि अपने दृष्टिकोण में व्यापक हैं। कबीर द्वैताद्वैत विवर्जित तथ्य को प्रतिपादित करके भी अद्वैत विचार को अपनाते हैं और साथ ही द्वैत-विहित प्रेम-साधना का प्रतिपादन करते हैं। प्रेम-मार्गी सूफ़ी कवि बाशरा होकर भी भारतीय विचारों को स्थान स्थान पर ग्रहण करते हैं। सूर वल्लभाचार्य के शिष्य होकर भी निर्गुण-ब्रह्म को अस्वीकार नहीं करते हैं और साथ ही वे दास्य-भक्ति का रूप भी उपस्थित करते हैं। तुलसी रामानन्द की शिष्य-परम्परा में माने जाते हैं; पर वे अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत को स्वीकार करके आत्म-निर्भरा भक्ति का प्रतिपादन करते हैं। यह सब होते हुए भी इनके विचारों के आधार में कुछ निश्चित दार्शनिक सिद्धान्त हैं और अपनी समष्टि में इनकी अपनी अलग विचारावली है। विचार का यह रूप उनकी साधना को प्रभावित करता है और साधना का रूप आध्यात्मिक होता है। इस प्रकार प्रत्येक भाव-धारा का कवि अपने आध्यात्मिक वातावरण में दूसरी भाव धारा से अलग है। इस भूमिका के आधार पर हमारे सामने दो प्रमुख बातें आती हैं। पहले तो ये समस्त धार्मिक परम्पराएँ स्वच्छंद-वादी प्रवृत्ति के मार्ग में प्रतिक्रिया के समान हैं। दूसरे प्रतिक्रिया के रूप में समान होकर भी ये अपने दृष्टिकोण में भिन्न हैं। इन दोनों बातों का प्रभाव इस युग के प्रकृति संबन्धी आध्यात्मिक रूपों पर पड़ा है।

साधना और प्रकृतिवाद

§ २—प्रत्येक संप्रदाय की विचार-पद्धति और उसकी साधना का रूप निश्चित हो जाता है। आगे उसके मानने वालों को उनकी स्थापना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जगत् और जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर सत्यों का रूप उपस्थित करने की स्वतंत्रता उनको नहीं मिलती। तर्क की जो परम्परा और विवेचना का जो रूप उनके पूर्व विकसित हो चुकता है; वही उन्हें स्वीकार कर लेना होता है। ऐसी स्थिति में जगत् का दृश्यात्मक रूप प्रकृति उस विचारक तथा साधक के लिए न तो कोई प्रश्न उपस्थित करती है और न कोई प्रेरणा देती है। इस प्रकार हिन्दी मध्ययुग की काव्य-भावना में प्रकृति के प्रति उन्मुक्त जिज्ञासा के रूप में कभी स्वच्छंदवाद का रूप नहीं आ सका। राम, कृष्ण और प्रेमाख्यान काव्य की भाव-धाराओं में पूर्व निश्चित दार्शनिक सिद्धान्तों का ही समन्वय और प्रतिपादन हुआ है। संत अपने विचारों में स्वतंत्र अवश्य लगते हैं, पर उनकी विचार-परम्परा का भी एक स्रोत है; साथ ही उनकी स्वतंत्रता विचारात्मक स्थापना तथा विरोध पर ही अधिक चलती है। क्योंकि इन समस्त कवियों ने विचार और साधना का रूप गुरु-परम्परा से स्वीकार किया है; इस कारण इनका आध्यात्मिक क्षेत्र भी पूर्व निश्चित तथा स्वतःसिद्ध रहा है। यह साधक कवि अपने चारों ओर के जगत् तथा जीवन से प्रेरणा न प्राप्त करके अपनी साधना के लिए आध्यात्मिक वातावरण उसी परम्परा के अनुसार ग्रहण करता है। फल-स्वरूप मध्ययुग का कवि प्रकृति के दृश्य-जगत् को कभी प्रमुखतः अपनी अनुभूति का, अपने काव्य का विषय नहीं बना सका।

प्रकृति से प्रेरणा नहीं

§ ३—अभी कहा गया है कि मध्ययुग के कवियों ने संप्रदाय और परम्परा का अनुसरण किया है, और इसलिए उनको प्रकृति से

प्रेरणा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। परन्तु पिछले प्रकरण में हम कह चुके हैं कि इन कवियों की प्रवृत्तियाँ किसी भी परम्परा की बन्दी नहीं हैं। प्रश्न उठ सकता है कि यह विरोध क्यों है। वस्तुतः जब हम कहते हैं कि इन्होंने परम्परा का अनुसरण किया है, उस समय अंध अनुसरण से मतलब नहीं है। यह अनुसरण इतना ही है कि उनकी विचार-धारा का आधार बन कर प्राचीन विचार-धारा आती है। इसकी स्वतंत्र प्रवृत्ति का अर्थ है कि इन कवियों में सभी सिद्धान्तों के विभिन्न सत्यों को समन्वित रूप से देखने की शक्ति थी। इस क्षेत्र में धार्मिक काल के साधक कवि के प्रकृतिवादी होने के विषय में सब से बड़ी बाधा थी, उसका विचारात्मक होना। यह इस युग के काव्य की स्वच्छंद-भावना के विरोध में सब से बड़ी प्रतिक्रियात्मक शक्ति रही है; और जिसका उल्लेख पीछे किया गया है। वस्तुतः जैसा प्रथम भाग के प्रथम प्रकरण में संकेत किया गया है; आध्यात्मिक भावना का विकास मानव के अन्दर दार्शनिक चेतना से पूर्व ही हो चुका था। और इस आध्यात्मिक चेतना का आधार बाह्य जगत् के प्रभाव ही कहे जा सकते हैं। जिस जाति ने इस आध्यात्मिक भावना को प्रमुख रखकर ही बार बार दार्शनिक चेतना का प्रश्न उठाया है; उसमें प्रकृति का प्रश्न, उसके प्रति जिज्ञासा का भाव प्रबल हो उठता है। एक बात और भी है। सभी देशों और सभी कालों में दार्शनिक चेतना और दार्शनिक भावना इतनी प्रबलता से उसके कवियों को प्रभावित भी नहीं करती। ऐसा तो मध्ययुग में रीति-काल में देखा जा सकता है। एक सीमा तक दार्शनिक परम्पराओं के प्रभाव से मुक्त कवि दार्शनिक चेतना की ओर बढ़ता है, तो वह प्रकृति और जगत् के माध्यम से आगे बढ़ता है। योरप तथा इंगलैंड के स्वच्छन्द-युग के कवियों का प्रकृति संबन्धी आकर्षण इसी सत्य की ओर संकेत करता है। बाद में जब दार्शनिक चेतना विकसित होने लगती है, उस समय आध्यात्मिक साधना अन्तर्मुखी हो उठती है।

अध्यात्म का आधार

इस सत्य के लिए हम भारत के प्राचीन आध्यात्मिक इतिहास को सामने रख सकते हैं।

§ ४—वैदिक-काल प्रकृतिवादी कहा जा सकता है। उसमें प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की उपासना की जाती थी। उस युग की प्रार्थनाओं के मूल में धार्मिक अध्यात्म-भावना का विकास वस्तु-परक आधार पर हो रहा था।[1] प्रथम भाग के प्रथम प्रकरण में इस बात का उल्लेख किया गया है कि दिक्काल की अस्पष्ट भावना और माध्यमिक गुणों की भ्रामक स्थिति से आदि मानव के मन में अपने चारों ओर फैली हुई प्रकृति के प्रति एक भय की भावना उत्पन्न कर दी थी। बाद में व्यक्तीकरण के आधार पर मानव ने उसे अधिक प्रत्यक्ष रूप से देखा होगा। प्रकृति पूजा में यही सत्य सन्निहित है।[2] प्रकृति के व्यक्तीकरण के आधार पर ईश्वर की भावना का विकास हुआ है: और इस आध्यात्मिक भावना के मूल में बाह्य दृश्य जगत् था। परन्तु दार्शनिक चेतना के विकास में यह

अनुभूति का आधार—विचार

---

१ कां० स० उ० फि०; आर० डी० रानाडे: प्रक० —'दि बैक ग्राउन्ड' पृ० २—'सब से पूर्व हमको जानना चाहिए कि ऋग्वेद प्रकृति-शक्तियों के व्यक्तीकरण का बहुत बड़ा प्रार्थना-संग्रह है। इस प्रकार यह धार्मिक चेतना के विकास की प्रारम्भिक स्थिति प्रस्तुत करता है जो धर्म का बाह्य वस्तु-परक आधार कहा जा सकता है। दूसरी ओर उपनिषद् में धर्म का मनस्-परक आधार है।'

२ वर्शिप ऑव नेचर: जे० जी० फ्रेज़र इन्ट्रोडक्शन, पृ० १६—'सर्व प्रथम प्रकृति-पूजा के विषय में जिससे मेरा मतलब प्रकृति के रूपों की पूजा से है, सप्राण चेतना मानी जाती है, जो मानव को हानि पहुँचाने या उपकार करने की इच्छा या शक्ति से संबन्धित है। . . . इस प्रकार जिसको हम प्रकृति-पूजा कहते हैं, प्रकृति के रूपों के व्यक्तीकरण पर आधारित है।

बहिर्मुखी भावना अन्तर्मुखी होती गई—और बाह्य प्रकृति की प्रेरणा का स्थान आत्म-विचार ने लिया है। इस आत्म-चेतना के उत्पन्न हो जाने पर प्रकृति के देवताओं का आतंक तथा आकर्षण जाता रहा है। और उपनिषद्-कालीन ऋषियों ने दृश्यात्मक जगत् के प्रकृति-विस्तार में अपनी आत्म-चेतना का विस्तार देखा।[3] इस सीमा पर उपनिषद्कार अपने दृष्टिकोण में सर्वेश्वरवादी हो चुका था। परन्तु आत्मचेता दार्शनिक के लिए अब प्रकृति में विशेष आकर्षण नहीं रह गया था; वह प्रकृति की ओर विशेष ध्यान नहीं दे सका। उसके लिए प्रकृति दृश्यमान् भासमान् रह गई थी जो सांसारिक भ्रम के रूप में है।[4] फिर भी इस काल में आत्मानुभूति के आधार पर सर्वचेतनवादी मत था। ऋषियों की दार्शनिक चेतना में अनुभूति प्रधान थी। लेकिन हिन्दी-साहित्य का भक्तियुग जिस वेदान्ती दार्शनिक आधार पर खड़ा है उसकी समस्त प्रेरणा विचारवादी और तर्क-प्रधान है और मध्ययुग की आध्यात्मिक साधना भावात्मक होकर भी बुद्धिवादी दर्शन के आधार पर खड़ी है। वैदिक युग में दृश्यात्मक प्रकृति ही आध्यात्मिक भावना और वातावरण की आधार थी। उपनिषद् काल में आत्मानुभूति से दार्शनिक चिंतन आरम्भ होता है, परन्तु दृश्य-जगत् में आत्म-प्रसार देखने के लिए आधार था। हिन्दी मध्ययुग में उपनिषद्-कालीन अनुभूत सत्यों की स्थापना तो हो सकी, पर उनका आधार तर्क

---

३ कां० स० उ० फि०: आर० डी० रानाडे: प्रक—'दि बैक ग्राउन्ट'; पृ० २

४ उपनिषदों में 'माया' शब्द का प्रयोग कई भावों तथा अर्थों में हुआ है। उनमें भासमान् भ्रम के अर्थ में भी 'माया' का प्रयोग कई स्थलों पर मिलता है। श्वे० उ० में कहा गया है—[ईश्वर का ध्यान करने से, उसमें युक्त होने पर और उसके अस्तित्व में प्रवेश पाने पर ही संसार के महान भ्रम से छुटकारा मिलता है।] 'तस्याभिध्यानात् योजनात् तत्त्वभावात् भूयश्चान्ते विश्वमाया-निवृत्तिः (१·१०)

रहा है। इसका कारण यह था कि पिछले सिद्धान्तों के सामने अपना मत रखना था। फिर इसी दार्शनिक स्थापना के आधार पर इस युग की साधना की नींव पड़ी है।[५] ये साधक-कवि इस क्षेत्र में अपने आचार्यों के प्रतिपादित सत्यों की अपनी अनुभूति से आध्यात्मिक साधना का विषय बनाते हैं। उपनिषद् काल में अन्तर्मुखी अनुभूति से विचार की ओर बढ़ा गया था, पर इस मध्ययुग में विचार से भावानुभूति की ओर जाने का क्रम हो गया। परिणाम स्वरूप इस युग के कवियों की भाव-धारा में प्रकृतिवाद को स्थान नहीं मिल सका, वे प्रकृति से अपना सीधा संबन्ध नहीं स्थापित कर सके।

§ ५—भारतीय प्रमुख विचार परम्पराओं में ब्रह्म परम तत्त्व स्वीकार किया गया है और प्रकृति तो उसका आवरण है, बाह्य स्वरूप है या उसकी शक्ति की अभिव्यक्ति है। किसी रूप में हो प्रकृति उसी परम तत्त्व को लेकर है।

ब्रह्म का रूप

हिन्दी मध्ययुग के भक्त कवियों का मत इसी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर बना है और इस कारण इनके काव्य में प्रकृति का रूप इन विचारों से बहुत दूर तक प्रभावित है। हम देखते हैं कि वैदिक प्रकृतिवाद उस युग के देवताओं के व्यक्तीकरण से आगे बढ़कर एकदेववाद के रूप में उपस्थित हुआ था और यही एकदेववाद वैदिक एकत्त्ववाद तक पहुँच गया था। यह वैदिक एकत्त्ववाद या अद्वैतवाद का रूप बाह्य जगत् या प्रकृति से ही प्राप्त हुआ था। उसके आधार में प्रकृति का व्यापक विस्तार था। परन्तु उपनिषदों का चरम-तत्त्व

---

५ कां० स० उ० फि०: आर० डी० रानाडे: प्रक० —दि बैक ग्राउन्ड, पृ० ११—'लगभग बारह-सौ वर्ष बाद, जब दूसरी बार वेदान्त-दर्शन के निर्माता उपनिषद्-कालीन ऋषियों के द्वारा प्रस्तुत आधार पर अपने सत्यों को स्थापित करने लगे, तो फिर नए धर्म के पुनरुत्थान का रूप प्रकट हुआ। पर इस बार के पुनरुत्थान में धर्म का रूप रहस्यात्मक से अधिक बौद्धिक था।'

अन्तर्मुखी सत्य हो उठा है। उपनिषदों में सप्रपंच अथवा सगुण तथा निष्प्रपंच अथवा निर्गुण दोनों ही रूपों में चरम-तत्त्व का वर्णन मिलता है। बाद में शंकर ने उपनिषदों के आधार पर निष्प्रपंच निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किया और इसीलिए उन्होंने जगत् की उत्पत्ति के लिए, अनेकता की प्रतीति के लिए माया का सिद्धान्त स्वीकार किया है। उपनिषदों में सप्रपंच की भावना के साथ दार्शनिक चेतना अनुभूति के आधार पर विकसित हुई है। इस कारण उनमें प्रकृति के माध्यम से चरम-तत्त्व की कल्पना तक पहुँचने के लिए प्रेरणा मिलती है।[६] इन स्थलों पर ऋषियों की दृष्टि सर्वेश्वरवादी है। बाद में परिस्थिति बदल चुकी थी। जिस मायावाद का प्रतिपादन शंकर ने किया है वह उसी रूप में उपनिषदों में नहीं मिलता। पर दृश्यात्मक के अर्थ में और भ्रम के रूप में इसका मूल उपनिषदों में है। यही विचार जगत् की रूपात्मकता की व्याख्या करने के लिए मायावाद में आता है और यह भारतीय विचार परम्परा में किसी न किसी प्रकार से निवृत्ति भावना से संबन्धित अवश्य रहा है। बौद्ध-धर्म की निवृत्ति भावना ने संसार की परिवर्तनशीलता तथा क्षणिकता से जो रूप पाया है, वह उपनिषद् में भी पाई जाती है। बाद में बौद्ध-धर्म के साथ ही यह

---

६ विभिन्न उपनिषदों में इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं जिनमें प्रकृति में व्यापक सत्त्व का आभास मिलता है। 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।' (बृहद० ३।८।९) [हे गार्गि, इस अक्षर रूप परम तत्त्व के शासन में सूर्य और चन्द्रमा धारण किए हुए स्थित हैं]

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यन्दंते सिंधवः सर्वरूपाः।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यंतरात्मा। (मुंड० २।१।९)

[इसी से समस्त पर्वत और समुद्रों की उत्पत्ति हुई, इससे सभी रूपों की नदियाँ बहती हैं। सारी ओषधियाँ और रस इसी से निकलते हैं। सभी प्राणियों में परिवेष्टित होकर यह आत्मा स्थित है]

भावना भारतवर्ष में अधिक व्यापक हो उठी। बौद्ध-धर्म का प्रभाव समाप्त हो गया पर संसार-त्याग की भावना जनता में बनी रही। शंकर के मायावाद की ध्वनि ऐसी ही है साथ ही निर्गुण संतों के माया का रूप भी यही था। ब्रह्म की निष्प्रपंच भावना का विकास हो चुका था, उसके अनुसार दृश्य-जगत् माया के रूप में मिथ्या या भ्रम स्वीकार किया गया।[७] इसके कारण हिन्दी मध्ययुग की एक प्रमुख काव्य-धारा में प्रकृति के प्रति, सीधे अर्थों में कोई आकर्षण नहीं रहा है। शंकर के बाद अन्य वेदान्तियों ने ब्रह्म को सप्रपंच भी माना है और इस प्रकार माया को भी सत्य रूप में स्वीकार किया है। सगुण भक्त-कवियों ने प्रकृति को असत्य नहीं माना है, परन्तु यहाँ उनका विचार व्यावहारिक समन्वय उपस्थित करने का है। अन्ततः वे निर्गुण को ही स्वीकार करते हैं। साथ ही जिस सगुण ब्रह्म की स्थापना वे करते हैं, प्रकृति उसकी शक्ति से संचालित है और उसके इंगित मात्र पर नाचने वाली नटी है। इस प्रकार सगुणवादियों में प्रकृतिवाद को फिर भी स्थान नहीं मिल सका, यद्यपि इन्होंने उसके रूप और उसकी दृश्यात्मकता को अस्वीकार भी नहीं किया है।

ईश्वर की कल्पना

§ ६—हम देख चुके हैं कि परम-तत्त्व-रूप ब्रह्म को एक बार पहिचान लेने के बाद भारतीय तत्त्ववाद के इतिहास में आदि तत्त्व के बारे में तर्क चले हैं; पर ब्रह्म विषयक प्रश्न प्रकृति के समक्ष उसके माध्यम से नहीं उठ सके हैं। प्रकृति का उन्मुक्त-क्षेत्र उस जिज्ञासा की प्रेरणा शक्ति नहीं हो सका।[८] इसके साथ ही ईश्वर की कल्पना के विकास ने प्रकृति के प्रति उपेक्षा को और भी दृढ़ कर दिया है। विचारक स्वयं आदि तत्त्व

---

७ कां० स० उ० फि०: आर० डी० रानाडे: प्रक० —'दि रूट्स् ऑव फ़िलासफ़ीस्'

८ कठोपनिषद् पूछता है—'क्या सूर्य अपनी शक्ति से चमकता है। क्या

के विचार को लेकर व्यस्त था और जनता को उसने ईश्वर की कल्पना देकर संतुष्ट कर दिया था। ईश्वर या भगवान् की भावना जनता में एक वार प्रचलित हो जाने के बाद, उसमें किसी जिज्ञासा या किसी प्रश्न के लिए स्थान नहीं रह जाता। जिस प्रकार आदि तत्त्व की खोज में, आत्मानुभूति के आधार पर परम आत्मवान् ब्रह्म की कल्पना सामने आई है; उसी प्रकार प्रकृति शक्तियों के व्यक्तीकरण और सामूहीकरण को जब मानवी आधार मिल गया तब ईश्वर का रूप सामने आता है। इस स्थल पर प्रथम भाग के द्वितीय प्रकरण का उल्लेख कर देना आवश्यक है। उसमें विस्तार से विवेचना की गई है कि मनस् तथा वस्तु की क्रिया प्रतिक्रिया किस प्रकार एक ही वस्तु-स्थिति से दो सत्यों का बोध कराती है। वैदिक युग में बहुदेववाद एकदेववाद में परिवर्तित हो चुका था: और जिस समय से एक देवता को सर्वोपरि मानने की भावना उत्पन्न हो जाती है, उसी समय से ईश्वरकी कल्पना का प्रारम्भ मानना चाहिए। वैदिक मंत्रों में ही प्रकृति की भौतिक-शक्ति की कल्पना से क्रमशः देवता का व्यक्तीकरण भावात्मक होता गया है और इस व्यक्तीकरण में आचरणात्मक गुणों तथा आध्यात्मिक चरित्रों का संयोग होता गया।[१] इस सीमा पर वैदिक ऋषि एक देवता की शक्ति-कल्पना में दूसरे देवता की शक्ति का योग भी करने लगे थे। देवता के साथ कर्त्ता और कारण की भावना जुड़ गई और साथ ही मृत्यों की जीवन संबन्धी व्यवस्थाओं से भी उसका संयोग हो गया। देवता के व्यक्तीकरण

चन्द्रमा और तारे अपने ही प्रकाश से प्रकाशवान् है ? क्या बिजली अपनी स्वाभाविक चमक से चमकती है ? और आगे चलकर वह कहता है—'न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' (कठो० २।५ १५)

१ इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एन्ड इथिक्स; गॉड्स (हिन्दू)

की इस प्रकृति और समाज की सम्मिलित स्थिति को ईश्वर के रूप में समझा जा सकता है। ईश्वर के आचरणात्मक व्यवस्थापक रूप के मूल में आदिम मानव की प्रकृति-शक्तियों के प्रति भय की भावना सन्निहित है। बाद में सामाजिक आधार पर मानवीय मनोभावों का संयोग व्यक्तीकरण के साथ हुआ है।[१०] वैसे वैदिक युग में भी मानवीय भावों के व्यक्तीकरण रूप देवताओं का उल्लेख हुआ है।

इस प्रकार ईश्वर की धार्मिक कल्पना, वैदिक एकदेववाद के विकसित होते रूप में समस्त भौतिक तत्त्वों के कर्त्ता का रूप और उस व्यक्तीकरण में आचरणात्मक व्यवस्थापक और भावात्मक उपास्य के रूप के मिल जाने से प्राप्त हुई है। यद्यपि उपनिषद्-कालीन द्रष्टा आत्मानुभवी दार्शनिक हैं, ईश्वर की पूर्ण कल्पना का विकास इसी युग में हुआ है। श्वेताश्वेतर उपनिषद् में ईश्वर की कल्पना है।[११] आगे चल कर पौराणिक-युग में यह कल्पना त्रिदेवों के रूप में पूर्ण होती है। ईश्वर स्रष्टा है, पालन कर्ता है और साथ ही संहार भी करता है। इसमें सर्जन और विनाश प्रकृति का योग है और पालन की भावना मानवीय है। भारतीय दर्शन की कोई भी विचार-धारा रही हो, साधना में ईश्वर का स्वरूप कुछ भी माना गया हो; परन्तु भारतीय जनता में ईश्वर की भावना आज भी इसी रूप में चली आती है। इस प्रकार भारतीय विचारों और भावों दोनों में ईश्वर का दृढ़ आधार रहा है। इस आधार के बिना एक पग आगे बढ़ा ही नहीं

---

१० हिन्दू गॉडस् एन्ड हीरोज़: लियोनल डी० बार्नेट: पृ० २०

११ श्वेता० ३।२।३—'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः। प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति संचुकोपान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः। विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः।'

गया है। परिणाम स्वरूप धार्मिक काव्य के साधक-कवि को प्रकृति के प्रति जिज्ञासा नहीं हुई। तर्क और विशुद्ध ज्ञान के क्षेत्र में ब्रह्म था; तो व्यवहार की सीमा में भगवान् की स्थापना थी। सब कुछ करनेवाला रखने वाला और मिटानेवाला है ही; फिर प्रश्न उठता ही नहीं कि यह सब क्या है, कैसे हुआ और क्यों है। इधर हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में मुसलमानी एकेश्वरवाद का रूप भी जनता के सामने आ चुका था। भारतीय ईश्वर की कल्पना के आधार में अद्वैत ब्रह्म और आत्म-तत्त्व जैसी एकता की भावना रही है; परन्तु मुसलिम एकेश्वरवाद एकान्तरूप से एक की कल्पना लेकर चलता है जिसमें परिव्याप्त और परावर की भावना नहीं है। इसका ईश्वर एक शासक और अधिष्ठाता के रूप में है। हिन्दी मध्ययुग में इस भाव-धारा का प्रभाव कबीर आदि संतों पर केवल खंडनात्मक पक्ष तक ही सीमित है; पर सूफ़ी प्रेममार्गी कवियों में प्रत्यक्ष है। इस शासक रूप ईश्वर के समक्ष प्रकृति सर्जना का प्रश्न आता ही नहीं और प्रकृति के रूप के प्रति आकर्षण की समस्या उठती ही नहीं।

§ ७—इस विषय में एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है, जिससे मध्ययुग की आध्यात्मिक साधना में प्रकृति के रूपों पर विशेष प्रभाव पड़ा है। और इससे भी इस युग के काव्य में प्रकृतिवाद को स्थान नहीं मिल सका। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग की साधना का रूप प्रेम है जिसका आधार 'रति' का स्थायी भाव कहा जा सकता है। माधुर्य भक्ति प्रेम साधना का एक रूप है। तुलसी की भक्ति-भावना अवश्य दास्य-भाव की है, परन्तु इसमें भी सामाजिक आधार पर एक महत् के प्रति प्रेम की भावना सन्निहित है। इस प्रकार इस युग की भाव-साधना पूर्ण रूप से सामाजिक आधार पर स्थापित है। प्रेमी साधक जब अपने आराध्य के प्रति आत्म-निवेदन करता है, उस समय वह मानवीय भावों का आधार ग्रहण करता है। मध्ययुग की भावात्मक उल्लास की साधना निवृत्ति-

प्रेम-भावना

प्रधान साधना की प्रतिक्रिया थी। वैदिक युग की जीवन संबन्धी उत्सुकता और शक्ति चाहना उपनिषद्-काल की अन्तर्मुखी चिन्तन-धारा में जीवन और जगत् से दूर हट गई। संसार की क्षणिकता और दुःखवाद से यह निवृत्ति की भावना बौद्ध-काल में अधिक बढ़ती गई। परन्तु जीवन के विकास और उसकी अभिव्यक्ति के लिए यह दुःखवाद और निवृत्ति-मार्ग अवरोध थे। यह परिस्थिति आगे नहीं चल सकी। जीवन को अपना मार्ग खोजना ही पड़ा।[१२] मध्ययुग में फिर जीवन और जगत् के प्रति जागरूकता बढ़ी। लेकिन समस्त पिछली विचार-धारा के फल स्वरूप इस आकर्षण का रूप दूसरा हुआ। इस नवजागरण के युग मे अनन्त आनन्द और उल्लास के रूप में जीवन तथा जगत् दोनों को ग्रहण किया गया। और इस सब का केन्द्र हुआ भगवान् का रूप, जिससे इस आनन्द भावना के विस्तार में, अनन्त जीवन, चिर-यौवन तथा राशि राशि सौन्दर्य उल्लसित हो उठा। यह नया जागरण, नया उत्थान ही हिन्दी साहित्य का भक्ति आन्दोलन था।[१३] इस भाव-धारा के आधार में मानवीय भावों की प्रधानता है जो भगवान् के आनन्द रूप के प्रति संवेदनशील हो उठती है। फलस्वरूप इस युग में प्रकृतिवाद को स्थान नहीं मिल सका; काव्य मे प्रकृति को प्रमुख स्थान नहीं मिला। आगे हम देखेंगे कि प्रकृति में जीवन का आनन्दोल्लास और यौवन-उन्माद का जो रूप इस काव्य में मिलता है, वह या तो भगवान् के आनन्द से प्रतिबिंबित लगता है और या वह मानवीय भाव-पक्ष में उद्दीपन

---

१२ इसी प्रकार का आन्दोलन सिद्धों का भी कहा जा सकता है। परन्तु जीवन के आकर्षण में पतन की सीमा भी समीप रहती है। यह सिद्धों और भक्तों दोनों के ही आन्दोलनों में देखा जा सकता है।

१३ दि भक्ति कल्ट इन एन्शेन्ट इन्डिया; भागवत कुमार शास्त्री : इन्ट्रोडक्शन पृ० १२ और १६

गया है। परिणाम स्वरूप धार्मिक काव्य के साधक-कवि को प्रकृति के प्रति जिज्ञासा नहीं हुई। तर्क और विशुद्ध ज्ञान के क्षेत्र में ब्रह्म था; तो व्यवहार की सीमा में भगवान् की स्थापना थी। सब कुछ करनेवाला रखने वाला और मिटानेवाला है ही; फिर प्रश्न उठता ही नहीं कि यह सब क्या है, कैसे हुआ और क्यों है। इधर हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में मुसलमानी एकेश्वरवाद का रूप भी जनता के सामने आ चुका था। भारतीय ईश्वर की कल्पना के आधार में अद्वैत ब्रह्म और आत्म-तत्त्व जैसी एकता की भावना रही है; परन्तु मुसलिम एकेश्वरवाद एकान्तरूप से एक की कल्पना लेकर चलता है जिसमें परिव्याप्त और परावर की भावना नहीं है। इसका ईश्वर एक शासक और अधिष्ठाता के रूप में है। हिन्दी मध्ययुग में इस भाव-धारा का प्रभाव कबीर आदि संतों पर केवल खंडनात्मक पक्ष तक ही सीमित है; पर सूफ़ी प्रेममार्गी कवियों में प्रत्यक्ष है। इस शासक रूप ईश्वर के समक्ष प्रकृति सर्जना का प्रश्न आता ही नहीं और प्रकृति के रूप के प्रति आकर्षण की समस्या उठती ही नहीं।

प्रेम-साधना

§ ७—इस विषय में एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है, जिससे मध्ययुग की आध्यात्मिक साधना में प्रकृति के रूपों पर विशेष प्रभाव पड़ा है। और इससे भी इस युग के काव्य में प्रकृतिवाद को स्थान नहीं मिल सका। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग की साधना का रूप प्रेम है जिसका आधार 'रति' का स्थायी भाव कहा जा सकता है। माधुर्य भक्ति प्रेम साधना का एक रूप है। तुलसी की भक्ति-भावना अवश्य दास्य-भाव की है, परन्तु इसमें भी सामाजिक आधार पर एक महत् के प्रति प्रेम की भावना सन्निहित है। इस प्रकार इस युग की भाव-साधना पूर्ण रूप से सामाजिक आधार पर स्थापित है। प्रेमी साधक जब अपने आराध्य के प्रति आत्म-निवेदन करता है, उस समय वह मानवीय भावों का आधार ग्रहण करता है। मध्ययुग की भावात्मक उल्लास की साधना निवृत्ति-

प्रधान साधना की प्रतिक्रिया थी। वैदिक युग की जीवन संबन्धी उत्सुकता और शक्ति चाहना उपनिषद्-काल की अन्तर्मुखी चिन्तन-धारा में जीवन और जगत् से दूर हट गई। संसार की क्षणिकता और दुःखवाद से यह निवृत्ति की भावना बौद्ध-काल में अधिक बढ़ती गई। परन्तु जीवन के विकास और उसकी अभिव्यक्ति के लिए यह दुःखवाद और निवृत्ति-मार्ग अवरोध थे। यह परिस्थिति आगे नहीं चल सकी। जीवन को अपना मार्ग खोजना ही पड़ा।[१२] मध्ययुग में फिर जीवन और जगत् के प्रति जागरूकता बढ़ी। लेकिन समस्त पिछली विचार-धारा के फल स्वरूप इस आकर्षण का रूप दूसरा हुआ। इस नवजागरण के युग में अनन्त आनन्द और उल्लास के रूप में जीवन तथा जगत् दोनों को ग्रहण किया गया। और इस सब का केन्द्र हुआ भगवान् का रूप, जिससे इस आनन्द भावना के विस्तार में, अनन्त जीवन, चिर-यौवन तथा राशि राशि सौन्दर्य्य उल्लसित हो उठा। यह नया जागरण, नया उत्थान ही हिन्दी साहित्य का भक्ति आन्दोलन था।[१३] इस भाव-धारा के आधार में मानवीय भावों की प्रधानता है जो भगवान् के आनन्द रूप के प्रति संवेदनशील हो उठती है। फलस्वरूप इस युग में प्रकृतिवाद को स्थान नहीं मिल सका; काव्य मे प्रकृति को प्रमुख स्थान नहीं मिला। आगे हम देखेंगे कि प्रकृति में जीवन का आनन्दोल्लास और यौवन-उन्माद का जो रूप इस काव्य में मिलता है, वह या तो भगवान् के आनन्द से प्रतिबिंबित लगता है और या वह मानवीय भाव-पक्ष में उद्दीपन

---

१२ इसी प्रकार का आन्दोलन सिद्धों का भी कहा जा सकता है। परन्तु जीवन के आकर्षण में पतन की सीमा भी समीप रहती है। यह सिद्धों और भक्तों दोनों के ही आन्दोलनों में देखा जा सकता है।

१३ दि भक्ति कल्ट इन एन्शेन्ट इन्डिया; भागवत कुमार शास्त्री : इन्ट्रोडक्शन पृ० १२ और १६

के अर्थ में प्रयुक्त है।

भारतीय सर्वेश्वरवाद

§ ८—ऊपर जिन कारणों का उल्लेख किया गया है, समष्टि रूप से उनसे हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के धार्मिक काव्य का प्रकृति संबन्धी दृष्टिकोण निश्चित होता है। वस्तुतः ये कारण वैदिक युग से भारतीय विचार-धारा को प्रमुख प्रेरणा देनेवाली प्रवृत्तियों के रूप में रहे हैं। भारतीय चिंतन-धारा में ब्रह्म की इतनी स्पष्ट-भावना और ईश्वर का इतना व्यक्त रूप रहा है कि भारतीय सर्वेश्वरवाद में ब्रह्म की भावना और ईश्वर का रूप ही प्रथम है, प्रत्यक्ष है। और प्रकृति उसी भावना में, उसी रूप में अन्तर्व्याप्त है, उसका स्वतंत्र अस्तित्व किसी प्रकार से स्वीकार नहीं किया जाता। पाश्चात्य सर्वेश्वरवाद प्रकृति के माध्यम से एकत्त्व और एकात्म की ब्रह्म-भावना को समझने का प्रयास बाद तक करता रहा है। इसी कारण उनके काव्य में प्रकृति में ब्रह्म-चेतना के परि-व्याप्त होने की भावना अधिक मिलती है। प्रमुख भारतीय मत से प्रकृति तो दृश्यमान् है, भ्रामक है, और उसकी सत्ता व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य। प्रतिदिन के व्यवहार में सामने आनेवाले यथार्थ को स्वीकार भर कर लिया गया है। प्रकृति में जो सत् है वह जीव और ईश्वर दोनों का अंश है; इसलिए वह कभी जीव की दृष्टि से देखी जाती है और कभी ईश्वर के रूप में अनुभूत हो उठती है। भारतीय मत से प्रकृति का यही सत्य है।[१४] पूर्व और पश्चिम को लेकर प्रकृति के संबन्ध में यह बहुत बड़ा अन्तर है। हम देख

चुके हैं कि प्रारम्भिक वैदिक युग में भारतीय सर्वेश्वरता की भावना प्रकृति के माध्यम से ही किसी व्यापक सत्ता की ओर बढ़ी थी। परन्तु एक बार ब्रह्म-तत्त्व स्वीकार हो जाने पर, ईश्वर की कल्पना पूरी हो जाने के बाद भारतीय विचार में सर्वेश्वरता तथा काव्य-रूप में प्रकृतिवाद के लिए स्थान नहीं रह जाता। प्रकृति का दृश्यमान् सत्य केवल परिवर्तनशील है, क्षणिक है; वह व्यापक न होकर केवल कारणात्मक और सापेक्ष है। ऐसी स्थिति में प्रकृतिवाद भारतीय दृष्टि से केवल एक मानसिक भ्रम स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः मध्ययुग के निर्गुणवादी संतों की दृष्टि से प्रकृति भ्रम है, मिथ्या है, और सगुणवादी भक्तों की दृष्टि में प्रकृति का सारा स्वरूप ईश्वर-सिद्धान्त में निलय हो जाता है।[१५]

इन सिद्धान्तों के आधार पर हम आगे की विवेचना में देखेंगे कि जिस काव्य परम्परा में ब्रह्म(और ईश्वर का,भी) का जो रूप स्वीकार किया गया है उसमें प्रकृति का रूप उससे प्रभावित है। साथ ही ऊपर की समस्त विवेचना को लेकर पर हम इन सिद्धान्तों को आधार रूप से प्रस्तुत कर सकते हैं। हिन्दी मध्ययुग के साधना काव्य में ब्रह्म की भावना और ईश्वर के रूप के प्रत्यक्ष रहने के कारण इस युग के सर्वेश्वरवाद में ईश्वर में प्रकृति का अन्तर्भाव है। ईश्वर प्रकृति में परिव्याप्त है और इस प्रकार इस युग के काव्य के आध्यात्मिक वातावरण के लिए दार्शनिक तथा साधनात्मक दोनों पक्षों में प्रकृति-वाद उपयुक्त नहीं हो सका। इस युग के काव्य में आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रकृति कभी मूल प्रेरणा के रूप में नहीं आ सकी। फिर भी हिन्दी मध्ययुग की आध्यात्मिक साधना और उसके आधारभूत दर्शन में माया के रूप में प्रकृति नितान्त भ्रम तथा असत्य नहीं है। संतों को

---

१५ इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑव दि हिन्दू डॉक्ट्रिन: रेना ग्यूनॉन: दि क्लेसिकल प्रिज्युडिसेज़: पृ० ४२।

छोड़कर अन्य साधकों ने प्रकृति को सत् (सत्य) के रूप में लिया है। परन्तु हम आगे देख सकेंगे कि प्रकृति उनके ईश्वर रूप में अन्तर्भूत ही हो उठती है।

संत साधना में प्रकृति-रूप

§६९—संत साधकों की विशेषता उनकी साधना तथा विचार-पद्धति का सहज रूप है। 'सहज' शब्द संत-काव्य की आधार शिला है। इनकी विचारधारा की पृष्ठ-भूमि में अनेक परम्पराएँ हैं, पर इन्होंने अपनी समन्वित दृष्टि से इन सब को अपने सहज सिद्धान्त के अनुरूप कर लिया है। अपनी विचार-पद्धति में कबीर नाथ-पंथियों से बहुत दूर तक प्रभावित हैं; परन्तु साधना के क्षेत्र में इन्होंने अनुभूति और प्रेम का मार्ग चुना है। और संतों के इस मार्ग में सभी सिद्धान्त सहज होकर ही उपस्थित होते हैं। कबीर आदि संतों में विरोध दिखाई देने का कारण भी यही है।[१९] हम देख चुके हैं कि पिछले युगों में प्रकृति के उन्मुक्त क्षेत्र से जिज्ञासा हट चुकी थी और सृष्टि तत्त्व का निरूपण तर्क तथा अनुमान के आधार पर होने लगा था। संत साधक भी इस तर्क तथा विचार की परम्परा को छोड़कर उन्मुक्त होकर प्रकृति के सामने नहीं खड़ा हो सका। परन्तु अपनी सहज भावना में वह प्रकृति के प्रति आग्रही अवश्य दिखाई देता है। कबीर पूछ उठते हैं—

सहज सिद्धान्त

> "प्रथमे गगन कि पुहुमी प्रथमे: प्रथमे पवन कि पाणी।
> प्रथम चन्द कि सूर प्रथम प्रभु: प्रथमे कौन बिनाणी।
> प्रथमे दिवस कि रैणि प्रथमे प्रभु: प्रथमे बीज कि खेतं।
> कहै कबीर जहाँ बसहु निरंजन: तहाँ कछु आहि कि सुन्यं।"

इस पद के अन्तर्गत नाथपंथी सृष्टि-प्रतीकों का आधार होने पर भी,

१९ कबीर: ग्रं० प० [illegible] ५ 'निरंजन कौन है' पृ० ६८।

साधक का ध्यान निश्चय ही व्यापक विश्व-सर्जना पर है। प्रभु की सर्वप्रथम भावना के सामने उसको यह प्रश्न अधिक जचता नहीं। फिर भी उसका प्रश्न है—नश्वर सर्जना में प्रथम कौन माना जाय? दादू अधिक तार्किक नहीं हैं; और इसलिए वे सर्जन-क्रम के प्रति अधिक प्रत्यक्ष रूप से प्रश्नशील हुए हैं—'हे समर्थ, यह सर्जन देखा नहीं जाता। कहाँ से उत्पत्ति होती है और कहाँ निलय होता है। पवन और पानी कहाँ से हुए और पृथ्वी-आकाश का विस्तार जाना नहीं जाता। यह शरीर और प्राण का आकाश में संचरण कैसे हुआ। यह एक ही अनेक में कैसे प्रकट हो रहा है; फिर यह विभिन्नता एक में कैसे विलीन हो जाती है। सृष्टि तो स्वयं चकित, मुग्ध है; हे दयालु इसका नियमन किस प्रकार करते हो?'[१७] यहाँ साधक के मन में सर्जन के प्रति जिज्ञासा है, आश्चर्य है; पर उसके सामने अपने 'प्रभु' की भावना भी स्पष्ट है। इस कारण प्रकृति के रूपों तथा स्थितियों के प्रति जिज्ञासा केवल उनके उत्तर को स्पष्ट करने के लिए है।

क—और यह उनके आराध्य की भावना इनके सामने प्रत्यक्ष रहती है। वास्तव में प्रकृति के प्रति जिज्ञासा भी संत साधक में ब्रह्म विषयक प्रश्न को लेकर ही है। संत साधकों को प्रकृति के रूप के प्रति कोई आकर्षण नहीं; और कोई कारण भी नहीं, जब उनको अपनी साधना का विषय उससे परे ही मिलता है।

आराध्य की स्वीकृति

संत साधक प्रकृति की क्रियाशीलता और परिवर्तनशीलता के आधार पर सृष्टा की कल्पना दृढ़ करना चाहता है। वह सर्जन के विस्तार में पृथ्वी, आकाश या स्वर्ग में अपने अलख देव को देखना चाहता है। वह जल, थल, अग्नि और पवन में व्याप्त हो रहे अपने आराध्य को पूछता है; और सूर्य-

चंद्र की निकटता में उसे खोजता है।[१८] साधक के समस्त सर्जन के प्रति जिज्ञासा अधिक दूर तक चल भी नहीं सकती, क्योंकि उत्तर उसके सामने प्रत्यक्ष है—

"आदि अंति सब भावै घड़ै, ऐसा समरथ सोइ।
करम नहीं सब कुछ करै, यौं कलि धरा बनाइ॥" (दादू)

§१०—सर्जन के प्रति प्रश्न ने और ब्रह्म की प्रत्यक्ष भावना ने साधकों को सृष्टा के प्रश्न पर पहुँचाया है। इस सीमा पर वे एकेश्वर-

एकेश्वरवादी भावना

वादी जान पड़ते हैं। यह भावना विचार के क्षेत्र में कबीर में भी मिलती है और अन्य संत-कवियों में अपने अपने विचारों के अनुसार पाई जाती है। दादू के अनुसार प्रकृति सृजना का रचयिता राम है—'जिसने प्राण और पिंड का योग किया है उसी को हृदय में धारण करो। आकाश का निर्माण करके उसे तारकों से जिसने चित्रित किया है। सूर्य-चंद्र को दीपक बनाकर बिना आलंबन के उन्हें वह संचरित करता है। और आश्चर्य ! एक शीतल तथा दूसरा उष्ण [illegible] ने अनन्त कला दिखाते हुए गतिशील हैं। और यही नहीं, अने[illegible] रंग तथा ध्वनियोंवाली पृथ्वी की, सातों समुद्रों के साथ जिसने रच[illegible] की है। जल-थल के समस्त जीवों में जो व्याप्त होकर उनका पा[illegible] करता है। जिसने पवन और पानी को प्रकट किया है और जो [illegible] धाराओं में वर्षा करता है। नाना प्रकार के अठारह कोटि वृक्ष[illegible]

[illegible]

सींचनेवाले वही हैं।[१९] परन्तु संतों का यह एकेश्वरवाद मुसलिम एकेश्वरवाद से नितान्त भिन्न है। उसमें ईश्वर का विचार एकछत्र सम्राट के समान है जिसकी शक्तियाँ असीम और अप्रतिहत हैं। परन्तु व्यापक होने की भावना उसमें नहीं पायी जाती। यहाँ दादू कहते हैं—'पूरि रह्या सब संगा रे'। इस प्रकार संत प्रकृति में जिस सृष्टा की भावना पाते हैं वह उपनिषदों में उल्लिखित तथा भारतीय विचार-धारा से पुष्ट सप्रपंच-भावना के समान है।[२०] सुन्दरदास में इसका और भी प्रत्यक्ष रूप मिलता है, क्योंकि अद्वैत-भावना का उनपर अधिक प्रभाव है। उनका सप्रपंच ब्रह्म—'आकाश को तारों से विभूषित करता है और उसने सूर्य-चद्र को दीपक बनाया है। सप्त द्वीपों और नव खंडों में उसने दिन रात की स्थापना की है और पृथ्वी के मध्य में सागर और सुमेरु की स्थापना की है। अष्ट-कुल पर्वतों की रचना उसने की है जिनके मध्य में नदियाँ प्रवाहित हैं। अनेक प्रकार की विविध वनस्पतियाँ फल फूल रही हैं जिन पर समय समय पर मेघ आकर वर्षा करते हैं।[२१] वस्तुतः यहाँ सृष्टा प्रकृति के आश्रय से अपने ही गुणों को प्रसरित करता है। वह अपने से अलग थलग सृष्टि-कर्त्ता नहीं है। आगे हम देखेंगे कि सूफ़ी प्रेममार्गियों से इस विषय में इनका मतभेद है।

§११—संतों ने संसार को क्षणिक माना है,परिवर्तनशील स्वीकार

---

१९ शब्द० दादू: पद ३४३

२० दि निर्गुण स्कूल ऑव हिन्दी पोएट्री: पी० डी० वड़थ्वाल: प्र० २, पृ०: २०।

२१ ग्रन्था० सुन्दर०: गुन उत्पत्ति निसानी का पद। सर्जन के संबन्ध में सुन्दरदास में एक पद और मिलता है—'नटवर राच्यो नटेव एक' (राग रासभरो. पद ५) इसमें भी सोपाधि गुणात्मक सर्जन की बात कही गई है।

किया है। प्रकृति की परिवर्तनशीलता दार्शनिक चेतना की प्रेरक शक्ति रही है। आत्म-तत्त्व के स्थायित्व को स्वीकार करने के लिए भी वह एक आधार रहा है। हम

प्रवहमान् प्रकृति

पहले ही संकेत कर चुके हैं कि मध्ययुग के साधकों ने विचार-परम्परा से ही सत्य को ग्रहण किया है। यही कारण है कि वे विश्व-परिवर्तनों की ओर ध्यान रखते हुए भी उन पर अधिक ठहर नहीं सके; और उन्होंने उसके परिवर्तन तथा उसकी क्षणिकता में आत्म-तत्त्व का संकेत नहीं दिया है। बात यह है कि इनके पूर्व ही अद्वैतवाद ने दृश्यमान् जगत् की क्षणिकता के साथ उसको अनुभव करनेवाली आत्मा को सत्य स्वीकार किया था। उपनिषद्-काल से यह सत्य दृश्यमान् प्रकृति के परे आत्म-तत्त्व के रूप में स्वीकृत चला आया है।[२९] इस कारण संतों ने जीवन के विस्तार में ही अधिक परिवर्तन दिखाया है; उनके काव्य में प्रकृति की दृश्यात्मकता नहीं है। फिर भी प्रतीकात्मक कल्पना में प्रवहमान् प्रकृति का रूप यत्र-तत्र मिल जाता है। सुन्दरदास विश्व-सर्जन की कल्पना एक महान् वृक्ष के समान करते हैं। वह वृक्ष चिर नवीन है, इसमें एक ओर सघन फल-फूलों का वर्णन है तो साथ ही झरते हुए पत्तों का पतझड़ भी है। ऐसे

विश्व तरु की मूल अनन्त-व्यापी काल प्रसरित है। परन्तु परिवर्तन सत्य नहीं है, क्योंकि जो सत्य है वह शाश्वत भी है। शाश्वत का आरम्भ नहीं होता; जिसका आरम्भ और अन्त होता है वह शाश्वत सत्य नहीं हो सकता। इसलिए यह भ्रम है, माया है। सुन्दर कहते हैं—

"मन ही के भ्रम तें जगत यह देखियत,
मन ही कौ भ्रम गये जगत विलात है।
(सुन्द० ग्र० चाण० अं २५)

यहाँ जगत् का अर्थ है सृष्टि, सजन।

व—इस प्रवहमान् परिवर्तनशीलता के स्थायी आत्म-तत्त्व से परिचित होना ही सत्य ज्ञान है। सुन्दर प्रकृति-रूपक में इसी ओर संकेत करते हैं—'देखो और अनुभूति ग्रहण करो। प्रत्येक घट में आत्माराम ही तो निरन्तर वसंत खेलता है। यह कैसा विस्तार है जिसका अन्त ही नहीं आता। इस चार प्रकार के विस्तार वाली सृष्टि में चौरासी लाख जीव हैं। नभचारी, भूचारी तथा जलचारी अनेक रचनाएँ हुई हैं। पृथ्वी, आकाश, अग्नि, पवन और पानी ये पाँचों तत्त्व निरन्तर क्रियाशील हैं। चंद्र, सूर्य, नक्षत्र-मंडल, सभी देव-यक्ष आदि अनंत हैं। ये सब हैं, परन्तु इनका अस्तित्व क्षणिक है, परिवर्तनशील है। जैसे समुद्र में राशि राशि फेन, असंख्य बुद्बुद् और असंख्य लहरें बनकर मिट जाती हैं; और तत्त्व-रूप तरुवर एक रस स्थिर है, पर पत्ते झर झर पड़ते हैं। यह क्रीड़ा का प्रसार ज्यों का त्यों फैला हुआ है और अनन्त काल बीत चुका है। परन्तु सभी संत यह जानते हैं कि ब्रह्म का विलास ही अनन्त और अखंडित है।'[२३] फिर जब क्षणिकता और प्रवहमान् के परे आत्म-तत्त्व सन्नि-

आत्म-तत्त्व और ब्रह्म-तत्त्व का संकेत

२३ ग्रन्थ०; सुन्द० : राग रासभरी पद ६

हित है जो ब्रह्म से वसंत खेलता है, तो निश्चय ही 'माया' को, 'अविद्या' को अलग करना होगा। सत्य की अनुभूति के लिए अविद्या को दूर करना आवश्यक है, ऐसा वेदान्त का मत भी है—'शंकर का मत है कि हम सत्य का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक हम अविद्या के अधिकार में हैं जो विचार की तार्किक प्रणाली है। अविद्या आत्मानुभूति से पतन है, यह ससीम की मानसिक व्याधि है जो आध्यात्मिक सत्य को सहस्रों भाग में कर देती है। प्रकाश का छिपना ही अन्धकार है। डायसन जैसा कहते हैं, अविद्या ज्ञान की अदृश्यता है मनस का यह झुकाव है जिससे वस्तुओं को दिक्-काल-कारण के माध्यम के अतिरिक्त देखना असम्भव हो जाता है।'[२४] सन्त माया की सर्जनात्मक शक्ति का उल्लेख नहीं करते परन्तु उसके अविद्या रूप को वेदान्त के समान ही स्वीकार करते हैं जो अपने आवरण से आत्मानुभूति से वंचित रखती है। दादू प्रकृति-रूपक में उसी माया को, अविद्या को, जीव के बन्धन के रूप में चित्रित करते हैं—

और जो दिन जाता वह कभी लौटता है? सूर्य-चंद्र भी दिन-दिन घटती आयु का स्मरण ही दिलाते हैं। सरोवर के पानी और तरुवर की छाया को देखो! क्या होता है? रात-दिन का यही तो चक्र है; यह प्रसरित काल काया को निगलता चला जाता है। हे हंस पथिक! विश्व से प्रस्थान करने का समय उपस्थित है; और तुमने आत्माराम को पहिचाना ही नहीं।'[२६] संतों के अनुसार सब जा रहा है, बदल रहा है और नष्ट हो रहा है। धरती, आकाश, नक्षत्र सभी तो इस प्रवाह में बहे जा रहे हैं। पर इस सब के पीछे एक है जो इस व्यापार-योजना को चलाता हुआ भी सहनशील है; जो सभी उपादानों के बिना भी रहता है—और वह है आत्माराम।[२७] यहाँ यह संकेत कर देना आवश्यक है कि कबीर आदि संतों ने नाथ-पंथियों की भाँति ब्रह्म का रूप द्वैताद्वैतविलक्षण माना है। परन्तु संतों ने इसे निषेधात्मक 'कुछ नहीं' के अर्थ में ग्रहण नहीं किया है; उनके लिए तो यह परम-सत्य है। आगे प्रकृति के माध्यम से ब्रह्म निरूपण के प्रसंग में इस पर अधिक प्रकाश पड़ सकेगा।

§ १२—संत अपने सिद्धान्त के अनुसार अद्वैतवाद को स्वीकार करके नहीं चलते। वे अपने निर्गुण ब्रह्म को द्वैत तथा अद्वैत दोनों से परे मानते हैं, और इसी को द्वैताद्वैतविलक्षण कहा गया है। पर यह द्वैताद्वैतविलक्षण, भावाभावविनमुक्त है क्या? विचार करने से स्पष्टतः

आध्यात्मिक ब्रह्म की स्थापना

---

२६ वहीं : पद १५७

२७ वही : पद २२५—

"रहसी एक उपावण हारा, और चलसी सब संसारा।
चलसी गगन धरणी सब चलसी, चलसी पवन अरूपाणी।
चलसी चंद सूर पुनि चलसी, चलसी सबै उपाणी।
दादू देखु रहै अविनासी, और सबै घट बीना।"

ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करले, तो या उसका ज्ञान और उसकी बुद्धि असीम है और या ब्रह्म ही ससीम है। प्रत्येक शब्द, जिसका प्रयोग किसी वस्तु के लिए किया जाता है, वह उस वस्तु का जाति, गुण क्रिया अथवा स्थिति संबन्धी निश्चित ज्ञान का संकेत करता है। पर ब्रह्म इन सब प्रयोजनात्मक विभेदों से परे है, और प्रयोगात्मक स्थितियों के विरोध में है।[२९] संतों ने इसी को व्यक्त करने के लिए प्रकृति-रूपों की निषेधात्मक व्यंजना की है, और यह उनके सहज के अनुरूप है। दादू के अनुसार—'यह समस्त अहं का विस्तार भ्रम की छाया है, सर्वत्र राम ही व्याप्त हो रहा है। यह सर्जन का समस्त विस्तार—धरणी और आकाश, पवन और प्रकाश, रवि-शशि और तारे सब इसी अहं का पंच-तत्त्व रूप प्रसार है—माया की मरीचिका है।'[३०] हम कह चुके हैं कि संत ब्रह्म को द्वैताद्वैतविशिष्ट मानते हुए भी अभाव या शून्य के अर्थ में नहीं लेते। परन्तु वे निषेधात्मक रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। वस्तुतः जब उसे सत् और असत् दोनों में बाँधा नहीं जा सकता; तब यही कहा जा सकता है ब्रह्म क्या नहीं है, और जो वह नहीं है। वह स्थायित्व और परिवर्तन दोनों से परे है। वह तो न पूर्ण है, न ससीम है न असीम, क्योंकि यह सब अनुभवों के विरोधों पर ही आधारित है।[३१] सुन्दरदास का ब्रह्म प्रकृति की सर्जनात्मक अतद्व्यावृत्ति में अपने को प्रकट करता है—

सर्जना का अस्वीकृति तथा परावर

---

२९ शंकर गीता-भाष्यः अध्य० १३।१२।

३० शब्दा०; दादू: पद ३९४।

३१ इ० फि०; एस० अर० कृष्णन्: प्रक० ८: पृ० ५३६ (ब्रह्म)—"उपनिषद् और साथ ही शंकर ब्रह्म के सत् और असत् दोनों ही रूपों को अस्वीकार करते हैं, जिनसे हम अनुभव के क्षेत्र में परिचित हैं"

विचार नहीं और न उसको लेकर धूप-छाया का ही प्रश्न उठता है। —जिसकी गति की सीमा पृथ्वी और आकाश के परे है; चंद्र और सूर्य की पहुँच के जो बाहर है। रात्रि और दिवस का जिसमें कोई अस्तित्व नहीं है; पवन का प्रवेश भी जहाँ नहीं होता। कमलों की शारीरिक प्रक्रिया से वह मुक्त है, वह स्वयं में अकेला अगम निगम हैं; दूसरा कोई नहीं है।'[३४] यहाँ हम देखते हैं कि प्रकृति के प्रसार से परे वर्णन करके भी दादू ब्रह्म को रूप दान करते हैं। दरिया साहब ब्रह्म की अतद्व्यावृत्ति भावना के साथ भी उसे कुछ ऐसे गुणों के माध्यम से व्यक्त करते हैं जिनको वे सगुणात्मक प्रकृति में परे समझते हैं। वे निगुर्ण, गुणातीत का व्यक्तिगत साधना का विषय बनाते हैं; और उसके रूप की कल्पना धूप-छाँह से हीन वृक्ष के रूप में करते हैं। साथ ही अमृत फल और अनंत सुगन्ध की कल्पना भी उससे जोड़ते हैं।[३५] वस्तुतः यह भी अरूप को रूप-दान ही है, असीम को सीमा में बाँधना ही है।

ग - पीछे कहा गया है कि कबीर ने ब्रह्म को इन्द्रियातीत और परावर माना है और सत्-असत् से परे स्वीकार किया है। परन्तु जब वे उसकी व्याख्या करते हैं तो उसे किसी सीमा में बाँधते हैं। वे अपनी प्रकृति-रूपक की शैली में ब्रह्म को परम रूप में स्वीकार करते हैं—'जिसने इस भासमान् जगत् की रचना केवल कहने सुनने को की है, जग उसी को भूला हुआ पहि-

सर्वमय परम सत्

---

३४ शब्दा०; दादू : ८द ९६

३५ शब्द; दरिया० (बिहार):—

"गुन बकसिहो भ्रम नसिहो, लखि हो आपन पास हे।
अछै बिरिछि तीर लै बैठि हो, तहँवा धूप न छाह रे॥
चाँद न सूरज दिवस नहि तहवाँ, नहि निसु होत बिहान रे।
अमृत फल मुख चाखन देहो, सेज सुगन्ध सुहाय रे॥"

चान नहीं पाता। उसने सत्, रज, तम में माया का प्रसार कर अपने को छिपा रखा है। स्वयं तो वह आनन्द-स्वरूप है; और उसमें सुन्दर गुण-रूप पल्लवों का विस्तार फैला है। उसकी तत्त्व-रूप शाखाओं में ज्ञान-रूपी फूल हैं और राम नाम रूपी अच्छा फल लगा हुआ है। और यह जीव-चेतना रूपी पक्षी सदा ऐसा अचेत रहता है कि भूला हुआ है' उसका वास हरि-तरुवर पर है। हे जीव, तू संसार की माया में मत भूल यह तो कहने सुनने को भ्रमात्मक सृष्टि है।'[३६] रहस्यवादी की अनुभूति मे ब्रह्म सत्य ऐसा ही लगता है। शंकर के अनुसार, इस सांसारिक नामरूप ज्ञान से परे होकर भी ब्रह्म रहस्यानुभूति प्राप्त करने वाले साधकों के लिए परम काम्य सत्य है।[३७] रोडल्फ़ ओटो के अनुसार अतद्व्यावृत्ति की (निषेधात्मक) भावना बहुधा एक ऐसे अर्थ का प्रतीक बन जाता है जो एकान्त अकथनीय होकर भी उच्चतम अंशों में पूर्ण-रूप से निश्चयात्मक है।[३८] इसी दृष्टि से संत साधक के लिए ब्रह्म सर्वमय होकर विश्व में प्रकृति-रूपों दिखाई देने लगता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म के प्रकाश से विश्व प्रकाशमान् हो उठता है और उसी की गति से गतिशील धरनीदास का निर्गुण ब्रह्म—'सकल विश्व में इस प्रकार व्याप्त हो रहा है, जैसे कमल जल के मध्य में सुशोभित हो। एक ही डोरा जैसे मणियों के बीच में व्याप्त रहता है; एक सरोवर में जैसे अनन्त हिलोरें उठती रहती हैं। एक भ्रमर जिस प्रकार सभी फूलों के पास गुंजन करता है। एक दीपक सारे घर को जैसे प्रकाशित करता है। ऐसे ही वह निरंजन सबके साथ है—क्या

पशु-पक्षी और क्या कीट-पतंग ।[39]

घ—ब्रह्म की इसी व्यापक भावना को संतों ने आरती के प्रसंग में भी प्रस्तुत किया है । इन्होंने इस आरती का जिस प्रकार उल्लेख किया है, उसमें मानो विश्व-रूप प्रकृति ही ब्रह्म की चिरन्तर आरती के समान है । कभी प्रकृति के समस्त रूप उस आरती के उपकरण बन जाते हैं; और कभी समस्त प्रकृति रूपों में आरती की व्यापक भावना ब्रह्म की अभिव्यक्ति बन जाती है । किसी किसी स्थल पर साधक अपने हृदय में नाम-साधना की आरती सजाता है, और अन्तर्मुखी साधना के उपकरणों की योजना में आरती की कल्पना समग्र विश्व को प्रतिभासित करने वाले प्रकाश से उद्भासित हो उठती है । इस आरती की योजना से समस्त विश्व उस परम ब्रह्म का प्रतिरूप हो जाता है ।[40] यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि संतों ने इस प्रकार रूपकमयी व्यंजना तो की है, परन्तु प्रकृति के प्रसार में व्याप्त ब्रह्म-भावना की ओर उनका ध्यान नहीं है । वे तो अन्तर्मुखी साधना और अनुभूति पर विश्वास रखकर चलते हैं । प्रकृतिवादी दृष्टि से उनका यह अन्तर है । यही कारण है कि संतों के इन वर्णनों में प्रकृति-रूप का संकेत भर है: उनमें सौन्दर्य-योजना का अभाव है ।

विश्व-सर्जन की आरती

§१३—शारीरिक बन्धन में आत्मा जीव है । आत्मा और ब्रह्म: जीव और ईश के संबन्ध की सीमा ही आध्यात्मिक साधना की माप है । इस कारण यहाँ देखना है कि संतों ने आत्मा और ब्रह्म के संबन्ध को व्यक्त करने के लिए प्रकृति का माध्यम कहाँ तक स्वीकार किया है । विचार

आत्मा और ब्रह्म का संबन्ध

---

३९ बानी धरनीदास: बोधलीला से ।

४० शब्द०; बुल्ला०: आरती; बानी०; मलूक०; आरती० अंग ४ और बानी; गरीब०: आरती से—

किया गया है कि संतों को आत्मा और ब्रह्म की अद्वैत-भावना की अनुभूति, उपनिषद्-कालीन ऋषियों की भांति जीवन और जगत् से न मिल कर, विचार और परम्परा के आधार पर ही अधिक हुई है। इन्होंने ब्रह्म ज्ञान के लिए आत्मानुभूति को स्वीकार किया है। इस प्रकार इनके लिए प्रकृति का कोई महत्त्व नहीं है। केवल जब इन्होंने अपनी आत्मानुभूति को व्यक्त करने के लिए माध्यम स्वीकार किया है उस समय ब्रह्म और जीव की एकात्मता के लिए प्रकृति के उपमानों और रूपकों की योजना की है। इस एकात्म और अद्वैत भावना का संकेत पिछले रूपों में मिल चुका है। संत साधक इस 'एकमेक' की भावना में ब्रह्म को परम-सत्य और आत्म-तत्त्व के रूप में उपस्थित करता है। कबीर नश्वर प्रकृति में ब्रह्म की समस्त अतद्व्यावृत्ति भावना के साथ भी उसे आत्मानुभूति सत्य स्वीकार करते हैं—'संतों, त्रिगुणात्मक आधार के नष्ट होने पर यह जीव कहाँ स्थिर होता है? कोई नहीं समझाता। शरीर, ब्रह्मांड, तत्त्व आदि समस्त सृष्टि के साथ स्रष्टा भी नश्वर है; उसका भी अस्तित्व सिद्ध नहीं। रचना के अनस्तित्व के साथ रचयिता का प्रश्न भी व्यर्थ है। परन्तु संतों, बात यह है कि प्राणों की प्रतीति जो सदा साथ रहती है, इसी आत्म-तत्त्व में सभी गुणों का तिरोभाव हो जाता है। इसी आत्म-तत्त्व के द्वारा गुणों और तत्त्वों के सर्जन तथा विनाश का क्रम चलता है।'[४१] कबीर यहाँ जिस आत्म-तत्त्व को 'प्राणों की प्रतीति' के रूप में स्वीकार करते हैं; वह शंकर के अद्वैत का ब्रह्म और जीव विषयक एक-

रूपता है।

क—संत-साधक पंच तत्त्वों के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं; परन्तु जीव और ब्रह्म की एकात्म-भावना को व्यक्त करने के लिए वे उनको रूपकों में ग्रहण कर लेते हैं। कबीर को अपनी अभिव्यक्ति में जल-तत्त्व का आश्रय लेना पड़ता है—

भौतिक-तत्वों के माध्यम से

"पाणी ही तै हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछू कहा न जाइ॥"[४२]

इसी आत्म तत्त्व और ब्रह्म-तत्त्व के दृश्यात्मक भेद को प्रकट करने के लिए, तथा उनके अन्ततः अभेद को प्रस्तुत करने के लिए, कबीर अद्वैत वेदान्त के प्रचलित रूपक को अपनाते हैं,—

"जल में कुंभ कुंभ में जल, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यहु तत कथौ गियानी॥"[४३]

इसी प्रकार आकाश-तत्व से कबीर इसी सत्य का संकेत करते हैं—"आकाश, पाताल तथा समस्त दिशाएँ गगन से आपूरित हैं; समस्त सर्जन और सृष्टि गगनमय है। परमेश्वर तो आनन्दमय है; घट के नष्ट होने से आकाश तो रह जाता है।"[४४] ब्रह्म की कल्पना में यहाँ आनन्द का आरोप साधक की अपनी एकात्म भावना का रूप है। दादू की कल्पना जल और आकाश दोनों तत्त्वों का आधार ग्रहण करती है—"जल में गगन का विस्तार है और गगन में जल का प्रसार है; फिर तो एक की ही व्याप्ति समझो।"[४५] परन्तु यह भी स्पष्ट है

---

४२ वही; परचा० अं० १७, अन्यत्र कबीर कहते हैं—
"ज्यूं जल में जल पैसि न निकसै कहै कबीर मन भ.ना।" (पद २९२)
४३ वही, पद ४५ और अन्यत्र लौ० अ० ७१,७२ बूंद और समुद्र।
४४ वही; पद ४४
४५ शब्दा; द दू: वि० अं० से

भी वे एक ही अनुभूत सत्य की बात कहते हैं।

§ १४—अभी तक संतों के आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यक्ति के विषय में कहा गया है। अब देखना है कि संत-साधकों ने अपनी अनुभूति को व्यक्त करने के लिए प्रकृति-रूपकों का माध्यम किस सीमा तक स्वीकार किया है। संतों की अन्तर्मुखी साधना में अलौकिक अनुभूति का स्थान है। और उसी की व्यंजना के लिए प्रकृति रूपों का आश्रय लिया गया है। परन्तु ये चित्र तथा रूपक इस प्रकार विचित्र और अलौकिक हो उठे हैं कि इनमे सहज सुन्दर प्रकृति का आधार किस प्रकार है यह समझना सरल नहीं है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि इन संतों पर नाथ-पंथी योगियों तथा सिद्ध साधकों का प्रभाव अवश्य था। इन्होंने उनके वाह्याचारों के प्रति विद्रोह किया है; परन्तु इनकी साधना का एक रूप यह भी था। इस कारण संतों की अभिव्यक्ति पर इस परम्परा के प्रतीकों का प्रभाव है। व्यापक दृष्टिकोण के कारण इनकी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में रूढ़ि के स्थान पर व्यापक योजना मिलती है; फिर भी अभिव्यक्ति का आधार और उसकी शब्दावली वैसी ही है। पहले यह देखना है कि संतों ने अपनी प्रेम-साधना को प्रकृति के माध्यम से किस प्रकार स्थापित किया है। इसी आधार पर हम आगे देख सकेंगे कि किस सीमा तक इनके प्रकृति-रूपक सिद्धों और योगियों की साधना परम्परा से ग्रहीत हैं और किस सीमा तक ये प्रेम-व्यंजना के लिए स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त हुए हैं।

अभिव्यक्ति में प्रकृति रूप

क—संत-साधकों के प्रेम की व्याख्या संवन्धी रूपक योगियों के प्रतीकों से लिए गए हैं। परन्तु संत सहज की स्वीकृति मानकर चलता है; इस कारण इन रूपकों में प्रकृति के विस्तार के माध्यम से अर्थ ग्रहण कर के ही प्रेम की व्यञ्जना की गई है। साथ ही इन्होंने प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए स्वतंत्रता पूर्वक अन्य रूपों को भी चुना है। कवीर 'प्रेम को हृदय-स्थित कमल-मानते

प्रेम की व्यञ्जना

है जिसमें सुगन्धि ब्रह्म की स्थिति है; और मन-भ्रमर जब उससे आकर्षित होकर खिंच जाता है, तो उस प्रेम को काम लोग ही जानते हैं।[४९] कमल को लेकर ही कबीर प्रेम की व्याख्या अन्यत्र भी करते हैं—'निर्मला प्रेम के उगने से कमल प्रकाशित हो गया, अनंत प्रकाश के प्रकट होने से रात्रि का अंधकार नष्ट हो गया।'[५०] संत-साधक को यौगिक अनुभूति की क्षणिकता को लेकर अविश्वास है। 'इंगला पिंगला' और 'अष्ट कमलों' के चक्कर में भी वह नहीं पड़ता।[५१] परन्तु साधक कमलों के माध्यम से प्रेम की सुन्दर व्याख्या करता है। कबीर कमलिनी रूपी आत्मा से कहते हैं—हे कमलिनी, तू संकोचशील क्यों है, यह जल तेरे लिए ही तो है। इसी जल में तेरी उत्पत्ति हुई है और इसी में तेरा निवास है। जल का तल न तो संतप्त हो सकता है: और न उसमें ऊपर से आग ही लग सकती है। हे नलिनी, तुम्हारा मन किस ओर आकर्षित हो गया है।[५२] इसमें आत्मा के ब्रह्म-संयोग के साथ प्रेम का रूप भी उपस्थित किया है। संतों की प्रेम-साधना में कोमल कल्पना के लिए स्थान रहा है। इन्होंने हंस और सरोवर के माध्यम से प्रेम तथा संयोग की अभिव्यक्ति की है। इन समासोक्तियों और रूपकों में प्रेम संबन्धी सत्यों और स्थितियों का

उल्लेख है; साथ ही प्रेम की अनुभूति की व्यञ्जना भी सुन्दर हुई है—'सरोवर के मध्य, निर्मल जल में हंस केलि करता है; और वह निर्भय होकर मुक्ता समूह चुगता है। अनंत सरोवर के मध्य जिसमें अथाह जल है हंस संतरण करता है—उसने निर्भय अपना घर पा लिया है, फिर वह उड़ कर कहीं नहीं जाता।'[५३] दादू इस प्रकार अनंत ब्रह्म में जीवात्मा की प्रेम-केलि की ओर संकेत करते हैं। कबीर भी पूछ उठते हैं कि हंस सरोवर छोड़ कर जायगा कहाँ। इस बार बिछुड़ जाने पर पता नहीं कब मिलना हो। इस अनंत सागर में क्रीड़ा की अनुभूति पाकर हंस अन्यत्र जायगा नहीं—प्रेम की अनुभूति का आकर्षण ऐसा ही है—

"मान सरोवर सुभग जल, हंसा केलि कराहि।
मुक्ताहल मुकता चुगै, अब उड़ि अनत न जाहि॥"[५४]

ख—संतों ने प्रेम को समस्त आवेग में भी शांत और शीतल माना है। उनकी प्रेम-व्यञ्जना में सांसारिक जलन आदि का समावेश नहीं है। इसी कारण प्रेम की स्थिति को संत-साधक बादल के रूपक में प्रस्तुत करते हैं। बादल के उमड़ते विस्तार में, उसकी घुमड़ती गर्जना में पृथ्वी के वनस्पति-जगत् को हरा-भरा करने की भावना ही सन्निहित है। कबीर बताते हैं—'गुरु ने प्रसन्न होकर एक ऐसा प्रसंग सुनाया, जिससे प्रेम का बादल बरस पड़ा और शरीर के सभी अंग उससे भीग गए।...प्रेम का बादल इस प्रकार बरस गया है कि अन्तर में आत्मा भी आह्लादित हो उठी और समस्त वनराजि हरी-भरी हो गई।[५५] इन संत-साधकों

शांत भावना

---

५३ बानी०; दादू : पद ६८

५४ बीजक; कबीर: रमैनी १५—"हंसा प्यारे सरवर तजि कहाँ जाय।
जेहि सरवर बिच मोतिया चुगत होता बहुविधि केलि कराय।"
तथा ग्रंथा०; कबीर० : पर० अं० ३९,

५५ वही०; गुरू० अं० २९, ३४

में प्रेम की व्याख्या कबीर में मिलती है और दादू प्रेम की अनुभूति को व्यक्त करने में सर्वश्रेष्ठ हैं। इन्होंने प्रेम की व्यञ्जना करने में प्रकृति के व्यापक क्षेत्र से रूपक चुने हैं। दादू अपने प्रेम का आदर्श, चातक, मीन तथा कुरल पक्षी आदि के माध्यम से उपस्थित करते हैं। 'विरहिणी कुरल पक्षी की भाँति कूकती है और दिन-रात तलफ़ कर व्यतीत करती है और इस प्रकार राम प्रेमी के कारण रात जागकर व्यतीत करती है। प्रिय राम के बिछोह में विरहिणी मीन के समान व्याकुल है, और उसका मिलन नहीं होता। क्या तुमको दया नहीं आती। जिस प्रकार चातक के चित्त में जल बसा रहता है, जैसे पानी के बिना मीन व्याकुल हो जाती है और जिस प्रकार चंद-चकोर की गति है: उसी प्रकार की गति हरि ने अपने वियोग में दादू की कर दी है।...प्रेम लहर की पालकी पर आत्मा जो प्रिय के साथ क्रीड़ा करती है, उसका सुख अकथनीय है। यह प्रेम की लहर तो प्रियतम के पास पकड़ कर ले जाती है और आत्मा अपने सुन्दर प्रिय के साथ विलास करती है।'[५८] इस प्रकार प्रेम की व्यापक साधना, उसका उल्लास, उसकी तन्मयता और एकनिष्ठा आदि का उल्लेख संतों ने प्रकृति के व्यापक क्षेत्र से चुने हुए प्रचलित रूपकों के आधार पर किया है। जैसा हम देखते हैं इस क्षेत्र में अन्य संतों का योग कम है। दादू की प्रेम-व्यञ्जना ने ही प्रकृति का अधिक आश्रय लिया है और ये रूढ़ियों से भी अधिक मुक्त हैं।

रहस्यात्मक अनुभूति

§ १५—हम कह चुके हैं कि संतों ने यौगिक परम्परा को साधना का प्रमुख रूप नहीं स्वीकार किया है। इस कारण योगियों की समाधि और लय संबन्धी अनुभूतियों को संत-साधक एक सीमा तक ही स्वीकार करते हैं। वस्तुतः योगियों की साधना रहस्यात्मक ही है जिसमें वह आत्मानुभूति

के द्वारा ब्रह्मानुभूति प्राप्त करता है। परन्तु मानव के ज्ञान की शक्ति परिमित है, उसके बोध की सीमाएँ बधी हुई हैं। इस कारण अपनी अनुभूति के व्यक्तीकरण में योगियों को भी भौतिक जगत् का आधार लेना पड़ता है, यद्यपि ये इससे ऊपर की स्थिति मानते हैं। ससीम कल्पना मानवीय विचार और मानवीय अभिव्यक्ति से अलग नहीं की जा सकती और इस कारण आध्यात्मिक अनुभव का सीधा वर्णन नहीं हो सकता। यह सदा ही रूपात्मक और व्यंजनात्मक होगा।[५७]

तत्त्वों से संबन्धित व्यंजना

क—जिस अन्तर्साक्ष्य की बात ये योगी करते हैं, उसमें भौतिक तत्त्वों का ही आश्रय लिया गया है। इसीके आधार पर सृष्टि-कल्पना में शिव और शक्ति, नाद और बिन्दु की योजना की गई है। योगी अपनी अनुभूति के क्षणों में नाद (स्फोट) का आधार ग्रहण किए रहता है और उससे उत्पन्न प्रकाश का ध्यान करता है। शिव और शक्ति की क्रिया प्रतिक्रिया से उत्पन्न जो अनाहत नाद समग्र विश्व और निखिल ब्रह्मांड में व्याप्त हो रहा है, उसको यह बहिर्मुखी जीव नहीं सुन पाता। परन्तु योगियों के अनुसार साधना द्वारा सुषुम्ना का पथ उन्मुक्त हो जाने पर यह ध्वनि सुनाई देने लगती है। वस्तुतः भौतिक तत्त्वों में ध्वनि सब से अधिक सूक्ष्म तत्त्व है और इसी कारण अन्तर्मुखी साधना में उसका उतना महत्त्व स्वीकार किया गया है और उसको ब्रह्मानुभूति के समकक्ष स्थान दिया गया है। इसके बाद बिन्दु रूप प्रकाश का स्थान आता है। शब्द-तत्त्व पर स्फोट को अखण्ड सत्ता के रूप में ब्रह्म-तत्त्व मानने का कारण भी यही है। योगियों ने स्वर या नाद को विभिन्न प्रकार से विभाजित किया है—

"आदौ जलधि-जीमूत-भेरी-झर्झर-संभवाः।
मध्ये मर्दल-शंखोत्थाः घंटा-काहलजास्तथा॥

---

५७ मिस्टीसिज्म; इवीलेन अन्डरहिल : पृ० १५०-१

अन्ते तु किंकणी-वंश-वीणा-भ्रमरनिस्वनाः ।
इति नानाविधाः शब्दाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ॥"[५८]

हठयोग के नाद-बिन्द को संत-साधकों ने ग्रहण किया है, परन्तु इनके अनुभूति-चित्र स्वतंत्र हैं। योगियों ने ध्वनि और प्रकाश की व्यापक भावना का आधार ग्रहण किया है और इस कारण अपनी अभिव्यक्ति में भौतिक-तत्वों और इन्द्रियों से ऊपर नहीं उठ सके हैं। संत-साधक ध्वनि-प्रकाश को व्यापक आधार प्रकृति-चित्रों की गम्भीरता में देते हैं, साथ ही इनको अन्तिम नहीं स्वीकार करते। दादू की प्रकाशमयी सुन्दरी का पति भी प्रकाशमय है और उनका मिलन स्थल भी प्रकाशमान् हो रहा है। वहाँ पर अनुपम वसंत का शृंगार हो रहा है।[५९]

इन्द्रिय-प्रत्ययों का संयोग

ख—संतों की रहस्याभिव्यक्ति नाद और प्रकाश के माध्यम से कम हुई है, परन्तु जब अनुभूति अलौकिक प्रकृति-रूपों में उपस्थित होती है तो उस समय इनका योग हो जाता है। अपनी अभिव्यक्ति में उन्मुक्त होने के कारण संतों की अनुभूति में नाद से अधिक प्रकाश और इन दोनों से अधिक स्पर्श का आनन्द छिपा हुआ है। यही कारण है कि साधक बादल की गरज और बिजली की चमक से अधिक वर्षा की शीतलता का अनुभव कर रहा है। वस्तुतः संत-साधक की अन्तर्मुखी

साधना आँख बन्द करने और प्राण-वायु को केन्द्रित करने पर विश्वास लेकर नहीं चलती; वह तो जीवन के प्रवाह से सहज-सम ही उपस्थित करना चाहती है। इसीके फल स्वरूप इनकी अनुभूति के अलौकिक प्रकृति-चित्रों में इन्द्रिय-बोधों का स्वतंत्र हाथ रहा है। कबीर अपनी अनुभूति में गरज और चमक के साथ ही भीजने का आनन्द ही अधिक ले रहे हैं—

"गगन गरजि मध जाइये, तहाँ दीसे तार अनंत रे।
बिजुरी चमकै घन बरषि है, तहाँ भीजत है सब संत रे॥"[६०]

दादू भी जहाँ बादल नहीं है वहाँ झिलमिलाते बादलों को देख रहे हैं। जहाँ वातावरण निःशब्द है वहाँ गरजन सुन रहे हैं। जहाँ बिजली नहीं हैं वहाँ अलौकिक चमक देख रहे हैं और इस प्रकार परमानन्द को प्राप्त कर रहे हैं। परन्तु वे अत्यंत तेजपुंज प्रकाश में ज्योति के चमकने और झलमलाने के साथ आकाश की अमरवेलि से झरनेवाले अमृत के स्वाद की कल्पना नहीं भूलते।[६१] संतों में आनन्दानुभूति के साथ विभिन्न इन्द्रिय-प्रत्यक्षों का सयोग मिलता है, अधिकांश में वर्षा की अनुभूति के साथ स्पर्श-गुण का उल्लेख है। मलूकदास की 'सहज-समाधि लग जाने पर अनहद तूर्य बज रहा है, अनुभूति की अनत लहरें उठती हैं और मोती की चमक जैसा कुछ बरस रहा है...वह ऐसी जगमगाती ज्योति को गगन-गुफा में बैठकर देख रहा है।'[६२] यहाँ लहर और बरसने का भाव दोनों ही स्पर्श की अनुभूति की ओर संकेत करते हैं। कभी कभी इन चित्रों की कल्पना के साथ अनुभूति अधिक व्यक्त हो उठती है और ऐसे स्थलों पर जैसे साधक का साथ कवि देता है। बुल्ला देखते हैं—'काली काली घटाएँ

---

६० ग्रंथा०; कबीर० : पद ४

६१ बानी०; दादू: ते० अंग से।

६२ बानी०; मलूक० : शब्द १३

चारों दिशाओं से उमड़ती-घुमड़ती घेरती आ रही हैं, आकाश-मंडल अनाहत शब्द से व्याप्त हो रहा है। दामिनी जो चमक कर प्रकाशमान् हो उठी तो ऐसा लगा त्रिवेणी स्नान हो रहा है। मन इस आनन्द की कल्पना में मग्न है।[६३] बिहारवाले दरिया साहब योगियों की प्रतीक पद्धति पर अपनी कल्पना पूरी करते हैं—'यदि आत्मा उलट कर भँवर-गुफा में प्रवेश कर सके तो चारों ओर जगमग ज्योति प्रकाशमान् है। सुष्मना के आधार पर प्राणों को ऊपर खींचने पर, अनन्त बिजलियाँ और मोतियों का प्रकाश दिखाई पड़ता है...अनुभूति के क्षणों में अमृत कमल अमृत-धार की वर्षा कर रहा है।'[६४] यह कल्पना का अधिभौतिक के अलौकिक रूपों के निकट का चित्र है, परन्तु इसमें अनुभूति जन्य प्रकाश और वर्षा का ही उल्लेख किया गया है।

हम प्रथम भाग में इस बात की ओर संकेत कर चुके हैं कि मानव और प्रकृति में एक अनुरूपता है और रंग-प्रकाश, नाद-ध्वनि का प्रभाव भी इन्द्रियों के लिए एक सीमा तक सुखकर है। अब यदि समझना चाहें तो देख सकते हैं कि रहस्यवादी संत-साधक अपनी अन्तर्साधना में, इन्हीं नाद और प्रकाश आदि की गम्भीर अनुभूतियों का बाह्य वस्तुपरक आधार लेकर अपने मानसिक स्तर पर आनन्द रूप में रहस्यानुभूति करता है। यही कारण है कि इन अन्तर्मुखी साधनाओं में प्रकाश तथा ध्वनि आदि अनुभूतियों के लिए बाह्य आधारों

की आवश्यकता नहीं मानी। साथ ही यह स्मरण रखना चाहिए कि संत इन अनुभूतियों को अन्तिम नहीं मानते। यह भौतिक आधार अपनी व्याप्ति और गम्भीरता में भी क्षणिक है। जबकि आत्मा और ब्रह्म में तात्त्विक भेद ही नहीं स्वीकार किया जाता, ये प्रकाशानुभूतियाँ आदि तो आध्यात्मिक सत्य की वस्तु-परक आधार मात्र है। वस्तुतः रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति अपने प्रत्येक स्तर पर इस प्रकाशानुभूति से संबन्धित है। हिन्दी के संत-साधकों ने प्रकृति का यथार्थ आधार स्वीकार नहीं किया; परन्तु उसके माध्यम से जो ब्रह्मानुभूति की अभिव्यक्ति की है, वह सहज प्रकाशानुभूति का रूप स्वीकार की जा सकती है।[६५]

ग—इसी को जब संत-साधकों ने अधिक व्यक्त करना चाहा है तो वह अधिभौतिक और अलौकिक रूप धारण करता है। इन्होंने अपने इन चित्रों में योगियों के रूपकों से शब्द अवश्य लिए हैं, परन्तु इनमें नाद तथा ध्वनि के साथ रूप की दृश्यात्मकता अधिक प्रत्यक्ष हो उठी है। साथ ही इन्होंने अपने आनन्दोल्लास का भी संयोग इनके साथ उपस्थित किया है। इसका कारण है कि संत-साधना प्रेम के आधार पर है। उपनिषद्-कालीन रहस्यवादी के सामने भी दृश्यात्मक अनुभूति प्रत्यक्ष हो सकी थी और इसका कारण भी उनकी जगत् के प्रति जागरूकता है।[६६] ये अलौकिक रूप भौतिक-जगत् को अस्वीकार करके आन्तरिक अनुभूति में प्राप्त हुए हैं, इसीलिए इनमें दृश्य-जगत् का आधार होकर भी उसका सत्य नहीं है। दृश्य-जगत् भ्रामक है, इसको अन्ततः सत्य नहीं स्वीकार किया जा सकता। यह तो इन्द्रिय-

अधिभौतिक और अलौकिक रूप

---

६५ मिस्टिसिज़्म : इवीलेन अन्डर्हिल—'दि इल्यूमिनेशन ऑव दि सेल्फ़' पृ० २८२

६६ का० स० उ० फ़ि०: आर० डी० रानाडे—'मिस्टिसिज़्म' पृ० ३४३

व्याप्त हो रहा है।[६८] यह अनुभूति का रूप व्यापक प्रकृति में विराट-रूप की योजना के समान है।

(ii) संत-साधक अपनी समस्त अलौकिक अनुभूति में इस बात के प्रति सचेष्ट है कि वह जिस अनुभूति की बात कर रहा है, वह अतीन्द्रिय जगत् से संबन्धित है। इस क्षेत्र में साधक प्रकृति के भौतिक प्रत्यक्षों को अस्वीकार करके अपनी अनुभूति को व्यक्त करने का प्रयास करता है। दादू अपनी अनुभूति में—'जहाँ सूर्य नहीं है वहाँ प्रकाशमान् सूर्य देखते हैं, जहाँ चंद्रमा का अस्तित्व नहीं है वहाँ उसे चमकते पाते हैं—तारे जहाँ विलीन हो चुके हैं वहीं उन्हीं के समान कुछ झिलमिलाता है। यह वे आनन्द से उल्लसित होकर ही देख रहे हैं।'[६९] 'एकमेक' की भावना को ही पूर्ण सत्य माननेवाले संत प्रत्यक्ष की अनुभूति को अन्ततः सत्य मानकर नहीं चलते। चरणदास इसी ओर संकेत करते हैं—'उस समय समस्त भौतिक रूपात्मकता लोप हो जाती है: चंद्रमा ही दिखाई देता है और न सूर्य ही! आकाश के तारे भी विलीन हो जाते हैं। प्रकृति की समस्त रूपात्मकता नष्ट हो गई—न रूप का अस्तित्व है न नाम का। फिर इस स्थिति में जीव और ब्रह्म की, साहब और संत की उपाधियाँ भी लुप्त हो गईं।'[७०] इसी सहज स्थिति का वर्णन नानक भी करते हैं जिसमें प्रकाशमान् तथा अलौकिक सृष्टि भी तिरोहित हो जाती है—ब्रह्म तथा जीव की स्थिति सम-रूप हो जाती है। वस्तुतः संत साधक का यही चरम सत्य है,—

अतीत की भावना

"उन्मनि एको एक अकेला; नानक उन्मनि रहै सुहेला।
उन्मनि अस्थावर नहिं जंगम; उन्मनि छाया महिलु विहङ्गम ॥

६८ बानी०; दादू० : पद २३२

६९ वही०; तेज० अंग से

७० भक्तिसागर; चरणदास : ब्रह्मज्ञान सागर वर्णन से (पृ० ३)

भूति चित्र विभिन्न प्रकृति-चित्रों को ही अलौकिक रूप प्रदान करता है। 'आत्मा कमल में राम पूर्ण रूप से प्रकट हो रही है, परम पुरुष वहाँ प्रकाशमान् है। चन्द्रमा और सूर्य्य के बीच राम रहता है, जहाँ गंगा-यमुना का किनारा है और त्रिवेणी का संगम है। और आश्चर्य्य —वहाँ निर्मल और स्वच्छ अपना ही जल दिखाई देता है जिसे देख-कर आत्मा अन्तर्मुखी होकर प्रकाश के पुञ्ज में लीन हो जाती है। —दादू कहते हैं हंसा अपने ही आन्दोल्लास में मग्न है।' [७३] दादू ने इस चित्र में प्रतीकों का आश्रय लिया है; पर यह बाह्यानुभूति का अलौकिक संकेत ही अधिक देता है। गरीबदास 'गगन मंडल में पार-ब्रह्म का स्थान देखते हैं, जिसमें सुन्न महल के शिखर पर हंस आत्मा विश्राम करती है। यह स्थिति भी विचित्र है—अन्तर्मुखी बंक-नाल के मध्य में त्रिवेणी के किनारे मानसरोवर में हंस क्रीड़ा करता है और वह कोकिल-कीर के समान बोली बोलता है। वहाँ तो सभी विचित्र है, अगम अनाहद द्वीप है, अगम अनाहद लोक है; फिर अगम अनाहद आकाश में अगम अनाहद अनुभूति होती है। [७४]

अतिप्राकृतिक चित्रों में विचित्र वस्तुओं और गुणों का संयोग होता है। इनमें विचित्र परिस्थितियाँ उपस्थित की गई हैं, बिना कारण के परिणाम या वस्तु का होना बताया गया है। यह सब अलौ-किक अनुभूतियों का परिणाम है जो प्रत्यक्ष को ही असीम का आधार देकर किसी अज्ञात और अलौकिक से अपना संबन्ध जोड़ना चाहती है। कभी-कभी इन चित्रों में उलटबाँसी का रूप मिलता है। एक सीमा तक ऐसा कहा जा सकता है, परन्तु आगे देखेंगे कि उलटबाँसी में इनसे भेद है और इसका ऐसा लगना अलौकिकता के कारण है। धरनीदास के इस बिखरे हुए चित्र में कई प्रकार की योजनाएं मिल

---

७३ शब्दा०; दादू० : पद ४३८

७४ बानी०; गरीबदास : गुरू० अं० ६२, ७३

जलहर विना कँवल कुम्हिलावै।
सूकै वेली सकल वनराई। रामदेव जल वरिखइ आई।
आतम वेली मरै पियासी। नीर न पावै दादू दास ॥'[७६]

र चित्र में अनुभूति की भावात्मकता अधिक है। अनुभूति के णों में प्रेम-भावों का सबसे अधिक माध्यम स्वीकार करनेवाले साधक दू ही हैं। अलौकिक प्रतीकों से अनुभूति की भावुकता अधिक क और स्पष्ट हो उठती है। परन्तु दादू स्वानुभूति को चित्रमय रने से अधिक उसके क्षणों के आनन्दोल्लास को प्रकट करते हैं और उका कारण भी यही है कि इन्होंने प्रेम का आश्रय अधिक लिया है।. त्यन्त स्वच्छ निर्मल जल का विस्तार है, ऐसे सरोवर पर हंस ानन्द क्रीड़ा करता है। जल में स्नात वह अपने शरीर को निर्मल रता है। वह चतुर हंस मनमाना मुक्ताहल चुनता है।' इसके आगे नुभूति का रूप दूसरे चित्र का आश्रय ग्रहण कर लेता है—'उसी मध्य में आनन्द पूर्वक विचरता हुआ भ्रमर रस पान कर रहा है— म में लीन भ्रमर कँवल का रस इच्छा-पूर्वक पी रहा है; देखकर, ।र्श कर वह आनन्द भोग करता है; पर उसका मन सदा ही सचेष्ट ःता है।' चित्र फिर वदलता है—'आनन्दोल्लसित सरोवर में मीन ानन्द मग्न हो रही है, सुख के सागर में क्रीड़ा करती है जिसका कोई आदि है न अंत है। जहाँ भय है हा नहीं, वहाँ वह निर्भय 'लास करती है। सामने ही सृष्टा है, दर्शन क्यों न कर लो।'[७७] न परिवर्तित होते चित्रों में केवल अलौकिक रूप नहीं है, वरन् ानन्द तथा उल्लास के रूप में प्रेमी-साधक की अपनी अनुभूति का ।ग भी है। पिछले चित्रों में यह भावना प्रस्तुत अवश्य थी, पर इतनी ःयत्त और व्यक्त नहीं।

---

७६ वानी०; दादू: पद २२३

७७ वानी०; दादू: पद २४७

क—इसी प्रकृति-रूपों से भाव-व्यंजना के अन्तर्गत प्रकृति का दिव्य रूप आता है जिसमें अनन्त तथा चिर सौन्दर्य की भावना ब्रह्म विषयक आनन्दोल्लास का संकेत देती है।

दिव्य प्रकृति ने

वस्तुतः इस प्रकार रूप-चित्र कृष्ण-काव्य और प्रेमाख्यान-काव्य में ही अधिक है। संतों ने तो उनके ही प्रभाव से बाद में ग्रहण किया है। चरणदास ऐसी दिव्य-प्रकृति की कल्पना करते हैं—

"दिव्य वृन्दावन दिव्य कालिन्दी। देखै सो जीते मन इन्द्री ॥
किनार निकट वृक्षन की छाहीं। आय परी यमुना जल माहीं ॥
झिलमिल शुभ की उठत तरंगा। बोलत दादुर अरु सुर भंगा ॥
वन घन कुञ्जलता छवि छाई। झुकि टहनी धरणी पर आई ॥
नित वसंत जहँ गंध सुरारी। चलत मन्द जहं पवन सुखारी ॥"[७८]

इस लौकिक प्रकृति में दिव्य भावना के द्वारा चिरंतन उल्लास को उसी प्रकार व्यक्त किया गया है जिस प्रकार ऊपर के चित्रों में अलौकिक रूपों के द्वारा। परन्तु इन समस्त भाव-व्यंजक प्रकृति-रूपों में प्रकृतिवादी उल्लास तथा आह्लाद की भावना से स्पष्ट भेद है। जैसा कहा गया है यहाँ ब्रह्म की भावना प्रत्यक्ष है और प्रकृति माध्यम के रूप में ही उपस्थित हुई है।

§ ·७—संतों ने प्रेम का साधन स्वीकार किया है और माध्यम भी ग्रहण किया है। प्रेम की अभिव्यक्ति विरह भावना में चरम पर पहुँचती है। प्रकृति हमारे भावों की उद्दीपक है।

साधना में उद्दीपक प्रकृति-रूप

व्यापक रूप से इस विषय की विवेचना अन्य प्रकरण में हो सकेगी। परन्तु आध्यात्मिक भावना के गम्भीर और उल्लसित वातावरण में प्रकृति का उद्दीपन रूप साधना से अधिक समन्वित हो जाता है। इस सीमा में प्रकृति का

उद्दीपन-रूप लौकिक भावों को स्पर्श करता हुआ अलौकिक में खो जाता है और साधक अपनी साधारण भाव-स्थिति को भूल जाता है। दरिया साहब (विहार वाले) देखते हैं—'वसंत की शोभा में हंस-राज क्रीड़ा कर रहा है; आकाश में सुर समाज कौतुक' क्रीड़ा करता है। सुन्दर पत्तेवाले सुन्दर वृक्षों की सघन शाखाएँ आपस में आलिंगन कर रही हैं। मधुर राग-रंग होता है: अनाहद नाद हो रहा है जिसमें ताल-भंग का प्रश्न नहीं उठता। वेला, चमेली आदि के नाना प्रकार के फूल फूल रहे हैं: सुगन्धित गुलाव पुष्पित हो रहे हैं। भ्रमर कमल में संलग्न है और उससे अपना संयोग करता है।'[७९] इस चित्र में मधु-क्रीड़ाओं आदि का आरोप संयोग रति का उद्दीपन है, पर व्यंजना व्यापक आध्यात्मिक संयोग की देता है। सुन्दरदास की प्रकृति-रूप की योजना, में उसके व्यापक प्रसार में आध्यात्मिक प्रेम उल्लसित और आन्दोलित होकर अपने परम साध्य संयोग को अनुभव करने के लिए उत्सुक होता है: उसके सुख को प्राप्त भी करता है। इसमें सहज आकर्षण के साथ सहज भावोद्दीपन की प्रेरणा भी है।[८०] प्रकृति का समस्त रूप-शृंगार आध्यात्मिक प्रेम के उद्दीपन की पृष्ठ-भूमि वन जाता है।

§१८—संतों की रहस्य-साधना में व्यावहारिक यथार्थ महत्त्व नहीं रखता। जो कुछ दृश्यामान् जगत् दिखाई देता है सत्य उसके

---

७९ शब्द०; दरिया०: वसंत ५

८० ग्रंथा०; सुन्द० : अथ पुरवी भाषा वरवै—

"गंगा जमुन दोउ बहिइय तीच्छण-धार; सुमति नवरिया वैसल उतरव पार।
जलमहिं थावक प्रजल्यउ पुंज-प्रकास; कवल प्रफुल्लित भइल अधिक सुवास।
अंव डार पर वैसल कोकिल कीर; मधुर मधुर धुनि वोलइ सुखकर भीर।
सब केइ मन भावन सरस वसंत; करत सदा कौतूहल कामिनि कंत।
निशिदिन प्रेम हिंडुलवा दिहल मचाइ; सेई नारि सभागिनि झूलइ जाइ।"

परे है। इन्होंने अन्तर्मुखी साधना की बात कही है, जिसमें समस्त बाह्य प्रवृत्तियों को हटाकर ब्रह्मोन्मुखी करने की भावना है। जीव की सांसारिक प्रवृत्ति को उलटना ही तो इसका अर्थ है। और प्रकृति या दृश्यमान् जगत् भी इस मार्ग पर सृष्टा की ओर प्रवाहित होता है। लेकिन अन्तर्मुखी वृत्ति में भी इन्द्रिय-प्रत्यक्षों का आधार तो उनके गुणों के माध्यम से लिया जा सकता है। यही कारण है कि संत-साधक कहता है—'साधक, यह बेड़ा तो नीचे की ओर चल रहा है—सत्य ही तो! साहब की सौगन्ध, इसके लिए नाविक की क्या आवश्यकता। पृथ्वी भी अन्तर्मुखी निलय की ओर जा रही है और शिखर भी। अधो-गामिनी नदियाँ प्रवाहित हैं, जहाँ हीरे पन्नों का प्रकाश है और खेवक, नौका तो आँधी-पानी के बीच अधर ही में है। इसी अन्तः में सूर्य-चन्द्र हैं और चौदह भुवन इसी में है। इसी अन्तः में उपवन और बेलें पुष्पित हैं और कुआँ-तालाब भी। इसी अन्तर्मुखी भावना में आनन्दोल्लास में कूकता हुआ माली फूले हुए पुष्पों को देखता घूमता है।'[८१] गरीबदास जिस अधर की बात करते हैं, वह अन्तर्मुखी साधना का रूप है जिसमें प्रकृति का बाह्य-सौन्दर्य्य अन्तर्मुखी होकर साधक की अनुभूति से मिल जाता है। इस चित्र में रूपात्मकता अधिक और उल्लास कम है; पर सुन्दरदास के रूप-चित्र में उल्लास ही अधिक है—'इसी अन्तः में फाग और वसंत का उल्लास छाया हुआ है: और उसी में कामिनी-कंत का मिलन भी हो रहा है। अन्तः में ही नृत्य गान होता है, उसी में बेन भी बज रही है। इसी शरीर के अन्दर स्वर्ग-पाताल की कल्पना और काल-नाश की स्थिति है। इसी अन्तः साधना में युग युग का जीवन और अमृत

अन्तर्मुखी साधना और प्रकृति

है।' ८२ इस कल्पना में उद्दीपन जैसा रूप है और प्रकृति-चित्रों का विस्तार नहीं है। इस अन्तमु खी-प्रकृति का प्रयोग जीव और ब्रह्म के संयोग में अधिक प्रत्यक्ष हो सका है। इस योजना में यह संयोग सहज हो जाता है। जब अन्तर्प्रत्यक्षों में प्रकृति के गुणों का संयोग उपस्थित होता है, उस समय बाह्य आधार तो छूट ही जाता है। और ब्रह्म संयोग की अभिव्यक्ति सरल हो जाती है। दरिया साहब के अन्तमु खी प्रकृति-चित्रण में यह स्पष्ट है—

"अपना ध्यान तुम आप करता नहीं,
अपने आप में आप देखा।
आप ही गगन में जगह है आप ही,
आप ही तिरकुटी भँवर पेखा॥
आप ही तत्त्व निःतत्त्व है आप ही,
आप ही सुन्न में शब्द देखा।
आप ही घटा घनघोर आप ही;
आप ही बुन्द सिन्धु लेखा॥"८३

इस प्रकार समस्त प्रकृति को सजन को, अपने अन्दर देखता हुआ साधक में ब्रह्म-रूप आत्मानुभूति प्राप्त करता है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि संतों में ब्रह्म और आराध्य की भावना इतनी प्रत्यक्ष है कि प्रकृति-रूपक दूर तक नहीं चल पाते और वे हलके भी पड़ जाते हैं।

§ १६ सिद्धों और योगियों को अपने सिद्धान्तों और सत्यों के कथन की शैली उलटवाँसी है। संतों ने इनसे ही ग्रहण किया है और यह इनके लिए आश्चर्य की बात नहीं।८४ पिछले अनुच्छेदों में हम

---

८२ ग्रंथा०; सुन्दर० : राग सोरठ पद ४

८३ शब्द०; दरिया० : रेखता अष्टहदी, पद ८

८४ कबीर; पं० हजा० द्वि० : अध्य ७ पृ० ८०

देख चुके है कि संतों ने परम्परा प्राप्त प्रतीकों को सहज-भाव के अनुकूल रूप में अपनाया है। उलटवाँसियों के प्रतीक और उपमानों का भी प्रयोग संतों ने इसी प्रकार किया है। योगियों से प्रतिद्वंद्विता लेने की बात दूसरी है, यहाँ प्रवृत्ति की बात कही गई है। कुछ में सत्यों का उल्लेख किया गया है, इनमें अधिकांश संसार और माया को लेकर हैं। कबीर कहते हैं— 'कैसा आश्चर्य है' पानी में आग लग गई, और जलाने वाला जल गया। समस्त पंडित विचार कर थक गए।' इसमें अंतः समाधिसुख की बात कही गई है; और वह वैचित्र्य का आश्रय लेकर। कबीर दूसरा आश्चर्य प्रकट करते हैं—'समुद्र में आग लग गई, नदियाँ जल कर कोयला हो गईं; और जाग कर देखो तो सही, मछलियाँ वृक्ष पर चढ़ गई हैं।' माया के नष्ट होने से अन्तः समाधि की बात यहाँ प्रकृति की वैचित्र्य-भावना के आधार पर कही गई है। इन उलटवाँसियों में प्रकृति की विचित्र स्थितियों के माध्यम से सत्यों की व्यंजना की जाती है; और यह ढंग अधिक आकर्षक है। कबीर इसी प्रकार सत्य का संकेत देते हैं—'आश्चर्य की बात तो देखो—आकाश में कुँआ है वह भी उलटा हुआ और पाताल में पनिहारी है; इसका पानी कौन हंस पीयेगा; वह कोई विरला ही होगा।'[८५]

उलटवाँसियों में प्रकृति-उपमान

क—परन्तु जब इन उलटवाँसियों में प्रेम की व्यंजना को स्थान मिलता है, तो इनमें वैचित्र्य के स्थान पर अलौकिक भावना रहती है। इस ओर पहले संकेत किया गया है। दादू के अनुसार—'यह वृक्ष भी अद्भुत है जिसमें न तो जड़ें और न शाखाएँ—और वह पृथ्वी पर है भी नहीं; उसी का अविचल अनंत फल दादू खाते हैं।'[८६] परन्तु जब प्रेम और अनुभूति

प्रेम-का संकेत

के चरम क्षणों में उलटवाँसी का रूपक भरा जाता है, उस समय अनुभूति की विचित्रता और अलौकिता का योग भी सत्यों की विभिन्नता के साथ किया जाता है। दरिया साहब (विहार वाले) की कल्पना में इसी प्रकार की उलटवाँसियाँ छिपी हैं—'संतो' निर्मल ज्ञान का विचार करके ही होली खेलो। कमल को जल से उजाड़ प्रेमामृत में भिगोकर अग्नि में आरोपित करो। अनंत जल के विस्तार में अपने भ्रमों को जला डालो। फिर सरिता में कोकिल ध्यान करेगा; और जल में दीपक प्रकाशित होगा। सभी संशय छोड़कर मीन ने अपना घर शिखर पर स्थिर किया है। दिन में चंद्र की ज्योत्सना फैल गई और रात्रि में भानु की छवि छाई है। आँख खोलकर देखो तो सही। धरती वरस पड़ी, गगन में बाढ़ आती जा रही है, पर्वतों से पनाले गिरते हैं। अर्द्ध-सीपी की सम्पुट खुल गई, जिसमें मोतियों की लड़ी लगी हुई है। यह अगम की अनुभूति का भेद है, इसे सम्हाल कर ही समझा जा सकता है।'[८७] इन उलटवाँसियों के प्रतीकों का सामञ्जस्य बैठाने से काम नहीं चल सकता; यह तो अलौकिक क्षणों की अनुभूति है, जो आत्मा को व्यापक रूप से घेर कर एक विचित्र जाल बिछा देती है। इस कल्पना में इस प्रकार के रूप भी हैं जिनमें प्रत्यक्ष-सत्ता को अस्वीकार करके ही कल्पना को स्थिर रखने का प्रयास किया जाता है। गरीबदास अन्तर्दृष्टि की दुरबीन से इसी अस्तित्वहीन सृष्टि की कल्पना में सत्य का प्रत्यक्ष करते हैं।[८८] वस्तुतः यह सब अलौकिक सत्य की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति से संबन्धित है।

---

८७ शब्द०; दरिया (वि०) : होली छद ३

८८ बानी०; गरीबदास : बैंत पद ४

बंदे देख ले दुरबीन वे।
कर निगाह अगाह आसन, बरसता बिन बादर वे।
अधर बाग अनंत फल, कायम कला करतार वे।

§ २०—अभी तक विभिन्न रूपों को अलग-अलग विभाजित करके प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। परन्तु अनेक रूप आपस में मिल-जुलकर उपस्थित हुए हैं। अतिप्राकृतिक चित्रों के साथ उलटवाँसियों के संयोग द्वारा संतों ने व्यापक सत्यों और गम्भीर अनुभूतियों को एक साथ अभिव्यक्त किया है। इस स्थिति में असाधारण चमत्कृत स्थिति की कल्पना द्वारा अनुभूति की असाधारण स्थिति का ही संकेत मिलता है। ऐसे पदों में साधना का रूप और अनुभूति की भावना का रूप मिल-जुल गया है—

चरम क्षण में रूपों का विचित्र संयोग

"इहि विधि राम सूँ ल्यौ लाइ।
चरन पापै बूंद न सीप साइर, बिना गुण गाइ।
जहाँ स्वाती बूंदन सीप साइर, सहज मोती होइ।
उन मोतियन मैं नीर पायौ, पवन अंबर धोइ।
जहाँ धरनि बरसै गगन भीजै, चंद सूरज मेल।
दोइ मिलि जहाँ जुड़न लागे, करत हंसा केलि।
एक बिरप भीतर नदी चाली, कनक कलस समाइ।
पंच सुवदा आइ बैठे, उदै भई बन राइ॥
जहाँ बिछुर्यौ-तहाँ लाग्यो, गगन बैठो जाइ।
जन कबीर बटाउवा, जिनि लियो चाइ॥"[८१]

कबीर की इस सहज-लय विना में; सीप, बूंद और सागर के संयोग से मोती उत्पन्न हो जाता है; और उस मोती की आभा से अन्तरात्मा आर्द्र हो उठी है। जहाँ लौकिक और अलौकिक का मिलन होता है, उस सीमा पर इन्द्रियों का विषय आत्मानन्द का विषय हो जाता है। आत्मा की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर प्रवाहित हैं—और नदी वृक्ष के भीतर समाई जा रही है, कनक कलस में लीन हुआ जा रहा है।

पाँचों इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो उठीं—और उनके अन्तर्प्रत्यक्ष में दृश्य-जगत् भी अन्तर्मुखी होकर फैल गया।...लेकिन आश्चर्य्य, यहाँ तो जहाँ पक्षी का वास-स्थान था वही जलकर भस्म हुआ जा रहा है और वे आकाश में स्थित हो गए हैं। इस प्रकार संतों की आध्यात्मिक-साधना के विकास क्रम के साथ चरम क्षणों की अनुभूति भी सन्निहित है, जो विभिन्न प्रकृति-रूपों के संयोग से व्यक्त की गई है। इसमें ज्ञान और प्रेम का रूप है, साथ ही अलौकिक तथा अन्तर्मुखी प्रकृति-रूपों के माध्यम से चरम लय की व्यंजना भी है।

चतुर्थ प्रकरण

आध्यात्मिक साधना में प्रकृति-रूप (क्रमशः)

प्रेमियों की व्यंजना में प्रकृति-रूप

फ़ारस के सूफ़ी कवि

§१—पिछले प्रकरण की विवेचना में हम देख चुके हैं कि मध्ययुग की प्रत्येक धारा के पीछे एक परम्परा रही है जिससे उसने प्रभाव ग्रहण किया है। हिन्दी साहित्य के प्रेमी कवियों की, और विशेषतः सूफ़ी कवियों की आध्यात्मिक भाव-धारा में फ़ारस के सूफ़ी कवियों के आध्यात्मिक विचारों का प्रभाव रहा है। हिन्दी काव्य के सूफ़ी वाशरा हैं और इस कारण सामान्यतः वे क़ुरान और मुसलिम विचार-धारा को स्वीकार करके चले हैं। फ़ारसी सूफ़ी अपनी प्रेम साधना में नितांत एकेश्वरवादी तो नहीं रह सके हैं, परन्तु उन्होंने विचारों की प्रेरणा के रूप में एकेश्वर-वादी को छोड़ा नहीं है। उनके आध्यात्मिक प्रकृति-रूपों में इसका बहुत अधिक प्रभाव है। पृष्ठ भूमि में एकेश्वर की भावना प्रस्तुत रहने कारण फ़ारस के सूफ़ी कवियों के सामने प्रकृति की सप्राण योजना

उसका चेतन प्रवाह नहीं आ सका; वे उसको कर्त्ता और रचयिता के भाव से ही अधिक देख सके हैं। फिर भी फ़ारसी कवि उन्मुक्त होकर प्रकृति से प्रेरणा ले सका है और उसके सामने उसका विस्तृत सौन्दर्य रहा है। उनकी प्रकृति-भावना में एकेश्वर की अलग-थलग सत्ता का आभास मिलता है। उनकी प्रेम-व्यंजना में अवश्य एकात्म-भावना मिलती है।[1]

एकेश्वरवादी भावना

§२—इसी प्रकार की एकेश्वरवादी भावना हमको हिन्दी मध्ययुग के सूफ़ी प्रेम-मार्गी कवियों में भी मिलती है। वरन इनका क्षेत्र अधिक विचार प्रधान है। इस कारण इनका प्रकृतिवादी दृष्टिकोण तो है ही नहीं, साथ ही इनमें प्रकृति के प्रति विशेष आकर्षण भी नहीं है। प्रकृति को लेकर हिन्दी सूफ़ी कवि के मन में कोई प्रश्न नहीं उठता। वह कर्त्ता और रचयिता की निश्चित भावना को लेकर उपस्थित हो जाता है; और आरम्भ करता है—

"सुमिरौं आदि एक करतारू। जेहि जिउ दीन्ह दीन्ह संसारू।
कीन्हेसि प्रथम जोति परकासू। कीन्हेसि तेहि पिरीत कैलासू॥
कीन्हेसि दिन दिनअर ससि राती। कीन्हेसि नखत तराइन पाँती।
कीन्हेसि धूप सीउ औ छाँही। कीन्हेसि मेघ, बीजु तेहि माँही॥"[2]

इसी प्रकार जायसी सारे सर्जन को उसी रचयिता के माध्यम से गिना जाते हैं,—'उसी ने सातों समुद्र प्रसरित किए हैं, उसी ने मेरु तथा किष्किंधा आदि पर्वतों को बनाया है। इन समस्त सर, सरिता, नाले, झरने, मगर-मच्छ आदि को उसी ने तो बनाया है। सीपी का निर्माण करनेवाला तथा उसमें मोती डालने वाला तो वही है। इस

---

१ लेखक के (फ़ारस के सूफ़ी प्रेमी कवियों की साधना में प्रकृति) नामक निबन्ध में विशेष व्याख्या की गई है (विश्ववाणी जून १९४७)

२ ग्रंथा०; जायसी पद्मावत, दो० १

धारा में सृष्टा की कल्पना नवीन नहीं है। आगे कवि इसी प्रवाह में कहता है—'प्रभु, तुमने ही तो रात और दिन, सन्ध्या और प्रातः को रूप दिया है। यह सब शशि, सूर्य दीपक और तारा आदि का प्रकाश तुम्हीं को लेकर तो है। तुम्हारा ही विस्तार पृथ्वी, सागर सरिता के विस्तार में हो रहा है।'[५] परन्तु इन दोनों प्रकार के प्रेमियों के सृष्टा रूप में भेद प्रत्यक्ष है। सूफियों का सृष्टा अपने से अलग सर्जन करता है, जब कि स्वतंत्र प्रेमी कवियों का सृष्टा अपनी रचना में परिव्याप्त है। आगे चल कर सूफी कवियों में व्याप्त ईश्वर की भावना का सकेत मिलता है। उसमान अपनी सर्जना का रूप उपस्थित करते हैं,—'उसने पुरुष और नारी का ऐसा चित्र बना दिया, जल पर ऐसा कौन सर्जन कर सकता है। उसने सूर्य, शशि और तारा गणों को प्रकाशमान् किया; कौन है जो ऐसा प्रकाशमान् नग बना सकता है। उसने दृश्यमान् जगत् को काले पीले श्याम तथा लाल आदि अनेक रंगों में प्रकट किया है। जो कुछ वर्णयुक्त रूपमान् है और विश्व में दिखाई देता है, उन सब का रचनेवाला वह स्वयं अदृश्य और अरूप है। अग्नि, पवन, पृथ्वी और पानी (आकाश तत्त्व मुसलमान दर्शन में स्वीकृत नहीं था) के नाना संयोग उपस्थित हैं; वह सभी में व्याप्त हो रहा है और उसको अलग करने में कौन समर्थ हो सकता है। वह रचयिता प्रकट और गुप्त होकर सर्वत्र में व्याप्त है। उसको प्रकट कहूँ तो प्रकट नहीं है और यदि गुप्त कहूँ तो गुप्त भी नहीं है।'[६] इस चित्र में व्यापक रचयिता के साथ एकात्म की भावना भी मिलती है। इस पर संत-साधकों का प्रभाव प्रकट होता है।

ख—हिन्दी मध्ययुग के धार्मिक काव्य की विभिन्न धाराएँ आगे

५ पद्मावती: दुखहरनदास; स्तुति-खंड

६ चित्रावली; उसमान: स्तुति-खंड, दो० १-२

चल कर एक दूसरे से प्रभावित होती रही हैं; क्योकि एक दूसरे से आदान प्रदान चलता रहा है। नल-दमन काव्य में परम्परा के अनुसार—'कीन्हेसि परथम जोति प्रकासू' से आरम्भ किया गया है; परन्तु इसमें सृष्टि कल्पना विशिष्टाद्वैती भावना से अधिक प्रभावित है,—

अन्य रूप

"ज्यों प्रकास समान समाना। वहै जान तिन्ही अनमाना ॥
पै वह चेतन यह जड़ सोना। वह सचोत यह जोत वहूना ॥
जैसे कँवल सुरज मिलि खिलै। पै या को गुन ताह न मिलै ॥
कँवल खिलै कछु सुरज न खिला। औ ताके सुख मिलै न मिला ॥
ज्यों चेतन जड़ माह समाना। अनमिल जाइ मिला सर जाना ॥"[७]

इस प्रकार विभिन्न भावनाओं से प्रभावित होकर इन प्रेमी कवियों ने प्रकृति की सर्जना का रूप उपस्थित किया है। परन्तु जैसा संकेत किया गया है इस वर्णना में प्रकृति के प्रति जिज्ञासा अथवा आकर्षण का भाव नहीं है। यह तो ब्रह्म विषयक जिज्ञासा को लेकर ही उपस्थित हुई है।

: ३ प्रेम काव्यों का आधार कथानक है। इन प्रबन्ध-काव्यों में प्रेमी कवियों ने अपनी साधना के अनुरूप सौन्दर्य की व्यापक योजना से विभिन्न रूपों में प्रेम की अभिव्यक्ति की है। वस्तुतः इन्होंने अपने काव्य के प्रत्येक स्थल में इसी आध्यात्मिक वातावरण को ही उपस्थित किया है। घटना स्थलों के प्रकृति-चित्रण में अलौकिक अतिप्राकृतिक रूपों को प्रस्तुत करके, उसका चिरंतन भावना और निरंतर क्रियाशीलता से, तथा उसके अनंत सौन्दर्य से आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण किया गया है। वस्तुतः प्रकृति के रूप और उसकी क्रियाशीलता में अलौकिक भाव उत्पन्न कर देना स्वयं ही आध्या-

वातावरण निर्माण में आध्यात्मिक व्यंजना

७ नल-दमन; ईश-वंदना, : पृ० १-२

त्मिकता के निकट पहुँचना है। अधिभौतिक प्रकृति जिन रूप-रंगों में उपस्थित होती है और जिन क्रिया-कलापों में गतिशील हो उठती है, वह धार्मिक परावर सत्य और पवित्र भावना के आधार पर ही है।[८] सूफ़ी प्रेमाख्यानों में प्रकृति के माध्यम से आध्यात्मिक सत्य और प्रेम-व्यञ्जना दोनों को प्रस्तुत किया गया है। और इनका ऐसा मिला जुला रूप सामने आता है कि कोई विभाजन की सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। जायसी ने सिंहल-द्वीप के वर्णन में अलौकिक भावना के आधार पर ही आध्यात्मिक वातावरण उपस्थित किया है—'जब उस द्वीप के निकट जाओ तो लगता है स्वर्ग निकट आ गया है। चारों ओर से आम की कुंजों ने आच्छादित कर लिया है। वह पृथ्वी से लेकर आकाश तक छाया हुआ है। सभी वृक्ष मलयागिरि से लाए गए हैं। इस आम की वाड़ी की सघन छाया से जगत् में अंधकार छा गया। समीर सुगंधित है और छाया सुहावनी है। जेठ मास में उसमें जाड़ा लगता है। उसी की छाया से रैन आ जाती है और उसी से समस्त आकाश हरा दिखाई देता है। जो पथिक धूप और कठिनाइयों को सहन कर वहाँ पहुँचता है, वह दुःख को भूलकर सुख और विश्राम प्राप्त करता है।'[९] इस वर्णना में अलौकिक वातावरण के द्वारा आध्यात्मिक शांति और आनन्द का संकेत किया गया है। प्रकृति की असीम व्यापकता, नितांत सघनता, चिरंतन स्थिति तथा स्वर्गीय कल्पना आध्यात्मिक वातावरण को प्रस्तुत करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रसंग में कवि ने फल तथा फूलों के नामों के उल्लेख के द्वारा फुलवारी का वर्णन किया है (दो० ४, १०)। परन्तु इस समस्त वर्णना में फूलने-फलने की व्यञ्जना में एक चिरंतन उल्लास तथा विकास की भावना सन्निहित है, जिसे

---

८ नेचुरल ऐन्ड सुपरनेचुरल; पृ १८६

९ ग्रंथा०; जायसी : पद्मावत: २ सिंहल-द्वीप वर्णन-खंड, दो० ३

कवि इस प्रकार आध्यात्मिक संकेत से उद्भासित कर देता है—

"तेहि सिर फूल चढ़हिं वै जेहि माथे मनि भाग।
आछहिं सदा सुगन्ध बहु बसन्त औ फाग॥"[१०]

इसी प्रकार की भावना उसमान के फुलवारी वर्णन में लक्षित होती है। इस चित्रण में प्रकृति के उल्लास में प्रेम और मिलन की भावना सन्निहित है। इसमें साथ ही चिरन्तन प्रकृति का सौन्दर्य भी है। चित्रावली की बारी तो सिंहलद्वीप की आम्र-वाटिका के समान है—

"सीतल सघन सुहावन छाहीं। सूर किरिन तहँ सँचरै नाहीं।
मंजुल डार पात अति हरे। औ तहँ रहहिं सदा फर फरे।
मूर सजीवन कलपतरु, फल अमिरित मधुपान।
देउ दहत तेहि लगि भजहिं, देखत पाइय प्रान॥"[११]

इसमें जायसी के समान अधिक व्यक्त संकेत नहीं है; परन्तु अलौकिक रूप-योजना स्वयं संकेत ग्रहण करती है। इसी बारी के मध्य में 'चित्रावली की लगाई हुई फुलवारी है: जिसमें सोनजरद, नागकेसर आदि पुष्पित हैं, पुष्पित सुदर्शन को देख कर दृष्टि मुग्ध हो जाती है—कदम और गुलाल भी अनेक पुष्पों के साथ लगे हुए हैं; साथ ही बकुल की पंक्तियाँ सुगन्धित हो रही हैं। इसी फुलवारी में पवन रात्रि में बसेरा लेता है और वही प्रातःकाल उन पुष्पों की सुगन्धि के रूप में प्रकट होता है।' प्रकृति के इसी सौन्दर्य तथा उल्लास के साथ चिरंतन और शाश्वत की भावना को जोड़कर, कवि आध्यात्मिक आनन्दोल्लास को सूचित करता है,—

"उपटहि सगर भौंर लपटाहीं। जनु बिभूति जोगिन लपटाहीं।
मकरंदे भौंरन संग खेली। जोगिन संग लागि जनु बेली।

केलि कदम नव मल्लिका, फूल चंपा सुरतान।
छ ऋतु वारह मास तँह, ऋतु वसंत अस्थान ॥"[१२]

क—इन सूफ़ी प्रेम-काव्यों के साथ ही स्वतंत्र प्रेम-काव्यों में भी प्रकृति के उल्लास और अलौकिक सौन्दर्य के द्वारा प्रेम की आध्यात्मिक व्यंजना की गई है। प्रेम की अनुभूति अपने चरम क्षणों की व्यापकता और गम्भीरता में आध्यात्मिक सीमा में प्रवेश करती है। इसके अतिरिक्त इस परम्परा कवियों ने एक दूसरे का अनुसरण भी किया है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि प्रकृतिवादी रहस्यवाद तथा; इन कवियों की भावना में समता है, पर इनकी विभिन्नता उससे अधिक लगती है। प्रकृतिवादी रहस्यवादी भी अपनी अभिव्यक्ति में प्रकृति के अलौकिक सौन्दर्य और उसमें प्रतिबिंबित उल्लास का आश्रय लेता है। पर प्रकृतिवादी इसी के माध्यम से अज्ञात सत्ता की ओर आकर्षित होता है. और प्रेमी का आराध्य प्रत्यक्ष होकर इस प्रकृति सौन्दर्य के माध्यम को स्वीकार करता है। दुखहरन इसी प्रकार की व्यंजना करते हैं—'विशाल वृक्ष सदा ही फलनेवाले हैं, सभी घने और हरे भरे हैं। इनकी जड़ें पाताल में और शाखाएँ आकाश में छाई हुई हैं।...... फिर इस बाग में एक फुलवारी है जो संसार को प्रकाशित कर रही है। पीले, श्वेत, श्याम, रक्ताभ आदि नाना भाँति के फूल जिसमें सुगन्धित हो रहे हैं......सभी भाँति के फूल विभिन्न रंगों में छाए हुए हैं, जिनको देखकर हृदय में उमंग उठती है। इनकी गंध का वर्णन अकथनीय है, जो गंध लेता है वही मोहित हो जाता है। इस फुलवारी में उन्मुक्त भ्रमर सुगन्ध लेता है और गुंजारता है। इसकी गंध तो पवन के लिए आश्रय है। जो इसके निकट जाता है, वह गंध के लगने से सुगन्धित तेल हो जाता है। इस अलौकिक फुलवारी में सभी

सत्य और प्रेम

---

१२ वही; वही : दो० १५९

फूल सभी ऋतुओं में और सभी मासों में फूलते हैं और जिन फू
की सुगन्ध से संसार के पुष्प सुगन्धित हो रहे हैं।'[13] इस चित्र
रंग-रूप-गंध आदि की अलौकिक योजना के साथ चिरंतन सौन्द
तथा अनंत मिलन की भावना भी सन्निहित है, जो आध्यात्मिक स
के साथ प्रेम साधना का योग है। सूफ़ी साधना में प्रेम की व्यंज
आध्यात्मिक सत्य हो जाती है। इस कारण स्वतंत्र प्रेमियों तथा इ
इस सीमा पर विशेष भेद नहीं है। कभी प्रेमी कवि प्रत्यक्ष
से सत्य तथा प्रेम के संकेत देने लगता है—

"नगर निकट फूली फुलवारी। धन माली जिन सींच संवारी।
जिन सब पुहप प्रेम अनुरागा। बैरागी उपदेस बिरागी।
कहँ सिगार सिगार हार तन छागा। का सिगार भर आकसि हारा।
लाला कहँ लाल तन सोना। पेम दाह डर दाग बिहूना॥"

यहाँ प्रकृति स्वयं आध्यात्मिक संदेश देती है। नूर मोहम्मद आ
त्मिक सत्य की कल्पना फुलवारी के रूप में करते हैं, यहाँ फुलव
अप्रस्तुत रूप में वर्णित है, प्रस्तुत अध्यात्म ही है। कवि का कह
है—'माली ने कृपाकर इस फुलवारी का साथ दिया है। ऐसे कि
अवसर पर कोई भी साथ नहीं हुआ केवल फुलवारी ही हाथ रहं
इसके अनंत सौन्दर्य में वह अपूर्व रूप छिपा नहीं रह सकता, अ
आप प्रकट होने का कारण उपस्थित कर देता है। जो इस फुलवारी
रूप और रस से प्रेम स्थापित करता है, वह प्रिय का दर्शन प्राप्त कर
है। सृष्टि-कर्ता इस सौन्दर्य में छिपा नहीं रहता वह स्वयं ही अभिव
होना चाहता है। इस सर्जन के द्वारा ही तो वह पहिचाना जाता है
मनुष्य पुष्प है और उसका प्रेम ही रस है, उसी को धारण कर

सर्वत्र प्रकट हुआ है।"[१५] आगे हम देखेंगे कि यह प्रकृति-रूप, परि-व्याप्त सौन्दर्य के आधार पर तथा स्वर्गीय सौन्दर्य के प्रतिबिंब को ग्रहण कर किस प्रकार सूफ़ी प्रेम-साधना की आध्यात्मिक-व्यंजना प्रस्तुत करता है। यहाँ वातावरण-रूप में प्रकृति किस प्रकार आध्यात्मिक संकेत करती है, इसी की विवेचना की गई है।

अलौकिक सौन्दर्य (रूपात्मक)

§४—प्रेमी साधकों ने सरोवर आदि के वर्णनों में अलौकिक वातावरण प्रस्तुत किया है। परन्तु इन आध्यात्मिक संकेतों में निर्मलता और सौन्दर्य का भाव अधिक है। जायसी 'मान-सरोवर' के व्यापक सौन्दर्य के विषय में कहते हैं—

"मानसरोदक बरनौं काहा। भरा समुद अस अति अवगाहा।
पानी मोति अस निरमल तासू। अमृत आनि कपूर सुबासू।
फूला कँवल रहा होइ राता। सहस सहस पंखुरिन कर छाता।
उलथहिं सीप मोति उतिराहीं। चुगहिं हंस औ केलि कराहीं।
ऊपर पाल चहुँ दिसि अमृत-फल सब रूख।
देखि रूप सरवर कै गै पियास और भूख॥"[१६]

प्रकृति की इस अलौकिक योजना में आध्यात्मिक सौन्दर्य का रूप व्यक्त होता है; और इस प्रकार प्रेमी-साधक अपने प्रेम के आलंबन के लिए चिरंतन सौन्दर्य की स्थापना करता है। उसमान भी सरोवर के सौन्दर्य-वर्णन में अपने को असमर्थ पाते हैं। जिसके निकट चित्रावली रहती है वह सरोवर अपने विस्तार में स्वर्ग हो जाता है और वही सुख का समूह है। मानव क्या देवता भी उस पर मुग्ध हैं। इस सौन्दर्य-रूप के साथ चित्रावली के सम्पर्क का उल्लेख करके कवि उस सौन्दर्य की प्रतिछाया के निकट पहुँचा देता है जिसका उल्लेख हम

---

१५ इन्द्रा०; नूर० : १ स्तुति-खंड, दो १७-१८

१६ ग्रंथा०; जायसी : पद०, २ सिंहल-द्वीप वर्णन खंड, दो० ३

आगे करेंगे।[१७] इसमें अलौकिक सौन्दर्य्य का रूप ही अधिक
दुखहरनदास ने सरोवर-वर्णन में केवल अलौकिकता प्रस्तुत की है,
के आधार पर प्रेम का संकेत लगाया जा सकता है—

"तेहि सरवर मह अंबुज फूला। गुंजहि वहुतौ मधुकर भूला।
सहस पाखुरीक अंबुज होई। छुवै न पावै ताकह कोई।
फूलि रहे कोइ कवल वास उठै महकार।
निरमल जलदरपन सम मोटा उचपहार॥"[१८]

'नलदमन' का कवि अपनी प्रवृत्ति के अनुसार सरोवर-वर्णन
भी प्रेम का उल्लेख प्रकृति के माध्यम से प्रस्तुत करता है। उ
सामने आध्यात्मिक प्रेम का स्वरूप प्रकृति से अधिक प्रत्यक्ष है, अ
वह प्रकृति-वर्णन के माध्यम से उसी को उपस्थित करता है—'ज
पूर्ण सरोवर का वर्णन नहीं किया जाता, जो प्रेमी को प्रेम सिखा
है, और अपने आप में प्रेम की अवस्थाओं को प्रकट क
दिखाता है। सरोवर का निर्मल जल मोती के समान उज्ज्वल
अथवा ज्योति जिस प्रकार हृदय में समाई रहती है। सरोवर की गहर
का अनुमान लगाना कठिन है, मन का प्रेम रहस्य मन में ही छि
रहता। यद्यपि प्रेम की हिल्लोर उठती है, उल्लास के भाव से उ
उठने नहीं पाता। कमल लाल है, प्रेम के कारण नेत्र लाल हो रहे
और पुतली के रूप में भ्रमर मित्र मस्त गुञ्जारते हैं। दो तो नेत्र
फिर अनन्त कमलों का वर्णन कौन करेगा। प्रिय-दर्शन की लाल

से सरोवर नेत्रमय हो उठा है। फिर उस सरोवर के किनारे जो खग रहते हैं, वे सभी ज्ञानवान् हैं—उनके पंखों में जल प्रवेश नहीं करता, यद्यपि वे सदा जल में ही रहते हैं।'[१९] इस वर्णन में कहीं तो समासोक्ति पद्धति से और कहीं रूपात्मक मानवीकरण से प्रेम की व्यञ्जना की गई है।

क—यहाँ तक प्रकृति-चित्रण में अलौकिक रूप के माध्यम से आध्यात्मिक व्यञ्जना का उल्लेख हुआ है। परन्तु प्रकृति स्वयं अपनी क्रियाशीलता में, उल्लास की भावना में मानव के समानान्तर लगती है। प्रथम भाग के द्वितीय प्रकरण में इसकी व्याख्या की गई है। इस सीमा पर मानव के समानान्तर प्रकृति आध्यात्मिक भावना में व्याप्त जान पड़ती है। अभी तक सत्य की बात ही अधिक कही गई है। इस सीमा में प्रकृति की क्रियाशीलता अपने उल्लास के साथ आध्यात्मिक रहस्य का रूप बन जाती है। भौतिक प्रकृति अधिभौतिक की उल्लास-भावना के रूप में आध्यात्मिक हो उठती है।[२०] जायसी सरोवर का वर्णन नहीं कर पा रहे हैं—'उसकी सीमाओं का कुछ वार-पार तो है नहीं। उसमें पुष्पित श्वेत कुमुद उज्ज्वल चमकते हैं, मानों तारों से खचित आकाश हो। उसमें चकई चकवा नाना प्रकार से क्रीड़ा करते हैं—रात्रि में उनका वियोग रहता है और दिन में वे मिल जाते हैं। उल्लास में सारस कुररता है, उनका युग्म जीवन-मरण में साथ रहता है। अन्य अनेक पक्षी बोलते हैं; केवल मीन ही मौन भाव से जल में व्याप्त हो रही है।'[२१] इस चित्र में पक्षी अपने क्रीड़ात्मक उल्लास में आध्यात्मिक प्रेम को व्यक्त करते हैं। 'चित्रावली' में भी कवि इसी प्रकार की भाव-व्यञ्जना सरोवर-

भावात्मक

---

१९ नल०; सरोवर-वर्णन से।

२० नेचुरल एन्ड सुपरनेचुरल; पृ० २२६

२१ ग्रथा०; जायसी: पद० २ सिंहल-द्वीप-वर्णन, दो० ९

वर्णन में करता है—'सरोवर में कमलिनियाँ पुष्पित हो रही हैं। जिनको देखकर दुःख दूर हो जाता है। श्वेत और लाल कमल फूले हुए हैं और भ्रमर रसमत्त होकर मकरन्द पीते हैं। दिन भर कमल और कुमुद फूला रहता है; रात भर चाँद और तारे विस्मृत होकर उस सौन्दर्य को देखते हैं। कमलों के तोड़ने से जो केसर गिर जाता है, उसकी गंध से पानी सुवासित है। हंस के झुण्ड चारों ओर क्रीड़ा करते हुए बोलते हैं; चकई और चकवाक के जोड़ा तैरते हैं। जिसको याद करते ही हृदय शीतल हो जाता है, उसी जल को चातक आकर पीता है। जितने प्रकार के जल-पक्षी होते हैं, वे सभी वहाँ क्रीड़ा करते हुए अत्यन्त सुशोभित हुए। आनन्द और उल्लास के साथ सभी क्रीड़ा करते हैं। भ्रमर कमलों पर गुंजारते हैं। वहाँ रात-दिन आनन्द होता है जिसे देख कर नेत्र शीतल होते हैं।'[२२] इस प्रकृति-रूप में जो पुष्पित, सुगन्धित, क्रीड़ात्मक तथा उल्लासमयी भावना है, वह आध्यात्मिक सत्य का प्रतीक है। अन्य वर्णनों में प्रेमी कवियों ने पक्षियों की विविध क्रीड़ाओं तथा उनके स्वरों की योजना से उल्लास की भावना में आध्यात्मिक प्रेम-साधना को व्यक्त किया है। इसमें भी जायसी ने अधिक व्यक्त रूप से प्रेम-भावना का संकेत दिया है, क्योंकि पक्षियों की बोली का अर्थ व्यक्त रूप से लगाया है—'वहाँ अनेक भाषा बोलनेवाले अनेक पक्षी रहते हैं, जो अपनी शाखाओं को देख कर उल्लासित हो रहे हैं। प्रातःकाल फुलसुँघनी चिड़िया बोलती है; पंडुक भी पढ़ता है—'एक तू ही है'।...पपीहा 'पी कहाँ है' पुकार उठता है; सारी 'तू ही है' कहती है। कोयल कुहुक कर अपने भावों को व्यक्त करती है। भ्रमर अपनी विचित्र भाषा में गुंजारता है।' आगे कवि स्पष्ट कर देता है—'जितने पक्षी हैं, सभी इस वृक्ष में आ बैठे हैं, और अपनी भाषा में ईश का नाम ले रहे

हैं।[२३] इस वर्णना में जायसी ने जहाँ तक सम्भव हुआ है पक्षी के स्वर से ही अभिव्यक्ति की है। उसमान पक्षिओं के कोलाहल में सन्निहित उल्लास तथा आनन्द से यहां संकेत देते हैं। इन्होंने किसी प्रकार का आरोप नहीं किया है, वरन् नाद-ध्वनियों में जो स्वाभाविक उल्लास है उसी का आश्रय लिया है—

"कोकिल निकर अंमिरित बोलहि। कुंज कुंज गुंजरत बन डोलहि।
खंजन जहँ तहँ फरकि देखावैं। दहिअल मधुर वचन अति भावैं।
मोरं मोरनी निरतहिं बहुताई। ठौर ठौर छवि बहुत सोहाई।
चलहि तरहिँ तहँ ठमुकि परेवा। पंडुक बोलहि मृदु सुख-देवा।"[२४]

ख—जायसी की शैली में 'नलदमन' में आध्यात्मिक भावना उपस्थित की गई है। अभी तक प्रकृति में व्यक्त होती सत्ता के प्रति उल्लास की भावना ही व्यंजित हुई है। परन्तु 'नलदमन' में प्रेम-व्यंजना पर अधिक बल दिया गया है, यद्यपि इसमें उपदेशात्मक प्रवृत्ति ही अधिक है—'शाखाओं पर पक्षी एकत्रित होकर बैठे हैं, सभी प्रेम से युक्त भाषा में बोलते हैं। पांडुक प्रेम व्यथा से रोता है और जग में 'एक तू ही है' ऐसी रटना लगाए है। चातक अपने प्रियतम में जी लगाए है और रात-दिन 'पीव पीव' कूकता रहता है। महर पक्षी प्रेम-दाह से दग्ध हो रहा है और पीड़ा से नित्य 'दही' पुकारता है। मोर भी कठिन दुःख देनेवाले प्रेम के कारण दिन-रात 'मेउँ मेउँ' पुकारता है। कोकिल विरह से जलकर काली हो गई है और सारे दिन 'कुहू कुहू' पुकारती रहती है।'[२५] इसमें कवि ने आध्यात्मिक व्यंजना में प्रेम के उल्लास को ही व्यक्त किया है। लेकिन अपनी कवित्व प्रतिभा

प्रेम संबन्धी व्यंजना

---

२३ ग्रंथा०; जायसी : पद०, २ सिंहलद्वीप-वर्णन; दो० ५

२४ चित्रा०, उस० : १३ परेवा-खंड, दो० १५७

२५ नल० : उपवन-वर्णन से

के साथ जायसी रहस्यवादी आध्यात्म को प्रस्तुत करने में भी सर्वश्रेष्ट है। इनमें प्रेम का अलौकिक तथा रहस्यवादी रूप अधिक मिलता है। कहीं कहीं जायसी ने आध्यात्मिक प्रेम से वातावरण को उद्भासित कर दिया है—और ऐसे स्थलों पर जैसा कहा गया है प्रकृति का अतिप्राकृत रूप अलौकिक रंग-रूपों, नाद-ध्वनियों में उल्लास की भावना को व्यंजित करता हुआ उपस्थित होता है। जायसी के चित्र में केवल प्रेम की व्यंजना नहीं वरन् प्रेमानुभूति के चरम क्षणों की अभिव्यक्ति है। रतनसेन की सिंहल-यात्रा समाप्त होने को है: साधक के पथ की समस्त बाधाएँ समाप्त हो चुकी हैं। अंत में सिंहल-द्वीप के पास का मानसरोवर आ जाता है जो प्रेम साधना के चरम-स्थल के निकट की स्थिति है। प्रकृति के शांत तथा उल्लसित वातावरण से प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति होती है—

"देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा।
गा अँधियार, रैनि-मसि छूटी। भा भिनसार किरिन-रवि फूटी।
कँवल विगस तस विहँसी देहीं। भौंर दसन होइ कै रस लेहीं।
भौंर जो मनसा मानसर, लीन्ह कँवल रस आइ।
घुन जो हियावन कै सका, झूर काठ तस खाइ॥"[२४]

इस चित्र में प्रकाश, रूप-रंग, विकास, गुंजार और सौरभ आदि की योजना द्वारा जो अलौकिक रूप उपस्थित किया गया है, वह प्रेम-भावना की चरम-स्थिति का सोपान है। इस सीमा पर साधक अपने [illegible] को [illegible] पाता है। यहीं सिंहल का दृश्य है जो [illegible] में अलौकिक है। इसमें कवि प्रेमानुभूति की व्यंज[illegible] [illegible]—'[illegible]' का दृश्य सामने उपस्थित हो उठा है। परन्तु [illegible] और [illegible] की शरीर की चंदन के समान शीतल [illegible] है। [illegible] नहीं हुआ, मानो स्वर्ग में उसे

हुए को मलय समीर लग रहा हो।...और सामने तो अद्भुत दृश्य है— प्रकाशमान् सूर्य निकलता चला आ रहा है और अन्धकार के हट जाने से संसार निर्मल प्रत्यक्ष हो उठा है। आगे मेघ सा कुछ उठ रहा है और उसमें बिजली चमक कर आकाश में लगती है। उसी मेघ के ऊपर मानों चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा है और यह चन्द्रमा ताराओं से युक्त है। और भी अनेक नक्षत्र चारों ओर प्रकाश कर रहे हैं—स्थान-स्थान पर दीपक ऐसे जल रहे हैं।...दक्षिण दिशा में स्वर्ण पर्वत दिखाई देता है...और वसंत ऋतु में जैसी सुगन्ध आती है, वैसी ही गन्ध संसार में छायी है।'[२७] इस आलंकारिक वर्णना में कवि ने अलौकिक के सहारे आध्यात्मिक साधना का चरम, प्रेम की रहस्यानुभूति को व्यक्त किया है।

ग—प्रथम भाग के पंचम प्रकरण में मानवीय जीवन और भावना का प्रतिबिंब ग्रहण करती हुई प्रकृति का उल्लेख किया गया है।

प्रतिबिंब भाव

इसकी व्यापक भावना में आध्यात्मिक संकेत समान्वित किए जा सकते हैं। इस प्रकार का सफल प्रयोग जायसी ही कर सके हैं। प्रकृति जब मानवीय भावों को प्रतिबिंबित करती उपस्थित होती है; उस समय आध्यात्मिक प्रेम की भावना उसके व्यापक विस्तार में प्रतिघटित हो जाती है। उस समय गिरगिट अपनी विरह-वेदना में रंगों को बदलता जान पड़ता है। मयूर विरह-वेदना के पाश में बन्दी लगता है और उसी बन्धन के कारण वह उड़ भी नहीं पाता। पंडुक, तोता आदि के गले में उसी प्रेम का चिह्न है। इस प्रकार प्रकृति मानवीय प्रेम-विरह के प्रतिबिंब रूप में आध्यात्मिक प्रेम की पृष्ठ-भूमि बन जाती है।[२८] प्रकृतिवादी रहस्यवादी

---

२७ वही० : वही०; १६ सिंहलद्वीप-खंड, दो० १

२८ वही० : वही०; ९ राजा-सुआ-संवाद-खंड, दो० ६

'पेम सुनत मन भूल न राजा। कठिन पेम सिर देइ तौ छाजा।

इस प्रकार के प्रतिबिंब भाव में केवल जीवन की छाया देखता है, सूफ़ी-साधक उस प्रतिबिंबित जीवन को आराध्यमय स्वीकार कर के चलता है।

१५—प्रेमी साधक जिस साधना को स्वीकार कर के चलता है: वह एक अज्ञात प्रियतम को प्रेम का आलंबन मानती है। प्रेमी अपने

सौन्दर्य आलंबन

प्रेम के आलंबन का प्रतीक सांसारिक (लौकिक) सौन्दर्य के रूप में स्वीकार अवश्य करता है: परन्तु उसकी समस्त साधना आध्यात्मिक प्रेम से संबन्धित है जिसमें लौकिक भी अलौकिक हो जाता है, जगत् का सौन्दर्य ही प्रिय का सौन्दर्य हो उठता है। जब प्रेम-भावना आलंबन खोजती है, उस समय सौन्दर्य की स्वीकृति स्वाभाविक है। परन्तु प्रेम सीमा से असीम, व्यक्त से अव्यक्त की ओर बढ़ता है; उसी प्रकार आलंबन का सौन्दर्य भी लौकिक से अलौकिक हो उठता है। सूफ़ी प्रेमी-साधकों की सौन्दर्य योजना को समझने के लिए यह समझना आवश्यक है। इस दिशा में निर्गुण संतों और सगुण भक्तों से इनका भेद है। संत साधकों ने रूप की कोई भी सीमा स्वीकार नहीं की है। यही कारण है कि उनकी सौन्दर्य-योजना अलौकिक ही अलौकिक है। उनके चित्रों में रूप और रंग का प्रयोग मन में एक चमत्कृत भावना उत्पन्न कर देता है। परन्तु सूफ़ी साधकों ने अपना प्रतीक और साथ ही अपनी साधना का रूप भी [illegible] से ग्रहण किया है। फलस्वरूप इनकी सौन्दर्य योजना रूप को पकड़ने का प्रयास है; उसकी सीमा में घेरने का भी प्रयत्न है।

प्रतीक-नारी के सौन्दर्य से यह व्यापक सौन्दर्य प्रकृति में फैल कर आध्यात्मिक संकेत ग्रहण करता है। नारी इनकी साधना का प्रतीक है; उसका सौन्दर्य, आदर्श सौन्दर्य ही अपने चरम पर अलौकिक होकर व्यापक व्यञ्जनात्मक सौन्दर्य हो जाता है। यही कारण है कि इन कवियों ने नख-शिख के रूप में जो सौन्दर्य-वर्णन किया है, वह व्यापक होकर प्रकृति के विस्तार में खो जाता है। उससे न तो कोई रूप ही बनता है और न कोई क्रमिक स्वरूप ही उपस्थित होता है। प्रकृतिवादी साधक प्रकृति के विस्तार में अज्ञात के सौन्दर्य को फैला देखता है; वह उसी के सौन्दर्य से किसी सत्ता का आभास पाता है। और सूफ़ी साधक अपने प्रतीक के सौन्दर्य का उसी सौन्दर्य में प्रतिघटित देखता है। ईरान के सूफ़ी प्रेमियों ने प्रकृति के सौन्दर्य में इसी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पाई थी।[२९] यही सौन्दर्य की व्यापक भावना, उसका प्रतिबिंबित भाव, तथा उसकी (साधक रूप) समस्त सृष्टि पर प्रभावशीलता, हमको हिन्दी के सूफ़ी प्रेमी-कवियों के काव्य में विस्तार से मिलती है। यह सौन्दर्य इनकी प्रेम-भावना का आलंबन है। प्रकृति का सौन्दर्य प्रियतम का रूप है या उसी के सम्पर्क से उद्भासित है। सौन्दर्य की स्थापना के साथ सूफ़ी साधक उसके प्रभावों का उल्लेख अधिक करता है; क्योंकि उसकी प्रेम-वेदना में इसी का अधिक स्थान है।

क—सूफ़ी कवि जब सौन्दर्य की भावात्मक कल्पना करता है, उस समय प्रकृति की दृश्यात्मकता को सामने रख कर उसे व्यक्त करना चाहता है। वह कभी प्रकृति के सौन्दर्य को अपने आराध्य (नारी-रूप) के महान् सौन्दर्य का प्रतिबिंब बताता है और कभी उसकी प्रभात्मक शक्ति का

भावात्मक सौन्दर्य का प्रभाव

---

२९ लेखक के 'ईरानी सूफ़ियों की प्रेम-साधना में प्रकृति के रूप' नामक लेख में इस विषय की विस्तृत विवेचना की गई है। (विश्ववाणी; जून १९४७)

इस प्रकार के प्रतिबिंब भाव में केवल जीवन की छाया देखता है, सूफ़ी-साधक उस प्रतिबिंबित जीवन को आराध्यमय स्वीकार कर के चलता है।

§ ५—प्रेमी साधक जिस साधना को स्वीकार कर के चलता है वह एक अज्ञात प्रियतम को प्रेम का आलंबन मानती है। प्रेमी अपने प्रेम के आलंबन का प्रतीक सांसारिक (लौकिक) सौन्दर्य के रूप में स्वीकार अवश्य करता है; परन्तु उसकी समस्त साधना आध्यात्मिक प्रेम से संबन्धित है जिसमें लौकिक भी अलौकिक हो जाता है, जगत् का सौन्दर्य ही प्रिय का सौन्दर्य हो उठता है। जब प्रेम-भावना आलंबन खोजती है, उस समय सौन्दर्य की स्वीकृति स्वाभाविक है। परन्तु प्रेम सीमा से असीम व्यक्त से अव्यक्त की ओर बढ़ता है; उसी प्रकार आलंबन का सौन्दर्य भी लौकिक से अलौकिक हो उठता है। सूफ़ी प्रेमी-साधकों की सौन्दर्य-योजना को समझने के लिए यह समझना आवश्यक है। इस दिशा में निर्गुण संतों और सगुण भक्तों से इनका भेद है। संत साधकों ने रूप की कोई भी सीमा स्वीकार नहीं की है। यही कारण है कि उनकी सौन्दर्य-योजना अलौकिक ही अलौकिक है। उनके चित्रों में रूप और रंग का प्रयोग मन में एक चमत्कृत-भावना उत्पन्न कर देता है। परन्तु सूफ़ी साधकों ने अपना प्रतीक और साथ ही अपनी साधना का रूप संसार से ग्रहण किया है। फलस्वरूप इनकी सौन्दर्य योजना रूप को पकड़ने का प्रयास है: उसको सीमा में घेरने का भी प्रयत्न है

सौन्दर्य आलंबन

'प्रेम-फाँद जो परा न छूटा। जीउ दीन्ह पै फाँद न टूटा।
जान पुकार जो भा बनबासू। रोंव रोंव परे फँद नगवासी।
पाँखन्ह फिरि फिरि परा सो फाँदू। उड़ि न सकै, अरुझा भा बाँदू।
तीतर-गिउ जो फाँद है, नित्त पुकारै दोख।
सो कित हँकारि फाँद गिउ। (मेलै) कित मोर होइ मोख॥"

प्रतीक नारी के सौन्दर्य्य से यह व्यापक सौन्दर्य्य प्रकृति में फैल कर आध्यात्मिक संकेत ग्रहण करता है। नारी इनकी साधना का प्रतीक है; उसका सौन्दर्य्य, आदर्श सौन्दर्य्य ही अपने चरम पर अलौकिक होकर व्यापक व्यञ्जनात्मक सौन्दर्य्य हो जाता है। यही कारण है कि इन कवियों ने नख-शिख के रूप में जो सौन्दर्य्य-वर्णन किया है, वह व्यापक होकर प्रकृति के विस्तार में खो जाता है। उससे न तो कोई रूप हीं बनता है और न कोई क्रमिक स्वरूप ही उपस्थित होता है। प्रकृतिवादी साधक प्रकृति के विस्तार में अज्ञात के सौन्दर्य्य को फैला देखता है; वह उसी के सौन्दर्य्य से किसी सत्ता का आभास पाता है। और सूफ़ी साधक अपने प्रतीक के सौन्दर्य्य का उसी सौन्दर्य्य में प्रतिघटित देखता है। ईरान के सूफ़ी प्रेमियों ने प्रकृति के सौन्दर्य्य में इसी सौन्दर्य्य की अभिव्यक्ति पाई थी।[२९] यही सौन्दर्य्य की व्यापक भावना, उसका प्रतिबिंबित भाव, तथा उसकी (साधक रूप) समस्त सृष्टि पर प्रभावशीलता, हमको हिन्दी के सूफ़ी प्रेमी-कवियों के काव्य में विस्तार से मिलती है। यह सौन्दर्य्य इनकी प्रेम-भावना का आलंबन है। प्रकृति का सौन्दर्य्य प्रियतम का रूप है या उसी के सम्पर्क से उद्भासित है। सौन्दर्य्य की स्थापना के साथ सूफ़ी साधक उसके प्रभावों का उल्लेख अधिक करता है; क्योंकि उसकी प्रेम-वेदना में इसी का अधिक स्थान है।

भावात्मक सौन्दर्य्य का प्रभाव

क—सूफ़ी कवि जब सौन्दर्य्य की भावात्मक कल्पना करता है, उस समय प्रकृति की दृश्यात्मकता को सामने रख कर उसे व्यक्त करना चाहता है। वह कभी प्रकृति के सौन्दर्य्य को अपने आराध्य (नारी-रूप) के महान् सौन्दर्य्य का प्रतिबिंब बताता है और कभी उसकी प्रभात्मक शक्ति का

---

२९ लेखक के 'ईरानी सूफ़ियों की प्रेम-साधना में प्रकृति के रूप' नामक लेख में इस विषय की विस्तृत विवेचना की गई है। (विश्ववाणी; जून १९४७)

उल्लेख ही करता है। जायसी नवजात पद्मावती में अनन्त सौन्दर्य्य की कल्पना करते हैं—'यह सौन्दर्य्य तो मानों सूर्य्य की किरण से ही निकाला गया है—और सूर्य्य का ऐश्वर्य्य तो कम ही है। इससे तो रात्रि भी प्रकाशमान हो उठी; और यह प्रकाश भी स्वर्गीय आभा से युक्त है। यह रूप-सौन्दर्य्य इस प्रकार प्रकट हुआ...उसके सामने पूर्णिमा का शशि भी फीका हो गया। चन्द्रमा इसी से घटता-घटता अमावस्या में विलीन हो जाता है···। इस सौन्दर्य्य में पद्म-गंध है। जिससे संसार व्याप्त हो रहा है और सारा संसार भ्रमर हो गया है।[30] इस सौन्दर्य्य में कोई रूप नहीं है और कोई आकार भी नहीं है। यह अपनी भावात्मकता में विश्व-सर्जन को व्याप्त ही नहीं करता, वरन् अपने प्रभाव से प्रभावित भी कर रहा है। वस्तुतः इन कवियों के सौन्दर्य्य-चित्रण को रूप, भाव तथा प्रभाव आदि के अनुसार विभाजित करना कठिन है; क्योंकि ये सब मिल-जुल जाते हैं। सूफ़ी कवियों ने सौन्दर्य्य के भावात्मक-पक्ष को ऐसा ही व्यापक और प्रभावशील चित्रित किया है। 'चित्रावली' में रानी चित्र मिटाने आई है, पर उसके सौन्दर्य्य के सामने मुग्ध है,—

"देखा चित्र एक मनियारा। जगमग मंदिर होइ उजियारा।
जिमि जिमि देखें रूप मुख, हिये छोइ अति होइ।
पानी पानिहिं लै रही, चित्र जाइ नहि धोइ॥

आगे इस सौन्दर्य्य की आध्यात्मिक व्याप्ति का और भी प्रत्यक्ष संकेत मिलता है—'ज्यों-ज्यों चित्र धोया जाता है, लगता है सूर्य्य को राहु ग्रस्त कर रहा हो। ज्यों-ज्यों चित्र मिटता है, आँखों में ही अँधेरा छाता जाता है।' इसके बाद जब चित्रावली आकर उस चित्र को नहीं पाती 'तो उसका शरीर पत्ते के समान हिल जाता है। वह सूर्य्य के समान प्रकाशमान् चित्र कहाँ गया, जिसके बिना पूर्णिमा अमा हो

---

३० ग्रंथा०; जायसी० : पद०, ३ जन्म-खंड, दो० २

जाती है।[३१] इस चित्र में व्यापक प्रभावशीलता का रूप है। नूर मोहम्मद ने नख शिख वर्णन को अधिक विस्तार नहीं दिया है, परन्तु उसमें रूप-सौन्दर्य्य का एक मौलिक अर्थ सन्निहित है और यह सौन्दर्य्य के प्रभाव के रूप में है। इन्द्रावती में स्वयं सौन्दर्य्य की चेतना जाग्रत होती है। दर्पण में अपने सौन्दर्य्य से उसे प्रेम की अनुभूति प्राप्त होने लगती है। आगे कवि कहता है 'यह सौन्दर्य्य की चेतना ही है जो प्रेम है और अपने ही सौन्दर्य्य द्वारा प्रिय-प्रेम की अनुभूति के बीच कोई नहीं है। यह प्रेम की व्याप्ति ही सौन्दर्य्य-भावना है जो प्रिय का ही रूप है, उसी की अज्ञात स्मृति है।'[३२] इस प्रकार अव्यक्त भावना सौन्दर्य्य का संकेत ग्रहण करती है। इसी प्रभावशील सौन्दर्य्य का रूप जायसी मानसरोवर के प्रसंग में उपस्थित करते हैं। 'इस सौन्दर्य्य के स्पर्श मात्र से मानसर निर्मल हो गया और उसके दर्शन मात्र से रूपवान् हो उठा। उसकी मलय समीर को पाकर सरोवर का ताप शांत हो गया।' इसके आगे प्रकृति के समस्त सौन्दर्य्य को कवि इसी आध्यात्मिक सौन्दर्य्य के प्रतिबिंब-रूप में देखता है—'उस चन्द्र-लेखा को देखकर ही सरोवर के कुमुद विकसित हो उठे...उस सौन्दर्य्य के प्रकाश में तो जिसने जहाँ देखा वहाँ विलीन हो गया। उस सौन्दर्य्य में प्रतिबिंबित होकर जो जैसा चाहता है सौन्दर्य्य प्राप्त करता है'। सारा सरोवर उसी के सौन्दर्य्य से व्याप्त हो उठा है। उसके नयनों

---

३१ चित्रा०; उस०: ११ चित्रावलकोन-खंड, दो० १३१ और १२ चित्र-धोवन-खंड, दो० १३२

३२ इन्द्रा०; नूर०: ९ पाती-खंड, दो० ७-८,—

"रूप समुद्र अहै वह प्यारी। जब सों प्रेम परा सिर भारी।
तासों लेन लहर अठिलानी। व्याकुल भै मन बीच सयानी।
कोऊ नाहीं बीच मों, अपने रूप लोभान।
अपनो चित्र चितेरा, देखि आप अरुमान॥"

को देखकर सरोवर कमलों से पूरित हो गया; उसके शरीर की निर्मलता से उसका जल निर्मल हो रहा है। उसकी हँसी ने हँसों का रूप धारण कर लिया है और दाँतों का प्रकाश नग तथा हीरा हो गया है।'[३३] उसमान ने भी 'चित्रावली' में एक स्थल पर रूप-सौन्दर्य का वर्णन प्रमुखतः न करके, उसके प्रभाव का ही उल्लेख किया है। यह सौन्दर्य अनन्त और व्यापक है जिसके प्रकाशित होने पर सभी जगत् आश्चर्य चकित रह जाता है—

"चित्रावली झरोखे आई। सरग चाँद जनु दीन्ह दिखाई।
भयो अँजोर सकल संसारा। भा अलोप दिनकर मनियारा।"[३४]

ख—यहाँ तक व्यापक सौन्दर्य की भावना और उसकी प्रभावशीलता पर विचार किया गया है। इस सौन्दर्य में आकार या रूप की भावना किसी सीमा में प्रत्यक्ष नहीं होती। यह केवल भावात्मक है जो कभी रूप, कभी प्रकाश और कभी गन्ध आदि के अलौकिक विस्तार में आध्यात्मिक प्रभाव उत्पन्न करता है। हम जानते हैं कि सूफ़ी प्रेमी कवियों ने प्रतीकों का आश्रय लिया है। जब लौकिक प्रतीक का आधार है; एक नारी (नायिका) की कल्पना है, तो सौन्दर्य प्रत्यक्ष रूप और आकार भरेगा। लेकिन सौन्दर्य यहाँ भी अपनी व्यापकता

संकेत-रूप और प्रकृति में प्रतिबिंब भाव

---

३३ ग्रंथा०; जायसी: पद०, मानसरोवर खंड; दो० ८। जायसी आध्यात्मिक प्रभावशील सौन्दर्य को प्रस्तुत करने में अद्वितीय हैं। राघवचेतन ४१ 'पद्मावती-रूप-चर्चा-खंड' में व्यापक व्यंजना से सौन्दर्य-वर्णन आरम्भ करता है। वह इस व्यापक भावना को रूप और स्पर्श गुण में व्यक्त करता हुआ उसकी प्रभावात्मकता की ओर ही आकर्षित करता है। इसी प्रकार 'चित्रावली' में परेवा भी राजकुमार के सामने सौन्दर्य के प्रभाव का वर्णन गंध-गुण के माध्यम से करता है (१३ परेवा० दो० १७३)।

३४ चित्रा०; उस०: ३० दरसन-खंड, दो० २७७

में, आध्यात्मिक चमत्कार की अलौकिक सीमाओं में, रूप भरकर भी रूप नहीं पाता ; आकार धारण करके भी कोई प्रत्यक्ष आकार सामने नहीं उपस्थित कर पाता। यह बात हम संक्षिप्त रूप-चित्रों और विस्तृत नख-शिख वर्णनों में देखेंगे। इन समस्त रूप के संकेतों में प्रकृति उसका प्रतिबिंब ग्रहण करती है। प्रकृति-जगत् उसी असीम और चरम सौन्दर्य्य की छाया है; उसी के प्रभाव से समग्र विश्व आकर्पित हो उठता है। पद्मावती यौवन में प्रवेश कर रही है। जायसी उस सौन्दर्य्य की कल्पना करते हुए उसके प्रभाव और प्रकृति पर उसके प्रतिबिंब का उल्लेख करते हैं—'विधि ने उसको अत्यंत कलात्मक ढंग से रचा है। उसके शरीर की गध से संसार व्याप्त है। भ्रमर चारों ओर से उसे घेरे हुए हैं। वेनी नागिन मलयागिरि में प्रवेश कर रही है...उस पद्मनी के रूप को देख कर संसार ही मुग्ध हो उठा है। नेत्र आकाश के विस्तार में फैलकर खोजते हैं, पर संसार में कोई नहीं दिखाई देता।'[३५] यहाँ उत्प्रेक्षाओं को व्यक्त न करके कवि सौन्दर्य्य को प्रकृति के व्यापक माध्यम से व्यंजित करता हुआ, उसके प्रतिबिंब के साथ प्रभाव का संकेत भी करता चलता है। इस अलौकिक सौन्दर्य्य में व्यक्त रूप तथा आकार नहीं है: सूफ़ी साधक आध्यात्मिक प्रियतमा के सौन्दर्य्य को सीमाओं में बाँध भी कैसे सकता। उसमान चित्रावली के रूप की बात कहते हैं, उसमें किंचित शरीर के साथ शृंगार का वर्णन मिल गया है। परन्तु न तो शरीर में आकार है और न शृंगार में रंग-रूप; इसमें केवल चमत्कार की अलौकिकता व्यापक प्रभाव लेकर उपस्थित हुई है। चित्रावली दर्शन के लिए झरोखे पर आती है— 'उसके शरीर पर वहुमूल्य चीर है, मानों लहरें लेता हुआ सागर चंचल हो रहा हो। मुख के दिव्य प्रकाश को देखकर चकोर चकित रह गया, मानो चन्द्रमा ने प्रकाश किया। माँग सुन्दर मोतियों से युक्त है,

---

३५ ग्रंथा०; जायसी : पद०, ३ जन्म-खंड, दो० ६.

नक्षत्रमालाओं ने मानो शशि को आकर प्रणाम किया है।...गरदन में मुक्त-माला है, मानों देव-सरि सुमेरु पर गिरी है।'[३६] इसमें व्यक्त उत्प्रेक्षाओं के द्वारा जो चमत्कृत सौन्दर्य्य की योजना हुई है, वह भी आध्यात्मिक प्रभातशील सौन्दर्य्य का रूप है। नूर मोहम्मद अपने नख-शिख वर्णन को रूप-संकेत में समाप्त कर देते हैं। वे रूप की साधारण रेखाओं के सहारे दिव्य-भावना को प्रस्तुत करते हैं—

"झरना ता मुख मान को, मनमाँ रहा समाइ।
बूड़ी लोचन पूतरी, आँसू दृगमों जाइ॥
धन को वदन सुरुज की चाँदू। अलकावर नागिन की फाँदू।
नैना मृग कि हैं मतवारी। की चंचल खंजन कजरारी।"[३७]

एक स्थान पर नूर मोहम्मद भावात्मक सौन्दर्य्य को प्रकृति से एक रूप करके व्यक्त करते हैं—'इन्द्रावती का मुख पुष्प है तो उसके कपोल कली हैं, उसकी छवि और शोभा विमल है। आश्चर्य्य है! इस सौन्दर्य्य का कोई अनुमान ही नहीं लगा पाता। पुष्प है, पर विकसन-शील भावना को लेकर कली के समान है। कली है, परन्तु उसमें पूर्ण विकास की भावना विद्यमान् है। वह रूप-सौन्दर्य्य फुलवारी है; और उसका रूप फुलवारी की शोभा है।'[३८] यहाँ उपमान आध्यात्मिक सौन्दर्य्य की योजना करते हैं और व्यंजित सौन्दर्य्य ही आध्यात्मिक प्रकाश है। उसमान कुअर को चित्रावली की याद फुलवारी के माध्यम से दिलाते हैं और उस समय फूल आदि में चित्रावली का रूप ही प्रतिबिंबित हो रहा है। पर यह रूप स्मृति ही दिलाता है—

"जूही फूल दिष्टि भरि हेरा। लखे भाव चित्रावली केरा।
अली माल फूलन पर हेरी। होइ सुरति अलकावलि केरी।

जाहि होइ चित की लगन, मूरख सों सों दूरि।
जान सुजान चहूँ दिसि, वोहिं रहा भरि पूरि ॥"[३९]

वस्तुतः सूफ़ी प्रेमी प्रकृतिवादी रहस्यवादियों की भाँति ज्ञात प्रकृति से अज्ञात की ओर नहीं बढ़ते; वे तो उस अज्ञात को प्रकृति में प्रतिबिंबित देखते हैं। इसी कारण उनमें प्रकृति रूपक अधिक दूर नहीं चल पाते, उनका आराध्य व्यक्त हो उठता है।

सौन्दर्य से मुग्ध और विमोहित प्रकृति

ग—ऊपर के रूप-चित्रों के समान वे चित्र भी हैं जिनकी सौन्दर्यात्मक व्याप्ति में प्रकृति केवल प्रभावित ही नहीं वरन् मुग्ध तथा विमोहित लगती है। यहाँ रूप-सौन्दर्य के समस्त प्रसंग में उपमानों की योजना में रूप के ही प्रकृति-चित्रों का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः यह समस्त-योजना साधारण आलंकारिक अर्थ में नहीं मानी जा सकती, इसी कारण आध्यात्मिक व्यंजना में इसको प्रकृति-रूपों में स्वीकार किया गया है। प्रकृति की अप्रस्तुत-योजना को इन काव्यों में क्यों प्रमुखता मिली इसकी ओर कई बार संकेत किया गया है। जायसी पद्मावती के सौन्दर्य के साथ प्रकृति का विमुग्ध रूप प्रस्तुत करते हैं—'सरोवर के निकट पद्मावती आई, उसने अपना जूड़ा खोलकर केशमुक्त कर दिए। मुख चंद्रमा है—शरीर में मलयागिरि की सुगन्ध आती है और उसको चारो ओर से नागनियों ने छा लिया है।' कवि उत्प्रेक्षाओं के सहारे सौन्दर्य के प्रभाव की व्यंजना भी करता है—'बादल घुमड़ कर छा गए—और संसार पर उसकी छाया पड़ गई। आश्चर्य! इस के समक्ष चन्द्र की शरण राहु ले रहा है। प्रकाशमान् सौन्दर्य के सामने सूर्य की कला छिप गई। नक्षत्रमालिका को लेकर चन्द्रमा उदित हुआ है। उसको देखकर चकोर अपने को भूल उसकी ओर एकाग्र हो गया।' उपमानों की रूप-कल्पना के बाद कवि प्रकृति को प्रत्यक्ष

३९ चित्रा०; उस० : २५ हस्ती-खंड, दो० ३१५

आनन्दोल्लास में मग्न देखता है—

"सरवर रूप विमोहा, हिए हिलोरहि लेइ।
पाँव छुवै मकु पावौं, एहि मिसि लहरहि देइ ॥"

प्रकृति के उल्लास को कवि और भी व्यक्त करता है। अनन्त
सौन्दर्य्य के सामने जैसे प्रकृति सौन्दर्य्य चंचल और विमुग्ध हो उठता
है। यहाँ चकई के रूप में प्रकृति ही मुग्ध और चकित है।[४०] इस
प्रकार का चित्र उसमान ने 'सरोवर-खंड' में उपस्थित किया है। उस
में संकेतात्मक रेखाओं से प्रकृति-सौन्दर्य्य में प्रभाव के साथ मुग्ध
भाव भी सन्निहित है। चित्रावली अपनी सखियों के साथ सरोवर
में प्रवेश करती है—'सभी कुमारियाँ स्वर्ण वल्लरियों के रूप में फैल
गईं, मानों कमलिनीयाँ तोड़कर जल में डाल दी गई हैं। वे मानों
चंद्रमा के साथ स्वर्ग की तारिकाएँ हैं और वे नभ में क्रीड़ा करती हुई
सुशोभित हैं। हंस उनकी शोभा को देख सरोवर छोड़कर चले गए।
कच रूपी विषधर ने सरोवर को डस लिया है; उस विष को उतारने
की जड़ी तो मंत्र जाननेवाले के पास है। उस चित्रावली के नख-शिख
से उठने वाली सौन्दर्य्य की लहर सरोवर के समस्त विस्तार में फैल
गई है।'[४१] यहाँ प्रकृति आध्यात्मिक सौन्दर्य्य से मुग्ध ही नहीं वरन्
विमोहित हो उठी है। नूर मोहम्मद ने 'नहान-खंड में इसी प्रकार की
व्यंजना की है, परन्तु उनकी प्रवृत्ति उपदेशात्मक अधिक है। इस
सौन्दर्य्य की कल्पना के साथ प्रकृति में मुग्ध होने का भाव तो है, पर

---

४० ग्रंथा०; जा० : पद०, ४ मानसरोवर-खंड, दो० ४–५,

"सरवर नहि समाइ संसारा। चाँद नहाइ पैठ लेइ तारा।
धनि सो नीर ससि तरई ऊई। अब कित दीठ कमल औ कुई।
चकई बिछुरि पुकारै, कहाँ मिलौं हो नाँह।
एक चाँद निसि सरग मह, दिन दूसर जल माँह ॥"

४१ चित्रा०; उस०; १० सरोवर-खंड, दो० १०८

उल्लास की भावना अधिक व्यक्त नहीं है—'इन्द्रावती ने अपनी केश राशि मुक्त कर दी, उस समय मेघ की घटा में चंद्रमा जैसे प्रकाशित हो उठा। जब रानी ने जल में प्रवेश किया, जल चंद्रमा के प्रकाश से उद्भासित हो गया। उसको धारण कर सरोवर आकाश के समान था जिसमे कुमारी चंद्रमा के समान सुशोभित हुई। इस प्रकार आकाश में सूर्य और जल में चंद्रमा उदित है और कमल तथा कुमुद दोनों पुष्पित हैं, क्योंकि दोनों के प्रिय उनके पास हैं।'[४२]

§६—सूफ़ी साधकों ने इन सांकेतिक रूप-चित्रों के अतिरिक्त नख-शिख के विस्तृत वर्णन भी किए हैं। इन शरीर के अंग-प्रत्यगो के वर्णनों में प्रेमी कवियों ने किसी प्रकार का आकार या व्यक्तिगत रूप उपस्थित करने का प्रयास नहीं किया है। वरन् पिछले जिन सौन्दर्य्य चित्रों का उल्लेख किया गया है, उनमें सौन्दर्य्य की व्यापक व्यंजना रहती है। लेकिन नख-शिख के रूप में सौन्दर्य्य की कोई भी कल्पना प्रत्यक्ष नहीं हो पाती। इनमें एक ओर प्रकृति-उपमानों की योजना से आध्यात्मिक वैभव प्रकट होता है, और दूसरी ओर उसका आकर्पण तथा सम्मोहन व्यक्त होता है। वस्तुतः नख-शिख वर्णन ऐसी स्थिति में किए गए हैं, जब किसी पर रूप का आकर्पण डालना है। इन समस्त प्रेमाख्यानों में नख-शिख वर्णनों की दो परम्पराएँ हैं। सूफ़ी भाव-धारा से प्रभावित काव्यों में नख-शिख वर्णन आध्यात्मिक रूप के आकर्पण और उसकी सम्मोहक शक्ति की व्यंजना को लेकर चलता है इनमें जायसी का अनुसरण अधिक है। यह बात 'चित्रावली', 'इन्द्रावती' तथा 'युसुफ जुलेखा' के वर्णनों से प्रत्यक्ष है। दूसरी परम्परा में स्वतंत्र प्रेमी कवि हैं जिन्होंने प्रेम के आलंबन रूप में नख-शिख का वर्णन किया, इनमें दल-दमन काव्य' 'पुहुपावती', 'माधवानल कामकंदला' तथा 'विरहवारीश'

नख-शिख योजना
वैभव और सम्मोहन

---

४२ इन्द्रा०; नूर० : १२ नहान-खंड, दो० १

आदि का नाम लिया जा सकता है। रूप-सौन्दर्य्य के लिए इन दोनों परम्पराओं ने प्रकृति उपमानों का प्रयोग एक ही प्रवृत्ति के अनुसरण पर किया है, इसलिए इनमें विशेष भेद नहीं जान पड़ता। परन्तु स्वतंत्र कवियों में व्यापक प्रभावों को व्यंजित करने की भावना बहुत कम है, साथ ही रीति-काव्य के प्रभाव में चमत्कार उनकी प्रवृत्ति भी है। सूफ़ी कवियों में आध्यात्मिक व्यंजना को प्रस्तुत करनेवाले प्रमुख कवि जायसी हैं। अन्य कवियों में अनुसरण अधिक है। 'युसुफ़ जुलेखा' के कवि निसार में यह अनुकरण सबसे अधिक है।

जायसी की नख-शिख कल्पना

क—जायसी ने नख-शिख के रूप में सौन्दर्य की जो कल्पना की है उसमें प्रकृति-उपमानों की योजना के माध्यम से उस अलौकिक रूप के ऐश्वर्य तथा सम्मोहन के साथ उसके आकर्षण का उल्लेख भी है।—'वेणी के खुलने से स्वर्ग और पाताल दोनों में अंधेरा छा जाता है और अष्टकुल नागों का समूह इन्हीं केशों में उलझा हुआ है। ये केश मानों मलयागिरि पर सर्प लगे हैं।' उसमान ने भी केशों की समानान्त कल्पना की है—

"प्रथमहिं कहौं केस की सोभा। पन्नग जनों मलयागिरि लोभा।
दीरघ विमल पीठि पर परे। लहर लेहिं विषधर विषभरे।"[४३]

रूप-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए दुखहरनदास भी केशों का वर् इसी प्रकार करते हैं। सौन्दर्य की व्यंजना इनका प्रमुख उद्देश्य परन्तु व्यापक प्रभाव का उल्लेख भी मिलता है—

"कारे सघन रहीं जौ राटा। रैन अमावसी पावस घटा।
परही छूटी जो कबहु केसा। रवी छपाइ होई घनी सुपेसा।"[४४]

इसी प्रकार जायसी माँग को 'दीपक मानते हैं जिससे रात्रि

---

४३ चित्रा०; उस०: १३ परेवा-खंड, दो० १७७

४४ पुहु०; दुख०: सिंगार-खंड से

भी मार्ग प्रकाशित हो जाता है। मानों कसौटी पर खरे सोने की लकीर बनी हो या घने बादलों में विद्युत की रेखा खिंची हुई हो।......और मस्तक द्वितीया के चन्द्रमा के समान है उसका प्रकाश तो संसार में व्याप्त है—सहस्र-किरण भी उसके सामने छिप जाता है।...भौंह तो मानों काल का धनुष है, यह तो वही धनुप है जिससे संहार होता है।...आकाश का इन्द्र-धनुष तो उसी की लज्जा से छिप जाता है।......और नेत्र, वे तो मानो दो मानसरोवर लहरा रहे हैं। वे उछल कर आकाश में लगना चाहते हैं। पवन झकोरा देकर हिलोर देता है और उसे कभी पृथ्वी और कभी स्वर्ग ले आता है। नेत्रों के फिरते ही संसार चलायमान् हो जाता है। जब वे फिर जाते हैं तो गगन भी विलय होने लगता है।......बरूनी, वे तो बाण हैं जिनसे आकाश का नक्षत्र-मंडल वेधा हुआ है।......और नासिका उसकी शोभा को कोई भी नहीं पाता; ये पुष्प इसीलिए तो सुगन्धित हैं कि वह उनको अपने पास करले। हे राजा, वे अधर तो ऐसे अमृतमय हैं कि सभी उनकी लालसा करते हैं, सुरंग बिंबा तो लज्जावश वनों में जाकर फलता है। उसके हँसते ही संसार प्रकाशित हो उठता है—ये कमल किसके लिए विकसित हैं और इसका रस कौन भ्रमर लेगा।......दाँतों की प्रकाश किरणों से रवि, शशि प्रकाशमान् हैं और रत्न माणिक्य और मोती भी उसी की आभा से उज्ज्वल हैं। स्वभावतः जहाँ वह हँस देती है, वहाँ ज्योति छिटककर फैल जाती है।......जिह्वा से अमृत-वाणी निकलती है जो कोकिल और चातक के स्वर को भी छीन लेती है। वह उस बसंत के बिना नहीं मिलता जिसमें लज्जावश चातक और कोकिल मौन होकर छिप जाते हैं। इस शब्द को जो सुनता है वह माता होकर घूम उठता है।......कपोल पर तिल देखकर लगता है आकाश में ध्रुव स्थित है, आकाश रूपी सौन्दर्य्य उस पर मुग्ध होकर डूबता उतराता है पर तिल को दृष्टि-पथ से ओझल नहीं होने देता।......कानों में कुंडलों

की शोभा ऐसी भासित होती है, मानों दोनों ओर चाँद और सूर्य चमकते हैं और नक्षत्रों से पूरित हैं जो देखे नहीं जाते। मोतियों से जड़ी हुई तरकी पर जब वह आँचल बार बार डालती है तो दोनों ओर जैसे विद्युत काँप काँप उठती है।...और उस सौन्दर्य की सेवा जैसे दोनों कानों में लगे हुए नक्षत्र करते हैं; सूर्य और चन्द्र जिसकी परिचर्या में हो ऐसा और कौन है। उसकी ग्रीवा के सौन्दर्य से हार कर ही तो मयूर और तमचुर प्रातः संध्या पुकारा करते हैं।...उसकी भुजाओं की उपमा पद्मनाल नहीं है, इसी चिंता में वह क्षीण होता जाता है, उसका शरीर काटों से विंध गया है और उद्विग्न होकर वह नित्य सांस लेता है।—और उसकी वेणी! मानों कमल को सर्प ने मुख में धारण कर लिया है और उस पर खंजन बैठे हैं।...उसकी कटि से हारकर सिंह वनवासी हो गया और इसी क्रोध में मनुष्य को खाता है।... जिसकी नाभि-कुंड से मलय-समीर प्रवाहित है. और जो समुद्र के भँवर के समान चक्कर लगाती है। इस भंवर में कितने लोग चक्कर खा गए और मार्ग को पूरा न करके स्वर्ग को चले गए।'[४५] इस समस्त

---

४५ ग्रंथा०; जायसी०; पद०, १० नख-शिख-वर्णन-खंड। इसी प्रकार का वर्णन, ४० 'पद्मावती रूप वर्णन-खंट' में भी है जिसमें प्रभावशीलता अधिक है—

"माँग जो मानिक सेंदुर-रेखा। जनु वसंत राता जग देखा।
भोर साँझ रवि होइ जो राता। ओहि रेखा राता होइ गाता।"

राघव चेतन के वर्णन की यह प्रवृत्ति है कि उसमें सौन्दर्य का प्रभाव अधिक दिखाने का प्रयास किया गया है जब कि हीरामनि ने प्रकृति पर अधिक प्रभाव दिखाया है। राघव चेतन मानव के प्रभाव के लिए प्रकृति से अवश्य उपेक्षा देता है—

"दिखा मृग पाव जस नीरू। सुनत बैन तस पलुह सरीरू।
बोल सेवाति-बूंद जनु परहीं। स्रवन-सीप-मुख मोती भरहीं।"

वर्णना में प्रकृति का प्रयोग जैसा पहले ही संकेत किया गया है, दो प्रकार से हुआ है। पहले तो सौन्दर्य के ऐश्वर्य तथा प्रभाव को दिखाने के लिए उपमाओं तथा उत्प्रेक्षाओं आदि में प्रकृति के उपमानों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार की प्रकृति-योजना में व्यापक सौन्दर्य और उसके व्यापक प्रभाव की अभिव्यक्ति हो सकी है। इन आलंकारिक प्रयोगों को प्रकृति-रूपों में इसलिए माना गया है कि यहाँ अलंकारों का प्रयोग व्यंगार्थ में हुआ है। कवि का मुख्य अर्थ इन चित्रों के माध्यम से व्यंजना करना ही है। दूसरे इस सौन्दर्य का प्रकृति पर प्रभाव अत्युक्ति, अतिशयोक्ति आदि के माध्यम से प्रकट किया गया है। कभी-कभी सौन्दर्य-योजना प्रकृति के माध्यम से की गई है; पर उसका प्रभाव मानव हृदय पर प्रतिघटित किया गया है। इस प्रकार नख-शिख वर्णन के प्रसंग चाहे प्रकृति के माध्यम से रूप और सौन्दर्य की योजना की दृष्टि से हों, अथवा प्रकृति उपमानों के माध्यम से उस सौन्दर्य की प्रभावशीलता के विचार से हों, आध्यात्मिक सौन्दर्य और प्रेम की व्यंजना को लेकर ही चलते हैं।

अन्य कवि और नख-शिख

ख—अन्य कवियों में यही भावना मिलती है, केवल अपनी प्रतिभा के अनुसार उनको सफलता मिल सकी है। परन्तु उनपर जायसी का प्रभाव प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। माँग का उल्लेख करते हुए उसमान कहते हैं—

"सूर किरन करि वालहि धारा। स्याम रैनि कीन्हीं दुई धारा।
पंथ अकास विकट जग जाना। को न जाइ तोहि पंथ भुलाना।"

इस 'माँग' के सौन्दर्य को प्राप्त करना कठिन है; और फिर—

"वेनी सीस मलयगिरि सीसा। माँग मोति मनि माथें सीसा।
सूर समान कीन्ह विधि दीया। देखि तिमिर कर फाट्यो हीया।
स्याम रैनि मँह दीप सम, जेहि अँजोर जग होइ।
अछत भुअँगम माँहि वसि, दिया मलीन न होइ॥"

इस प्रकार सौन्दर्य की भावना प्रकृति में व्यापक प्रभाव के रूप में प्रकट हो रही है। आगे उसमान जायसी का अनुसरण करते हैं—'मस्तक द्वितीया का चन्द्र है जग उसी की वन्दना करता है; उसकी समता कौन करेगा, द्वितीया में ही पूर्णिमा की ज्योति भासमान् है। वह ललाट जैसे भाग्य से पूर्ण दीपक हो, जिससे तीनों लोक प्रकाशमान हैं।' यह सौन्दर्य प्रकाशमान् ही नहीं वरन् वन्दनीय भी है। कभी-कभी परवर्ती कवियों ने किसी वर्णन में केवल सौन्दर्य के आधार पर प्रकृति उपमानों की योजना से आध्यात्मिक सत्य का संकेत दिया है। निसार ने अधिकतर तो जायसी का अनुसरण किया है। परन्तु कहीं-कहीं उन्होंने ऐसा चित्र उपस्थित किया है जिसमें केवल सौन्दर्य की व्यापकता है—

"   । सुरसरि जमुना विच देखा।
औ ता महँ गूँथे गज मोती। राहु केतु महँ नखत के जोती।
दुओ दस घन बाहर जस छावा। मध्य कौंध चमकै दिखरावा।
दामिन अस मह माँग सोहाई। केस घमंड घटा जस छाई।"[४६]

भौंहों को लेकर उसमान ने भी धनुप की उत्प्रेक्षा दी है और उसका प्रभाव भी व्यापक बताया है—'यह तो वक्र है, मानों धनुप ताना गया है। इन्द्र का धनुप तो उसको देखकर लज्जित हो जाता है। यह तो मानों संसार के लिए काल हो, जो रात-दिन चढ़ा रहता है। इस धनुप ने युद्ध में कामदेव को पराजित किया है।' और नेत्र अपने सौन्दर्य में—'लाल कमल में जैसे मधुप बंद हों। कहते लज्जा आती है, वह उनके सौन्दर्य की बराबरी में कहाँ! कमल तो चन्द्रमा को देखकर कुम्हला जाते हैं और वे शशि के साथ भी प्रफुल्लित रहते हैं।' इसके साथ ही कवि उत्प्रेक्षा से उसके प्रभाव का संकेत देता है—

४६ युसुफ और जुलेखा; निसार : जुलेखा-बरनन-खंड

"दोउ समुद्र जनु उठहिँ हिलोरा। पल मह चहत जगत सब बोरा।"
दुखहरनदास ने सूफ़ी आध्यात्मिक व्यंजना का आश्रय नहीं लिया है, परन्तु वे प्रेम की महिमा के साथ सौन्दर्य की व्यापकता का उल्लेख करते हैं—'इन नेत्रों का सौन्दर्य्य तो ऐसा है; लगता है दोनों नेत्र दो समुद्र हैं जो हिलोर ले रहे हैं, जिसके प्रसार में पृथ्वी, आकाश और सारा विश्व डूबता जा रहा है।' कवि इस सौन्दर्य्य की कल्पना इस प्रकार पूरी करता है—

"कैदहु चंद सुरुज दोउ, साजि धरो करतार।
मूंदे जग अंधियार होइ, खोलत सभ उजियार॥"[४७]

आगे उसमान परम्परा के अनुसार वर्णन करते हैं—'कपोल पर तिल इस प्रकार शोभा देता है, मानों मधुकर पुष्प पर मोहित हो रहा है।...यदि यह तिल न होता तो प्रकाशहीन स्थिति में कोई किसी को पहिचानता भी नहीं, उसी एक तिल की परछाहीं से सबके नेत्रों में प्रकाश है।...कवि नासिका को फूल के समान कहते हैं, पर पुष्प तो इसी लज्जा से पृथ्वी पर च्युत हो जाता है।...और अधर! उनके सामने विद्रुम तो कठोर और फीके हैं, वे तो सजीव, कोमल, रंगमय तथा हृदय को कष्ट देनेवाले हैं...बिंबा उसकी तुलना क्या करेगा, वह तो लज्जा से वन में जा छिपा है।...उसके मुख-चन्द्र से संसार प्रकाशमान् है, और अमृत तुल्य अधर प्राणदान करता है।' अधि-भौतिक प्रकृति चित्रों की योजना से उसमान ने दाँतों की कल्पना में आध्यात्मिक संकेत दिए हैं—'देवताओं ने चंद्रमा में क्यारियाँ बनाई हैं, और अमृत सानकर वारी को ठीक किया है। उसमें दाड़िम के बीज लगा गए हैं जिनकी रखवाली काले नाग करते हैं। वे रात-दिन उसके पास रहते हैं, नहीं तो शुक, पिक या खंजन उनको चुन लें।' कवि सौन्दर्य्य की इस अतिप्राकृत, कल्पना के साथ व्यापक प्रभाव का

---

४७ पुहु०; दुख० : सिंगार-खंड

उल्लेख भी करता है—

"इक दिन विहँसी रहसि कै, जोति गई जग छाइ।
अब हूँ सौंरत वह चमक, चौंधि चौंधि जिय जाइ॥"

'नल दमन काव्य' में 'दसन' को लेकर सौन्दर्य और प्रभाव संबन्धी उत्प्रेक्षाएँ की गई हैं। सौन्दर्य को लेकर, प्रकृति के माध्यम से उसके व्यापक प्रभाव की वात कहना इन कवियों का उद्देश्य है—'दाँत जैसे हीरा छील कर गढ़े गए हों...बोलते ही संसार में प्रकाश हो जाता है, लगता है जैसे शशि में कौंधा चमक गया हो; और जो वह हँस कर बोलती है वही चंचल होकर चपला के रूप में चमक उठता है।' इसी के आगे कवि उत्प्रेक्षा द्वारा प्रकृति पर प्रतिबिंबित सौन्दर्य की व्यञ्जना करता है,—

"देखि दसन दुति रतन दुर, पाहन रहै समाइ।
तिनहिं लाज चपला मनौं, निकसत औ छिपि जाइ॥"[४८]

रसना को लेकर सभी कवियों ने वाणी का उल्लेख किया है, पर उसमें प्रभाव की वात विशेष है। उसमान ने उसे सौन्दर्य-रूप देने का प्रयास भी किया है,—

"जेहि भीतर रसना रस भरी। कौंल पाँखुरी अमिरित भरी।
दसन पाँति महँ रही छिपानी। बोलत सो जनु अमिरित बानी।
उकतिन बोलत रतन अमोली। आँब चढ़ी जनु कोइल बोली।"

परन्तु इसमें अमृत्व तथा जिलाने की वात ही अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठी है,—

"त्यों-त्यों रसन जियावई, ज्यों ज्यों मारहिं नैन।"

वाणी के प्रसंग में 'नल दमन काव्य' में प्रकृति को लेकर अधिक व्यञ्जक उक्तियाँ हैं—'वाणी की मधुर रसज्ञता को प्राप्त करने के लिए मृग नेत्र के रूप में आये हैं। पिकी लज्जित होकर काली हो गई,

४८ नल०; सिंगार-खंड

और उसने नगर को छोड़ कर वन में विश्राम लिया है; और—

"स्वॉत बुंद तिय बैन सुन, चातक मिटी पियास।
सुस्रन सीप होइ उतरी, दुहौं कूल तिन्ह आस॥"[४९]

इसी प्रकार उसमान चिबुक को 'अमृत तुल्य मानते हैं और उसे कूप के समान कहते हैं, जिसमें पड़ कर मन डूबता उतराता है।' कान और उसमे पहिनी हुई तरकी का वर्णन भी इन्हीं सौन्दर्य्य उपमानों के आधार पर व्यापक आकर्षण को लेकर हुआ है,—

"निसि दिन मुकता इहै गुनाहीं। खंजन झाँकि झाँकि जिमि जाहीं।
कंचन खुटिला जान बखाना। गुरु सिष देइ लाग ससिकाना।"

आगे इसी भाव-धारा में कवि वर्णन करता जाता है—'नाचते हुए मोर ने ग्रीवा की समता की, और इसी कारण वह सिर धुन कर रो उठा। शंख भी उसकी समता नहीं कर सका और वह प्रातः संध्या चिल्ला उठता है।...गले में सुन्दर हसुली है, उसकी समानता चन्द्रमा और सूर्य्य भी नही कर पाते, इसीलिए वे राहु की शंका से छिप जाते हैं। और भुजाएँ कमल-नाल हैं जिनके हृदय में छिद्र हैं।' कुच का वर्णन जायसी के समान उसमान ने भी सौन्दर्य्य में प्रभाव उत्पन्न करके उपस्थित किया है—'बारीक वस्त्र में इस प्रकार झलकते हैं, मानों अन्दर दो कमल की कलियाँ हों; मुकताहलों के बीच में उनकी शोभा इस प्रकार की है, मानों चक्रवाक के जोड़ बिछुड़ गए हों।' और उनका प्रभाव तो ऐसा है—

"होइ भिखारी सब चहहिं, जाइ पसारन हाथ।"

और 'नाभि तो सिंधु में भ्रमर के समान है, जिसमें गिर कर फिर निकलना नहीं होता; खिलती हुई कली सुशोभित हो, और जिसकी गंध आज भी भ्रमर ने प्राप्त न की हो। क्षीर सिन्धु से जब मथनी निकाली गई, तो वह जहाँ पहले खड़ी थी, वही भँवर यह नाभि है—

---

४९ वही०; वही० १

जो उस नाभि कुंड में पड़ जाय वह बाहर निकल नहीं सकता।... गमन करते समय जंघा की शोभा ऐसी है कि गज और हंस का मद दूर हो जाता है। गज लज्जित होकर शीश धुनता है, और हंस मानसरोवर डूबने चले गए हैं।'[५०] इस प्रकार इन सूफ़ी कवियों तथा एक सीमा तक स्वतंत्र कवियों ने भी प्रकृति उपमानों के द्वारा अलौकिक ऐश्वर्य और प्रभाव का वर्णन किया है। और साथ ही यह सौन्दर्य प्रकृति पर प्रतिबिंबित होकर उसे मुग्ध और विमोहित करता है। यह समस्त सौन्दर्य्य इनके आध्यात्मिक प्रेम का आलंबन है। इस आध्यात्मिक भावना के क्षेत्र में प्रकृति के लिए अतिप्राकृत हो उठना स्वाभाविक है, यह संतों के विषय में हम देख चुके हैं। उन्होंने व्यक्त रूप से लौकिक आश्रय नहीं लिया था। परन्तु सूफ़ी प्रेमियों का लौकिक आधार प्रत्यक्ष है, और यही कारण है कि इनकी अलौकिक कल्पना नख-शिख की सीमाओं में आने का प्रयास करती हैं।

§ ७—हिन्दी मध्ययुग के सूफ़ी तथा अन्य प्रेमी कवियों ने जन-प्रचलित परम्पराओं से बहुत कुछ ग्रहण किया है। इनमें से एक प्रेमाख्यानों में प्रकृति-पात्रों का स्थान है। इन कवियों ने इनको आध्यात्मिक प्रतीक के अर्थ में लिया है। जायसी का सुआ गुरु के समान है, वह आध्यात्मिक साधना का सहायक है; पर वह स्वयं पद्मावती को अपना गुरु (आराध्य) कहता है। इसी प्रकार अन्य काव्यों में अतिप्राकृत पात्रों का उल्लेख है। 'चित्रावली' में देव राजकुमार को चित्रसारी ले जाता है। फिर इसमें हाथी, पक्षी आदि का भी अतिप्राकृत के रूप में उल्लेख है। इस प्रकार इन्होंने लौकिक परम्परा को आध्यात्मिक व्यंजना के लिए प्रयुक्त किया है। इस प्रकार की इनमें व्यापक प्रवृत्ति भी है। इन्होंने रूपकातिशयोक्ति से परिस्थिति के अनुकूल प्रकृति-पात्रों से आध्यात्मिक

प्रकृति और पात्र

५० चित्रा०; छं० : १३ 'चित्रावली' में समस्त नख-शिख का प्रसंग है।

वातावरण प्रस्तुत किया है। इन वर्णनों में पात्रों के नाम के स्थान पर कवि प्रकृति-रूपों का प्रयोग करता है। इस प्रकार के उपमानों के प्रयोग से स्थितियों और भावों पर आध्यात्मिक प्रकाश आ जाता है। ऐसे प्रयोग सभी कवियों के काव्य में फैले हुए हैं। 'मानसरोवर-खंड' में जायसी पद्मावती के साथ सखियों की कल्पना एक बार 'जनु फूलवारि सबै चलि आई' के रूप में कर लेते हैं; और आगे चित्र को प्रकृति उपमानों के रूप में पूरा करके आध्यात्मिक वातावरण प्रस्तुत करते हैं—

"कोई चंपा कोई कुंद सहेली। कोइ सुकेत करना रस वेली।
कोई कूजा सद वर्ग चमेली। कोई कदम सुरस रस-वेली।
चली सबै मालति संग, फूली कँवल कुमोद।
वेधि रहे गन गंधरब, वास परमदामोद ॥"[५१]

इसी प्रकार की व्यंजना अन्यत्र सखियाँ पद्मावती को संबोधित करने में सन्निहित करता हैं—'हे पद्मनी तू कँवल की कली है; अब तो रात्रि व्यतीत हो गई प्रातः हुआ, तू अब भी अपनी पंखड़ियों को नहीं खोलती जब सूर्य उदित हो गया है।' इस पर 'भानु का नाम सुनते ही कमल विकसित हो गया, भ्रमर ने फिर से मधुर गंध ग्रहण की।'[५२] आगे अन्योक्ति या समासोक्ति के द्वारा कवि प्रेम और आध्यात्मिक व्यंजना को एक साथ उपस्थित करता है—'भ्रमर यदि कमल को प्राप्त करे, तो यह उसकी बड़ी मानना और आशा है। भ्रमर अपने को उत्सर्ग करता है, और कमल हँसकर सुगंध दान देता है।'[५३] इसमें भ्रमर और कमल के आश्रय से एक ओर पद्मावती और रतनसेन का और दूसरी ओर साधक तथा उसकी प्रेमिका का उल्लेख है।

---

५१ ग्रंथा०; जायसी०: पद०, ४ मानसरोवर-खंड, दो० २

५२ वही: वही, २४ गंधर्वसेन-मंत्री-खंड, दो० १२

५३ वही; वही: २७ पद्मावती-रतनसेन-भेंट-खंड, दो १६

इसी प्रकार के प्रयोग उसमान भी स्थान स्थान करते हैं—'ससि समीप कुमुदिन मुँह खोला' या इसी खंड के आगे सखियों का फुलवारी के रूप में कवि वर्णन करता है—

"खेलत सब निसरीं जेहि ओरी। होत बसंत आव तेहि ओरी।
मधुकर फिरहिं पुहुप जनु फूले। देवता देखि रूप सब भूले।"[५४]

इसी प्रकार एक भाव-स्थिति का रूप प्रकृति उपमानों के आश्रय से उपस्थित किया गया है—

"सुनि कै कौंल विकल होइ गई। मानहुँ साँझ उदय ससि भई।
मधुकर भँवे कंज व रागा। कंजक मन सूरज सौं लागा।"[५५]

इसमें प्रेम की व्यंजना के माध्यम से आध्यात्मिक सीमा का संकेत है।

§ ८—प्रेमी कवियों की व्यापक प्रवृत्ति है कि वे अपने आलंकारिक प्रयोगों में प्रकृति उपमानों की योजना से प्रेम, सत्य आदि के आध्यात्मिक संकेत देते हैं। इनकी विस्तार में विवेचना करना न संभव है और न आवश्यक ही। इन उपमानों के माध्यम से रूपक, रूपकातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा समासोक्ति तथा अन्योक्ति आदि में प्रेम यौवन आदि की व्यंजना की गई है। जायसी प्रेम की तीव्रता का उल्लेख करते हैं—

प्रकृति उपमानों से व्यंजना

"बरन सीस धर धरती, हिया सो पेम समुंद।
नैन कौड़िया होइ रहे, लेइ लेइ उठहि सो बुंद॥"[५६]

फिर अन्यत्र इसी प्रेम को सरोवर, कमल, सूर्य, आदि की कल्पना में व्यंजित करते हैं। इसमें लुप्तोपमा के द्वारा जो रूपकातिशयोक्ति

५४ चित्रा०; उस० : चित्रावली-नगरन-खंड, दो० ११७
५५ वही; वही: २७ मोहित-खंड, दो० ३८६
५६ पद्मा०; जा०ग्रं०: ५२०, १३ राजा-गजपति-संवाद, दो० ४

उपस्थित की गई है, उससे व्यंजना का सौन्दर्य्य बढ़ गया है।[५७] प्रेम की आध्यात्मिक स्थिति, यौवन की विकलता को कवि ने समुद्र की गम्भीरता के माध्यम से व्यक्त किया है।[५८] इस प्रकार की प्रेम और विरह आदि संबन्धी व्यंजनाएँ लगभग सभी कवियों ने प्रकृति उपमानों के माध्यम से की है। उसमान प्रेम की व्याकुलता को सूर्य्य कमल और भ्रमर के माध्यम से व्यक्त करते हैं—

"सोई सविता बाहरें, रहेउ कौल कुम्हिलाइ।
भोर भौंर तन प्रान भा, निकसै कहँ अकुलाइ॥"

और विरह की व्यापकता को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

"विरह समुद्र अथाह देखावा। औधि तीर कहुँ दिष्टि न आवा।
सुरति समिरन लहर लेई। बूड़त कोऊ न धीरज देई।"[५९]

नूर माहम्मद ने कमल के प्रतीकार्थ से स्वप्न मे आध्यात्मिक प्रेम की व्यजना की है—

'कमल एक लागा जल माही। आधा त्रिकुसा आधा नाही।
मधुकर एक आइ रस लीन्हा। लै रसवास गवन पुनि कीन्हा।"[६०]

इन कवियों के आलंकारिक प्रयोग कमल, सूर्य्य, भ्रमर, चातक चकोर, चद्रमा, सागर, सरोवर तथा आकाश आदि को लेकर व्यंजक हो उठते हैं। समासोक्ति के द्वारा 'नल दमन काव्य' मे मिलन को व्यक्त

---

५७ वही; वही; १६ सिंहलद्वीप-वर्णन-खड, दो० २—

'गगन सरोवर ससि-कँवल, कुमुद-तराइन्ह पास।
तू रवि ऊआ भौंर होइ, पौन मिला लेइ बास॥"

५८ वही; वही; १८ पद्मावती-वियोग-खंड, दो० ६—

'परिउँ अथाह, धाय? हौं जोबन-उदधि गंभीर।
तेहि चितवौ चारिहु दिसि, जो गहि लावै तीर॥"

५९ चित्रा०; उस०: ४० हंस-खंड, दो० ५४६

६० इन्द्रा०; नूर०: ५ फाग-खंड, दो० २१

किया गया है,—

"मिला कँवल मधुकर कर जोरा। सेज सरोवर लीन्ह हिलोरा।
भँवर समाइ कँवल महँ रहे। कँवल सो सिमिट भँवर कहँ गहे।"[६१]

§ ९—साधना संबन्धी सत्यों के अतिरिक्त प्रेमी साधकों ने जीवन और जगत के सत्यों का उल्लेख भी इसी प्रकार प्रकृति उपमानों की योजना से किया है। इन्होंने साधना के मार्ग की कठिनाइयों का जो वर्णन किया है उसका उल्लेख अन्य प्रकरण में किया जायगा। यहाँ जीवन और सर्जन में दिखाई देनेवाली क्षणिका, परिवर्तनशीलता आदि को व्यक्त करनेवाले प्रसंगों को देखना है। प्रकृति संबन्धी इन दृष्टान्तों, रूपकों और समासोक्तियों में भी व्यंजना आध्यात्मिक जीवन के प्रति ही की गई है। जीवन और उसके सम्बन्धों के विषय में उसमान कहते हैं—'संसार के लोग और कर्म के सम्बन्ध—जिस प्रकार दिन बीतने पर अँधेरा छा जाता है; पक्षी वृक्षों पर आकर बसेरा लेते हैं। फिर दिन होने पर सूर्य प्रकाशित होता है, नेत्र कमल फिर विकसित हो जाते हैं। रवि के प्रसाद से मार्ग सूझ जाता है, रात्रि का अंधकार मिट जाता है।—पक्षी वृक्ष की डाल छोड़कर जहाँ से आए थे चले जाते हैं।'[६२] इसमें प्रकृति के दृष्टान्त से परिवर्तन और क्षणिकता तथा पुनरागमन का संकेत किया गया है। सांसारिक प्रेम की क्षणिकता की ओर संकेत करता हुआ कवि लिखता है,—

"ना सो फूल न सो फुलवारी। दिस्टि परी सब बारी।
ना [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] नाग [illegible] की [illegible]।"[६३]

कहीं, कहा गया है कि नूर मोहम्मद ने उपदेशात्मक प्रवृत्ति

---

६१ [illegible] पृ० १०१

६२ चि०; उस०; १४ बसेरा खंड पृ० २१८

६३ नूर; [illegible] २१ [illegible], पृ० १४

अधिक है; इसी लिए साधना विषयक उपदेशों में प्रकृति का आश्रय भी उन्होंने अधिक लिया है। प्रकृति के व्यापक विस्तार से कवि क्षणिकता और परिवर्तन का स्वरूप उपस्थित करता है—'तुम नरमी हो, चिन्ता कुछ नहीं है। यह तो नियम है...अंत में रंगमय पुष्प कुम्हला ही जाते हैं। फूल पहले दिन सुन्दर लगता है, दूसरे दिन उसका रंग फीका हो जाता है। पूर्ण चन्द्रमा जो इतना सुन्दर है—दिन दिन घटता है। हे सुभगे ! और सब वृक्षों की ओर देखो—पत्ते लगते हैं और झरते भी हैं, जो वृक्ष की शाखा हरी भरी है, उसमें पतझर होने वाला ही है।'[६४] प्रकृति के माध्यम से कवि ने सांसारिक यौवन की क्षणिकता का उल्लेख किया है। 'फुलवारी-खण्ड' में प्रकृति-व्यापारों के द्वारा कवि पात्र के मुख से व्यंजना कराता है—'धन्य है मधुकर और धन्य है पुष्प, जिस पर उसका मन भूला रहता है। संसार में भ्रमर और पुष्प का प्रेम सराहनीय है। भ्रमर को पुष्प की चिन्ता है; और पुष्प अपनी गंध तथा अपने रस का समर्पण उसे करता है।'[६५] यहाँ प्रेम की आध्यात्मिक स्थिरता का उल्लेख किया गया है। एक स्थल पर क्षणिक और नश्वर सृष्टि के माध्यम से सृष्टा का संकेत भी दिया गया है।

"यह जग है फुलवारी, माली सिरजन हार।
एक एक सों सुन्दर, लावत ताहि मझार॥
जीरन यह जगती हम पाई। नितु एक आवै नितु एक जाई।
केतिक वरन के फूलन फूले। केतिक की लालस मन भूले।"[६६]

इस प्रकार प्रकृति उपमानों का यह आलंकारिक प्रयोग साधना के मार्ग को परिष्कृत और स्पष्ट करने के लिए हुआ है।

---

६४ इन्द्रा०; नूर०: ५ फ.ग-खंड दो० १४

६५ वही; वही: ७ फुलवारी-खंड, दो० ५

६६ वही; वही: ७ फुलवारी-खंड, दो० २५

और अन्य जीव अपूर्ण रूप से व्यक्ति है। व्यक्तित्व प्राप्त होने से उसमें पूर्ण गुणों की कल्पना भी सन्निहित है; जब कि जीव उन्हीं गुणों की पूर्णता प्राप्त करने में प्रयत्नशील है। वस्तुतः जैसा तीसरे प्रकरण के प्रारम्भ में कहा गया है यह ब्रह्म के व्यक्तित्व के विकास का सामाजिक क्षेत्र है। इस व्यक्तित्व के सामाजिक गुणों शक्ति, ज्ञान और प्रेम के अतिरिक्त भगवान् के व्यक्तित्व में अवतारवाद के साथ ही रूपात्मक गुणों की कल्पना भी सन्निहित है। जब ब्रह्म भगवान् के रूप में साधना का आश्रय होता है, उस समय सामाजिक भावों के रूप में उस व्यक्तित्व से संबन्ध स्थापित किया जाता है। परन्तु इन भावों के लिए आलंबन का रूप भी आवश्यक है। और इस रूप की कल्पना प्रकृति के सौन्दर्य्य के माध्यम से कवि करता है। प्रकृति के नाना रूपों से ही मानवीय सौन्दर्य्य-रूपों की स्थिति है; और रूप की सौन्दर्य्य योजना में भक्त कवि फिर इन्हीं रूपों का आश्रय लेता है।[२] दार्शनिक दृष्टि से प्रकृति ईश्वर का निवास स्थान या शरीर मानी गई है। सगुण भक्ति के दास्य-भाव और माधुर्य्य-भाव का आश्रय भगवान् का जो व्यक्तित्व है, उसमें अपनी अपनी सीमाओं के अनुसार चरित्र और रूप का आश्रय लिया गया है। हिन्दी सगुण-भक्त कवियों ने प्रेम-भक्ति का आश्रय लिया है और यही कारण है कि उनके काव्य में भगवान् के रूप-सौन्दर्य्य की स्थापना प्रमुखतः मिलती है।

§ २—रूप-सौन्दर्य्य में प्रकृति-रूपों की योजना पर विचार करने के पूर्व, प्रकृतिवादी सौन्दर्य्योपासना और सगुणवादी रूपोपासना के संबन्ध को समझ लेना आवश्यक है। हम कह आए हैं, भारतीय भक्ति-युग के साहित्य में भगवान् की प्रत्यक्ष भावना के कारण प्रकृति-वाद को स्थान नहीं मिल सका। वैदिक प्रकृतिवाद के बाद साहित्य

---

२ प्रथम भाग के चतुर्थ प्रकरण में सौन्दर्य्यानुभूति और प्रकृति पर विचार किया गया है।

में उसकी स्थापना नहीं हो सकी। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रकृति का सौन्दर्य-भाव आध्यात्मिक साधना का विषय नहीं बन सका। आगे की विवेचना में हम देखेंगे, प्रकृति का राशि राशि विकीर्ण सौन्दर्य भक्तों की भावना का आलंबन हुआ है। पर यह समस्त सौन्दर्य उनके आराध्य के रूप निर्माण को लेकर ही है। पीछे के प्रकरणों में प्रकृति की रूप-योजना का आध्यात्मिक रूप देखा गया है। पर उन साधकों में अपने उपास्य के आकार का आग्रह नहीं था। इस कारण उनकी सौन्दर्य-योजना में प्रकृति का रूप अरूप तथा अतिप्राकृत की ओर अधिक झुका हुआ है। लेकिन सगुण भक्तों की रूप साधना में प्रकृति के सौन्दर्य का मूर्त रूप भी प्रत्यक्ष होकर सामने आया है। फिर भी प्रकृतिवादी तथा वैष्णव सौन्दर्योपासना में एक प्रकार की अनुरूपता मिलती है, जो समानान्तर होकर भी प्रतिकूल दिशा में चलती है। प्रकृतिवादी कवि प्रकृति के फैले हुए सौन्दर्य के प्रति सचेष्ट और आकर्षित होकर उसकी क्रियाशीलता पर मुग्ध होता है। उसके माध्यम से किसी अज्ञात सत्ता की ओर वह अग्रसर होकर उसकी अनुभूति प्राप्त करता है। वैष्णव भक्त के लिए वही अज्ञात ज्ञात है, परिचित है। उसका साक्षात् रूप है। वह अपने आराध्य के व्यक्तित्व-आकार में जिस सौन्दर्य का प्रत्यक्ष दर्शन पाता है उसमें प्रकृति का सारा सौन्दर्य अपने आप

प्रकृतिवादी सौन्दर्योपासना और सगुणवादी रूपोपासना

आन्तरिक आनन्द का कारण बन जाता है।[3] इसी के विपरीत वैष्णव भक्त-कवि अपने आराध्य की प्रत्यक्ष सौन्दर्य भावना से ऐसा सम स्थापित करता है कि उस क्षण प्रकृति भी आनन्द भावना से उल्लसित हो उठती है।

§ ३—सगुणात्मक भक्ति रूप की साधना है, उसमें भगवान् के व्यक्तित्व की स्थापना है। और व्यक्तित्व अपने मानवीय स्तर पर रूप को लेकर ही स्थिर है। वैष्णव कवि अपने आराध्य के व्यक्तित्व को स्थापित करके चलता है और इस व्यक्तित्व का आलंबन रूप है, जो भावात्मक साधना में सौन्दर्य का ही अर्थ रखता है। इनमें दो प्रकार के भक्त व्यापक रूप से कहे जा सकते हैं। रूप-सौन्दर्य की भावना और स्थापना सभी कवियों में पाई जाती है। परन्तु अपनी भक्ति के अनुरूप दास्य-भाव की साधना करने वाले कवियों ने रूप के साथ भगवान् की शक्ति और उनके शील का समन्वय किया है। तुलसी और सूर के विनय के पदों से यह प्रत्यक्ष है। अपने आराध्य के रूप के साथ, तुलसी के सामने उनका शील, उनकी शक्ति भी है—'संसार के भयानक भय को दूर करने वाले कृपालु भगवान् रामचन्द्र को हे मन भजन कर! वे कितने सुन्दर हैं, कमल के समान लोचन हैं, कमल के समान मुख है, हाथ भी कमल के समान हैं और उनके पैर भी लाल कमल

रूप में शील और शक्ति

---

३ हिन्दू मिस्टिसिज़्म; महेन्द्रनाथ सरकार: प्रक० २—'फ़ेज़ ऑव इमीडियेट इक्सपीरयन्स' पृ० ७—

"ऐसा प्रकृति का सप्राण अध्यात्म-दृश्य (visian) रहस्यात्मक चेतना को स्पर्श करता है—जो लौकिक चेतना से भिन्न है। यह प्रकृतिवादी रहस्यवाद कहा जा सकता है और काव्यात्मक सौन्दर्य तथा माधुर्य के समान है। द्रष्टा सचेतन सप्राण प्रकृति को सत्य के दर्पण के समान अनुभव करता है। प्रकृति चेतन-शक्ति से स्थानान्तरित न होकर उसी से आपूरित हो जाती है।"

के समान हैं। उस नील नीरद के समान शरीर वाले की शोभा तो अनेक कामदेवों से भी अधिक है। जानकीनाथ के शरीर पर पीतांबर तो मानों विद्युति छटा वाला है। ऐसे सौन्दर्य्य मूर्त्ति, सूर्य्य-वंश में श्रेष्ठ, दानव तथा दैत्यों के वंश को नष्ट करने वाले शक्तिमान को, हे मन भज।'[४] इस पद में तुलसी ने सौन्दर्य्य की कल्पना के साथ शक्ति का समन्वय भी किया है। 'विनय-पत्रिका' में राम के शील, उनकी करुणा आदि का अधिक उल्लेख है; रूप तो कहीं कहीं झलक भर जाता है। इसी प्रकार सूर के विनय संबन्धी पदों में भी रूप से अधिक भगवान् की करुणा, उदारता, शक्ति और शील की बात कही गई है। सूर विनय के प्रसंग में भगवान् के चरित्र का ही उल्लेख करते हैं—

"प्रभु को देखौ एक सुभाई।
अति गंभीर उदार उदधि हरि जान सिरोमणि राई।
तिनको सो अपने जनको गुण मानत मेरु समान।
सकुचि समुद्र गनत अपराधहि बूंद समान भगवान।
बदन प्रसन्न कमल ज्यों सन्मुख देखत हौं हौ जैसे।"[५]

इस पद में सूर अपने आराध्य के मुख-कमल के सौन्दर्य को प्रसन्न सम्मुख देखते हुए भी उनके शील पर अधिक मुग्ध हैं। इस प्रसंग में यदि रूप की कल्पना कहीं भी है तो वह शक्ति और शील का

अतिरिक्त भक्ति साधना के अन्य रूपों में भगवान् के व्यक्तित्व में सौन्दर्य्य की योजना प्रमुख है।

§४—माधुर्य्य-भाव के आलंबन रूप में भगवान् की कल्पना सौन्दर्य्यमयी होना स्वाभाविक है। यह सौन्दर्य्य कल्पना प्रकृति में अपना रूप भरती है। प्रकृति के अनंत रंग-रूप, उसकी सहस्र सहस्र स्थितियाँ उपमानों की आलंकारिक योजना में रूप को सौन्दर्य्य दान करती हैं। सौन्दर्य्य-चित्रण में प्रयुक्त उपमानों की विवेचना अलंकारों के अन्तर्गत की जा सकती है। परन्तु आध्यात्मिक सौन्दर्य्य की इस कल्पना में भगवान् का रूप केवल अलंकार का विषय न होकर साधना का आलंबन है। भक्त कवि अपने आराध्य के रूप को अनेक अवस्था, स्थिति तथा परिस्थितियों में रखकर देखता है और उस चिर नवीन रूप की अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से करता है। वह उस सौन्दर्य्य को व्यक्त करके भी व्यक्त नहीं कर पाता और स्वयं मुग्ध-मौन हो उठता है। मध्ययुग के उत्तर रीति-काल में सौन्दर्य्य कल्पना का आलंबन तो यही रहा, पर साधक का मुग्ध भाव नहीं मिलता। भक्त कवियों ने कृष्ण के रूप का वर्णन विभिन्न अवस्थाओं और स्थितियों में किया है। साथ ही उनके रूप-सौन्दर्य्य को विभिन्न छायातपों में भी उपस्थित किया गया है। सूर रूप-सौन्दर्य्य के वर्णन में अद्वितीय हैं। एक ही स्थिति को अनेक प्रकाशों से उद्भासित करने की प्रतिभा सूर में ही है। तुलसीदास ने 'गीतावली' में इसी शैली को एक सीमा तक अपनाया है।

रूप-सौन्दर्य्य

क—संतों और प्रेमी-साधकों के विषय में कहा गया है कि उनके सामने जो रूप था उसमें आकार की सीमाएँ नहीं हैं। परन्तु भक्त कवियों के रूप में आकार सन्निहित है। उनके सामने सौन्दर्य्य की प्रत्यक्ष कल्पना है जिसमें रूप के साथ आकार की सीमाएँ भी हैं। साथ ही यह भी समझ लेना आवश्यक है कि इस रूप में व्यक्तित्व का आरोप नहीं

रूप में आकार और व्यक्तित्व

है और उसके आकार में सीमाओं का बन्धन भी नहीं है। सौन्दर्य की अनन्त और अलौकिक भावना में रूप खोकर अरूप हो जाता है और उसके सप्राण-सचेतन आकार में सीमा से असीम की ओर प्रसरित होकर मिट जाने की संभावना बनी रहती है। सूरदास के लिए आराध्य के स्थिर-सौन्दर्य पर रुकना कठिन है, यही कारण है कि उनके चित्रों में चेतन, अनन्त और अलौकिक सौन्दर्य की ओर क्रमशः बढ़ने की प्रवृत्ति है। सीमा के अनुसार भक्त कवियों की रूपोपासना के विषय में यही कहा जा सकता है। रीति काल के कवियों में वस्तु रूप स्थिर-सौन्दर्य को अलौकिक या चमत्कृत भावना में परिणत करने की प्रकृति पाई जाती है। साथ ही इस काल की अलौकिक भावना चमत्कार से संबन्धित है। तुलसी अवश्य अपने आराध्य के स्थिर-सौन्दर्य पर रुकते हैं, क्योंकि उन्हें रूपाकार के साथ शील तथा शौर्य का समन्वय भी करना था। लेकिन इनके सौन्दर्य में भी अनन्त की भावना साथ चलती है। तुलसी ने 'राम-चरित-मानस' में राम के रूप और आकार के साथ व्यक्तित्व जोड़ने का प्रयास किया है। 'राम-चरित-मानस' प्रबन्ध काव्य है और नायक के रूप में राम के रूपाकार में व्यक्तित्व का संकेत देना कवि के लिए अवश्यक हो उठा है। फिर भी कवि ने इन वर्णनों में अनन्त सौन्दर्य के संकेत सन्निहित कर दिए हैं। राम के नख-शिख का समस्त रूपाकार अपने व्यक्तित्व के साथ भी सौन्दर्य को सीमाएँ नहीं दे सका...वह उसे पाने के प्रयास में अलौकिक और अनन्त होकर अरूप ही रहा। तुलसी प्रसिद्ध प्रकृति-उपमानों में राम के रूप की कल्पना करते हैं—

"काम कोटि छवि स्याम सरीरा। नील कंज बारिद गंभीरा।
अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती॥"

परन्तु इस सौन्दर्य के वर्णन में रंग-रूपों के आधार पर कुछ चित्र उपस्थित करने से अधिक कवि का ध्यान कभी 'नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहा' कभी 'विप्र चरन देखत मन लोभा' और कभी 'अति

प्रिय मधुर तोतरे बोला' पर जाता है। कवि का मन आराध्य के रूप से ऐसा उद्भासित हो रहा है कि उसको मौन होना पड़ता है—

"रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानइ सपनेहुँ जेहि देखा।"[७]

§५—वैष्णव भक्त-कवि अपने आराध्य के आकर्षक रूप-सौन्दर्य्य की स्थापना करता है, लेकिन उसके साथ ठहर नहीं पाता। प्रकृतिवादी साधक भी प्रकृति के रूपात्मक सौन्दर्य्य से आकर्षित होता है, परन्तु आगे अपनी चेतना के सम पर उसके सौन्दर्य्य को सर्वचेतनामय कर देता है। फिर भी व्यापक सौन्दर्य्य योजना में वस्तु-रूप के स्थिर खंड-चित्र आ जाते हैं और ये प्रकृति उपमानों की आलंकारिक योजना पर ही निर्भर हैं। वस्तुतः सौन्दर्य्य के प्रकृति संबन्धी स्थिर उपमानों को ये वैष्णव कवि अपनी साधना में इस प्रकार मिला चुके हैं कि उनके बिना एक पग आगे चलते ही नहीं। इन कवियों में ये उपमा और रूपक बिना प्रयास के आते जाते हैं और इनके प्रयोगों को हम रूढ़ि-रूप या फ़ार्मल कह सकते हैं। लेकिन इन भक्तों के साथ ये सजीव हैं। इनकी रूप साधना के साथ एकाकार होकर ये सजीव ही नहीं वरन अमृत-प्राण हो चुके हैं। वैष्णव भक्त कवि कमल-मुख, कमल-नयन, कमल पद सहज भाव से कहता जाता है। परन्तु इन रूपक और उपमाओं के अतिरिक्त कवि कभी कभी स्थिति आदि को लेकर वस्तूत्प्रेक्षा आदि के द्वारा स्थिर-सौन्दर्य्य की कल्पना कर लेता है। ये रूप की स्थितियाँ सारे भक्ति-काव्य में व्यापक रूप से फैली हैं और

वस्तु-रूप स्थिर सौन्दर्य्य

---

७ रामचरितमानस; तुलसी: बाल०, दो० १९९। तुलसी के इन रूप-वर्णनों में वर्णन-स्थिति का दृष्टिबिन्दु विशेष महत्त्व रखता है। उन्होंने जिस दृष्टि से अथवा जिस वस्तु-स्थिति के अनुसार राम के रूप का वर्णन किया है, वहीं से उसको प्रारम्भ भी किया है (पुर-गमन, बा० दो० २१९; उपवन-प्रसंग, बा० दो० २३३)।

इनमें अधिकांश अनन्त-सौन्दर्य्य की भावना में डूब में जाती हैं। सूर के चित्र में बालकृष्ण की लट केन्द्र में है—

"लट लटकनि मोहन मिस बिंदुक तिलका भाल सुखकारी।
मनहुँ कमल अलिशावक पंगति उठति मधुप छवि भारी।

फिर केन्द्र में छोटे दाँतों की चमक आ जाती है—

"अल्प दसन कलबल करि बोलनि विधि नहिं परत विचारी।
निकसत ज्योति अधरनि के बिच ह्वै विधु में बाजु उज्यारी॥"[८]

इसी प्रकार यमुना तट पर खड़े होकर व्रजनारियों के विहार को देख रहे कृष्ण के सौन्दर्य्य के विषय में सूर कल्पना करते हैं—'मोर मुकुट को धारण किए हुए हैं; कानों में मणि-कुंडल और वक्ष पर कमलों-की माला सुशोभित है, ऐसे सुन्दर सलोने श्याम के शरीर पर नवीन बादलों के बीच में बगलों की पंक्ति सुशोभित है। वक्षस्थल पर अनेक लाल पीले श्वेत रंग की वनमाला शोभित है, लगता है मानों देवसरि के किनारे नाना रंग के तोते डर छोड़कर बैठे हैं। पीतांवर युक्त कटि पर इस प्रकार क्षुद्रघंटिका बज रही है, मानों स्वर्ण-सरि के निकट सुन्दर मराल बोलते हैं।'[९] तुलसीदास गीतावली में राम के सौन्दर्य्य की कल्पना इस प्रकार अधिक करते हैं, क्योंकि उनके राम में कृष्ण जैसी क्रीड़ात्मकता नहीं है। इस स्थिति में कृष्ण के सचेतन गतिशील सौन्दर्य्य के समक्ष तुलसी राम का ऐश्वर्यशील सौन्दर्य्य उपस्थित कर सके हैं। इसका कारण है। तुलसी की दास्य-भक्ति ऐश्वर्य्य की रूप साधना है, जबकि कृष्ण-भक्त कवियों की साधना में लीलामय सौन्दर्य्य का माहात्म्य है। तुलसी राम के रंग के विषय में प्रकृति-उपमानों की योजना करते हैं—'कामदेव, मोर की चन्द्रिकाओं की आभा के सौन्दर्य्य का भी राम के शरीर की ज्योति निरादर करती

---

८ सूरसागर : दश० स्क०, पद १४०

९ वही० : दश० स्क०, पद १२१३

मध्य तक जाकर भयभीत हो झुक गई है और उससे लावण्य चारों ओर विकसित हो. रहा है।...विचित्र हेममय यज्ञोपवीत और मुक्ता की वक्ष-माल तो मुझे बहुत भाती है, मानो बिजली के मध्य में इन्द्र-धनुष और बलाकों की पंक्ति आ गई है। शंख के समान कंठ है, चिबुक और अधर सुन्दर हैं और दाँतों की सुन्दरता को क्या कहा जाय, मानों वज्र अपने साथ विद्युत और सूर्य की आभा को लेकर पद्मकोष में बसा है। नासिका सुन्दर है और केशों ने तो अनुपम शोभा धारण की है, मानों दोनों ओर भ्रमरों से घिरकर कमल कुछ हृदय से भयभीत हो उठा है।'[१२] इस वस्तु-रूप की स्थिर कल्पना में, कवि ने प्रौढ़ोक्ति के द्वारा जो प्रकृति-उपमानों की योजना की गई है वह स्वयं सौन्दर्य्य को अलौकिक की ओर ले जाती है। और यह राम के ऐश्वर्य सौन्दर्य के अनुरूप भी है। तुलसी के सौन्दर्य्य चित्र अधिकतर ऐसे ही हैं।[१३] कृष्ण-गीतावली में कृष्ण का रूप-वर्णन कम है, पर जो चित्र हैं उनमें ऐश्वर्य के स्थान पर गतिशील चेतना अधिक है। तुलसी कृष्ण की उनींदी आँखों का चित्र उपस्थित करते हैं—

"आजु उनींदे आए मुरारि।
आलसवंत सुभग लोचन सखि छिन मूँदत छिन देत उघारि॥
मनहुँ इंदु पर खञ्जरीट दोउ कछुक अरुन विधि रचे सँवारी।

यहाँ तक वस्तूत्प्रेक्षा में स्थिर रूप की कल्पना है; पर आगे—

---

१२ वहीं; वही : बा० पद १०६

१३ तुलसी के इस प्रकार के कुछ चित्र बालकाण्ड के अन्तिम पदों में अधिक विस्तृत हैं। उत्तर-काण्ड में भी इस प्रकार के पद हैं। पद २ (भोर जान की जीवन जागे) से आरम्भ होकर पद १६ (देखो रघुपति-छवि अतुलित अति) तक इसी प्रकार सौन्दर्य्य के वस्तु-रूप खंड-चित्र हैं। इनमें उपमानों की प्रौढ़ोक्ति संबन्धी योजना से ऐश्वर्य्य और शीलयुक्त रूप उपस्थित किया गया है जिसमें अलौकिक भावना भी है।

"कुटिल अलक जनु मार फंद कर गहे सजग ह्वै रह्यो सँभारी।
मनहुँ उड़न चाहत अति चंचल पलक पंख छिन देत पसारी॥"[१४]

इस चित्र में स्फुरणशील गति का भाव सन्निहित है। राम-भक्ति परम्परा में तुलसी के आगे कोई महत्त्वपूर्ण कवि नहीं हुआ है और कृष्ण भक्त कवियों में सूर को छोड़कर अन्य किसी में सौन्दर्य्य का अधिक व्यक्त आधार नहीं है। बाद के भक्त कवियों का सौन्दर्य्य मानवी रूप और उसके शृंगार में ही अधिक व्यस्त रहा है। इनमें प्रकृति के माध्यम से सौन्दर्य्य की स्थापना वैसी व्यापक नहीं मिलती। आगे हम देखेंगे कि रीति परम्परा के कवियों ने बाद के भक्त कवियों की रूप और शृंगार की भावना को चमत्कृत रूप में ग्रहण किया है।

सचेतन गतिशील सौन्दर्य्य

६—भक्त की सौन्दर्य्य भावना रूप, आकार और रंग आदि तक ही सीमित नहीं है। यह सौन्दर्य्य रूपमय होकर भी गतिमय तथा स्फुरणशील है। वस्तुरूप की स्थिरता में सौन्दर्य्य सीमित हो जाता है और कम लगने लगता है। इसी कारण भक्तों के सौन्दर्य्य का आदर्श स्थिरता से गति की ओर है। यह गति चेतना का भाव है जिसे अधिकतर कवियों ने गम्योत्प्रेक्षा के माध्यम से व्यक्त किया है। सूर के लीलामय कृष्ण के रूप में यह अधिक व्यक्त हो सका है और सूर प्रकृति-उपमानों की उत्प्रेक्षाओं से इसको प्रस्तुत करने में प्रमुख हैं। प्रकृति के क्रिया-व्यापार और उसकी गतिशील चेतना इस सौन्दर्य्य योजना का आधार है। हम प्रथम भाग में कह चुके हैं कि प्रकृति मानव-जीवन के समानान्तर है। और इसी आधार पर प्रकृतिवादी कवि प्रकृति को रूपात्मक सौन्दर्य्य के साथ सप्राण और सचेतन देखता है। तुलसी के राम लीलामय नहीं हैं, इसके परिणाम स्वरूप उनको अपने आराध्य के सौन्दर्य्य को सचेतन चित्रित करने का आग्रह नहीं है। परन्तु उनमें इन चित्रों का नितान्त अभाव

---

१४ कृ० गीता०; तुलसी : पद २१

नहीं है—'शिशु स्वभाव से राम जब अपने हाथों से पैर को पकड़कर मुँह के निकट ले आते हैं, तो लगता है मानों दो सुन्दर सर्प शशि से कमलों में सुधा ग्रहण करते हुए सुशोभित हैं। वे ऊपर खेलौना देख किलकी भरते हैं और बार बार हाथ फैलाते हैं मानों दोनों कमल चंद्रमा के भय से अत्यंत दीन होकर सूर्य्य से प्रार्थना करते हैं।''[१५] इन रूप चित्रों में स्थिति के साथ गति की व्यंजना भी है। सूर इस प्रकार की व्यंजना करने में अद्वितीय हैं। इन्होंने अपने लीलामय आराध्य के सौन्दर्य्य को इस प्रकार अधिक चित्रित किया है, यद्यपि उसमें अनन्त और अलौकिक होने की प्रवृत्ति है। कृष्ण की लीला में गतिमय चेतना का भाव छिपा हुआ है, उनका चित्र इसीसे स्फुरणशील हो जाता है। सूर की उर्वर कल्पना में कृष्ण का रूप-सौन्दर्य्य, चाहे बाल-क्रीड़ा के समय का हो, या गोपी-लीला के समय का हो, या गोचारण के बाद का हो अथवा रास के समय का हो, प्रत्येक स्थिति में एक गति और क्रिया की भावना से युक्त हो जाता है। इस रूप की उद्भावना के लिए सूर प्रकृति-उपमानों की योजना को स्वतःसम्भावी अथवा प्रौढ़ोक्ति संभव आधार ग्रहण करते हैं और चित्र को गति तथा सप्राण भावना से सजीव कर देते हैं। अन्य कृष्ण-भक्त कवियों में यह कौशल कम है। बाद के कवियों में यत्र-तत्र सूर का अनुकरण मिल जाता है। गदाधर कल्पना करते हैं—

> ''मोहन वदन की शोभा।
> जाहि निरखत उठत मन आनंद की गोभा।
> भौंह सोहन कहा कहूँ छवि भाल कुंकुम बिंदु।
> स्याम बादर रेख पय मानों अबही उदयों इंदु।
> ललित लोल कपोल कुडल मानों मकराकार।
> युगल शशि सौदामिनी मानो नाचत नट चटसार।''[१६]

---

१५ गीता०; तुलसी: बा०, ९८ २०। तुलनीय सूर के पद १४३ स्कं० दश

१६ कीर्तनसंग्रह (भा० ३ ...) ...

इसमें बादर की रेखा पर उदित चन्द्रमा स्थिर-सौन्दर्य का रूप है और सौदामिनी की चटसार में शशि का नृत्य गतिशीलता का भाव देता है। परन्तु सूर में ऐसे चित्रों का व्यापक विस्तार है। बाललीला के क्रीड़ाशील रूप चित्रण में अनेक सौन्दर्य्य चित्र हैं—'नीलवर्ण कृष्ण को जब जननी पीले वस्त्र से अच्छादित करती है तो एक अद्भुत चित्र की कल्पना उठती है, मानों तड़ित अपने चंचल स्वभाव को छोड़कर नील बादलों पर नक्षत्र-माला की शोभा देखती है।'[१७] इस प्रकृति की प्रौढ़ोक्ति सभव कल्पना में गतिमय सौन्दर्य का अद्भुत भाव है। कामदेवों के समूह की छाई हुई छवि के माध्यम से कवि अलौकिक भावना का संकेत देता है। —'माई री' सुन्दरता के सागर को तो देखो! बुद्धि विवेक तो उसका पार ही नहीं पाता; और चतुर मन आकाश के समान प्रशस्त आश्चर्य-चकित फैल जाता है। वह शरीर अत्यंत गम्भीर नील सागर है और कटिपट, पीली उठती हुई तरंगें हैं। वे जब इधर-उधर देखते हुए चलते हैं तो सौन्दर्य अधिक बढ़ जाता है...समस्त अंग में भँवर पड़ जाते हैं और उसमें नेत्र ही मीन हैं, कुंडल ही मकर हैं और सुन्दर भुजाएँ ही भुजंग हैं।'[१८] इस रूपक में वस्तु-स्थितियों के द्वारा प्रकृति-रूप सौन्दर्य की गतिशील व्यंजना कवि करता है, सागर अपने सौन्दर्य-भाव के साथ तरंगित हो उठता है। सौन्दर्य के इस रूप को जैसे कवि बार बार संबोधित कर उठता है—'देखो, यह शोभा तो देखो। यह कुंडल कैसा झलक रहा है, देखो तो सही। यह सौन्दर्य कोई नेत्रों से देखेगा वैसे पलक तो लगती नहीं। सुन्दर सुन्दर कपोल और उसमें नेत्र हैं इस प्रकार चार कमल हैं। मानों सुख रूपी सुधा सरोवर में मकर के

---

१७ सूरसा०; दश० पृ० १४३—'आँगन चलत घुटुरुवन धाय।'

१८ वही; वही, पद ७२४

नहीं है—'शिशु स्वभाव से राम जब अपने हाथों से पैर को पकड़कर मुँह के निकट ले आते हैं, तो लगता है मानों दो सुन्दर सर्प शशि से कमलों में सुधा ग्रहण करते हुए सुशोभित हैं। वे ऊपर खेलौना देख किलकी भरते हैं और बार बार हाथ फैलाते हैं मानों दोनों कमल चंद्रमा के भय से अत्यंत दीन होकर सूर्य्य से प्रार्थना करते हैं।''[१५] इन रूप चित्रों में स्थिति के साथ गति की व्यंजना भी है। सूर इस प्रकार की व्यंजना करने में अद्वितीय हैं। इन्होंने अपने लीलामय आराध्य के सौन्दर्य्य को इस प्रकार अधिक चित्रित किया है, यद्यपि उसमें अनन्त और अलौकिक होने की प्रवृत्ति है। कृष्ण की लीला में गतिमय चेतना का भाव छिपा हुआ है, उनका चित्र इसीसे स्फुरणशील हो जाता है। सूर की उर्वर कल्पना में कृष्ण का रूप-सौन्दर्य्य, चाहे बाल-क्रीड़ा के समय का हो, या गोपी-लीला के समय का हो, या गोचारण के बाद का हो अथवा रास के समय का हो, प्रत्येक स्थिति में एक गति और क्रिया की भावना से युक्त हो जाता है। इस रूप की उद्भावना के लिए सूर प्रकृति-उपमानों की योजना को स्वतःसम्भावी अथवा प्रौढ़ोक्ति संभव आधार ग्रहण करते हैं और चित्र को गति तथा सप्राण भावना से सजीव कर देते हैं। अन्य कृष्ण-भक्त कवियों में यह कौशल कम है। बाद के कवियों में यत्र-तत्र सूर का अनुकरण मिल जाता है। गदाधर कल्पना करते हैं—

> "मोहन वदन की शोभा।
> जाहि निरखत उठत मन आनंद की गोभा।
> ओहि सोहन कहा कहूँ छवि भाल कुंकुम बिंदु।
> स्याम बादर रेख पय मानों अबही उदयों इंदु।
> ललित लोल कपोल कुंडल मानों मकराकार।
> युगल शशि सौदामिनी मानो नाचत नट चटसार।''[१६]

---

१५ गीता०; तुलसी: बा०, पद २०। तुलनीय सूर के पद १४३ स्कं० दश

१६ कीर्तनसंग्रह (भाग ३ उत्त०); पृ० १९

इसमें बादर की रेखा पर उदित चन्द्रमा स्थिर-सौन्दर्य्य का रूप है और सौदामिनी को चटसार में शशि का नृत्य गतिशीलता का भाव देता है। परन्तु सूर में ऐसे चित्रों का व्यापक विस्तार है। बाललीला के क्रीड़ाशील रूप चित्रण में अनेक सौन्दर्य्य चित्र हैं—'नीलवर्ण कृष्ण को जब जननी पीले वस्त्र से अच्छादित करती है तो एक अद्‌भुत चित्र की कल्पना उठती है, मानों तड़ित अपने चंचल स्वभाव को छोड़कर नील बादलों पर नक्षत्र-माला की शोभा देखती है।'[१७] इस प्रकृति की प्रौढ़ोक्ति सभव कल्पना में गतिमय सौन्दर्य्य का अद्‌भुत भाव है। कामदेवों के समूह की छाई हुई छवि के माध्यम से कवि अलौकिक भावना का संकेत देता है। —'माई री' सुन्दरता के सागर को तो देखो! बुद्धि विवेक तो उसका पार ही नहीं पाता: और चतुर मन आकाश के समान प्रशस्त आश्चर्य्य-चकित फैल जाता है। वह शरीर अत्यंत गम्भीर नील सागर है और कटिपट, पीली उठती हुई तरंगें हैं। वे जब इधर-उधर देखते हुए चलते हैं तो सौन्दर्य्य अधिक बढ़ जाता है...समस्त अंग में भँवर पड़ जाते हैं और उसमें नेत्र ही मीन है, कुंडल ही मकर हे और सुन्दर भुजाएँ ही भुजंग हैं।'[१८] इस रूपक में वस्तु-स्थितियों के द्वारा प्रकृति-रूप सौन्दर्य्य की गतिशील व्यंजना कवि करता है. सागर अपने सौन्दर्य्य-भाव के साथ तरंगित हो उठता है। सौन्दर्य्य के इस रूप को जैसे कवि बार बार संबोधित कर उठता है—'देखो, यह शोभा तो देखो। यह कुंडल कैसा झलक रहा है, देखो तो सही। यह सौन्दर्य्य कोई नेत्रों से देखेगा वैसे पलक तो लगती नहीं। सुन्दर सुन्दर कपोल और उसमें नेत्र हैं इस प्रकार चार कमल हैं। माना सुख रूपी सुधा सरोवर में मकर के

---

१७ सूरस.०; दश० पृ० १४३—'आँगन चलत घुटुरुवन ध.य।'

१८ वहीं; वहीं, पद ७२४

नहीं है—'शिशु स्वभाव से राम जब अपने हाथों से पैर को पकड़कर मुँह के निकट ले आते हैं, तो लगता है मानों दो सुन्दर सर्प शशि से कमलों में सुधा ग्रहण करते हुए सुशोभित हैं। वे ऊपर खेलौना देख किलकी भरते हैं और बार बार हाथ फैलाते हैं मानों दोनों कमल चंद्रमा के भय से अत्यंत दीन होकर सूर्य्य से प्रार्थना करते हैं।''[१५] इन रूप चित्रों में स्थिति के साथ गति की व्यंजना भी है। सूर इस प्रकार की व्यंजना करने में अद्वितीय हैं। इन्होंने अपने लीलामय आराध्य के सौन्दर्य्य को इस प्रकार अधिक चित्रित किया है, यद्यपि उसमें अनन्त और अलौकिक होने की प्रवृत्ति है। कृष्ण की लीला में गतिमय चेतना का भाव छिपा हुआ है, उनका चित्र इसीसे स्फुरणशील हो जाता है। सूर की उर्वर कल्पना में कृष्ण का रूप-सौन्दर्य्य, चाहे बाल-क्रीड़ा के समय का हो, या गोपी-लीला के समय का हो, या गोचारण के बाद का हो अथवा रास के समय का हो, प्रत्येक स्थिति में एक गति और क्रिया की भावना से युक्त हो जाता है। इस रूप की उद्भावना के लिए सूर प्रकृति-उपमानों की योजना को स्वतःसम्भावी अथवा प्रौढ़ोक्ति संभव आधार ग्रहण करते हैं और चित्र को गति तथा सप्राण भावना से सजीव कर देते हैं। अन्य कृष्ण-भक्त कवियों में यह कौशल कम है। बाद के कवियों में यत्र-तत्र सूर का अनुकरण मिल जाता है। गदाधर कल्पना करते हैं—

"मोहन वदन की शोभा।
जाहि निरखत उठत मन आनंद की गोभा।
भौंह सोहन कहा कहूँ छवि भाल कुंकुम बिंदु।
स्याम बादर रेख पय मानों अबही उदयों इंदु।
ललित लोल कपोल कुंडल मानों मकराकार।
युगल शशि सौदामिनी मानो नाचत नट चटसार।"[१६]

---

१५ गीता०; तुलसी: बा०, पद २०। तुलनीय सूर के पद १४२ स्कं० दश

१६ कीर्तनसंग्रह (भा.ग ३ उत्त०); पृ० १९

इसमें वादर की रेखा पर उदित चन्द्रमा स्थिर-सौन्दर्य्य का रूप है और सौदामिनी की चटसार में शशि का नृत्य गतिशीलता का भाव देता है। परन्तु सूर में ऐसे चित्रों का व्यापक विस्तार है। बाललीला के क्रीड़ाशील रूप चित्रण में अनेक सौन्दर्य्य चित्र हैं—'नीलवर्ण कृष्ण को जब जननी पीले वस्त्र से अच्छादित करती है तो एक अद्भुत चित्र की कल्पना उठती है, मानों तड़ित अपने चंचल स्वभाव को छोड़कर नील बादलों पर नक्षत्र-माला की शोभा देखती है।'[१७] इस प्रकृति की प्रौढ़ोक्ति सम्भव कल्पना में गतिमय सौन्दर्य्य का अद्भुत भाव है। कामदेवों के समूह की छाई हुई छवि के माध्यम से कवि अलौकिक भावना का संकेत देता है। —'माई री' सुन्दरता के सागर को तो देखो! बुद्धि विवेक तो उसका पार ही नहीं पाता; और चतुर मन आकाश के समान प्रशस्त आश्चर्य्य-चकित फैल जाता है। वह शरीर अत्यंत गम्भीर नील सागर है और कटिपट, पीली उठती हुई तरंगें हैं। वे जब इधर-उधर देखते हुए चलते हैं तो सौन्दर्य्य अधिक बढ़ जाता है...समस्त अंग में भँवर पड़ जाते हैं और उसमें नेत्र ही मीन हैं, कुंडल ही मकर हैं और सुन्दर भुजाएँ ही भुजंग हैं।'[१८] इस रूपक में वस्तु-स्थितियों के द्वारा प्रकृति-रूप सौन्दर्य्य की गतिशील व्यंजना कवि करता है, सागर अपने सौन्दर्य्य-भाव के साथ तरंगित हो उठता है। सौन्दर्य्य के इस रूप को जैसे कवि बार बार संबोधित कर उठता है—'देखो, यह शोभा तो देखो। यह कुंडल कैसा झलक रहा है, देखो तो सही। यह सौन्दर्य्य कोई नेत्रों से देखेगा कैसे पलक तो लगती नहीं। सुन्दर सुन्दर कपोल और उसमें नेत्र हैं इस प्रकार चार कमल हैं। मानों सुख रूपी सुधा सरोवर में मकर के

---

१७ सूरसा०; दश० पृ० १४३—'आँगन चलत घुटुरुवन धाय।'

१८ वही; वही, पद ७२४

साथ मीन क्रीड़ा करती है। कुटिल अलक स्वभावतः हरि के मुख पर आ गई है, मानों कामदेव ने अपने फंदों से मीनों को भयभीत किया है।'[१९] सूर फिर दूसरे कोण से कुंडल की शोभा की ओर संकेत कर उठते हैं—'देख! लोल कुंडलों को तो देखो। सुन्दर कानों में पहन रखा है और कपोलों पर उनकी झलक पड़ती है। मुख मंडल रूपी सुधा-सरोवर को देखकर मन डूब गया—और यह मकर जल को झकझोरता हुआ छिपता प्रकट होता है। यह मुख कमल का विकासमान् सौन्दर्य है जिसपर युवतियों के नेत्र भ्रमर हैं और ये पलकें प्रेम-लहर की तरंगें हैं।'[२०] यह समस्त सौन्दर्य इस प्रकार व्यक्त होता है कि अपनी चंचलता में अधिक आकर्षक हो उठता है और देखनेवाले की पकड़ में भी नहीं आता।—'चतुर नारियाँ उस सौन्दर्य को देखती हैं मुख की शोभा में मन अटककर लटका हुआ है और हार नहीं मानता। श्याम शरीर की मेघमयी आभा पर चन्द्रिका झलकती है। जिसको बार-बार देखकर नयन थकित हो रहे हैं और स्थिर नहीं होते। श्याम मरकत-मणि के बड़े नग हैं और सखा नाचते हुए मोर हैं—इसे देखकर अत्यधिक आनन्द होता है। कोई कहता है सुरचाप गगन में प्रकाशित हुआ है—इस सौन्दर्य को देखकर गोपियाँ कहीं हर्षित और कहीं उदास हैं।'[२१] इसमें 'झलकते' 'नाचते' और प्रकाशित' आदि में गति का सौन्दर्य है। रास के प्रसंग में यह सौन्दर्य-चित्रण और भी प्रत्यक्ष हो उठता है—

"देखो माई रूप सरोवर साज्यो।
ब्रज वनिता वार वारि वृन्द में श्री ब्रजराज विराज्यो॥

---

१९ कीर्त० (भ० ३ उत्त०): पृ० १७—'देखिरी देख कुंडल झलक।
२० कीर्त० (भ.ग ३ उत्त०); पृ० १८—'देखिरीं कुंडल लोल।'
२१ वही : पृ० १७—'निरखत रूप नागरि नार।'

लोचन जलज मधुप अलकावली कुंडल मीन सलोल।
कुच चक्रवाल विलोकि वदन विधु विहरि रहे अनमोल॥
मुक्तामाल वाल वग-पंगति करत कुलाहल कूल।
सारस हंस मध्य शुक सैना वैजयंति समतूल॥
पुरइन कपिश निचोल विविध रंग विहँसत सचु उपजावे।
सूरश्याम आनदकंद की शोभा कहत न आवै॥"[२२]

इस रास-लीला में कृष्ण का रूप-सौन्दर्य्य प्रकृति के उपमानों से जैसे नृत्य कर उठा है। विभिन्न रंगों के छाया-प्रकाश के साथ पक्षियों के कोलाहल का आरोप सौन्दर्य्य की चेतना से सम उपस्थित करता है। यह स्फुरणशील चिरनवीन सौन्दर्य्य भक्त की पकड़ के बाहर का है; और इसीलिए सूर के शब्दों में 'कहत न आवै'। उस आनन्दकंद के विविध विलास को कोई कहेगा भी कैसे।

अनन्त और असीम सौन्दर्य्य

§ ७—जब सौन्दर्य्य ठहरता नहीं, वह परिवर्तित होकर नवीन हो हो जाता है, उस समय उसमें सीमा से असीम की ओर और रूप से अरूप की ओर जाने की प्रवृत्ति होती है। सूर के पिछले चित्रों में यह भावना हम देख चुके हैं। चित्रों में गति का भाव असीम और अरूप की ओर ले जाता है। सूर के सामने आराध्य का रूप अत्यधिक प्रत्यक्ष है और उसको देखकर मति मुग्ध हो जाती है, बुद्धि स्तब्ध रह जाती है। इस प्रकार सूर के चेतनशील चित्रों में भी अनन्त की व्यंजना है। तुलसी में लीलामय की भावना के साथ गति का रूप भी नहीं है। इन्होंने राम के ऐश्वर्य्य रूप को ही असीम और अनन्त चित्रित किया है। इस अनन्त सौन्दर्य्य की कल्पना में प्रकृति-उपमानों की साधारण सौन्दर्य्य-बोध की भावना कुंठित हो जाती है, उनकी योजनाओं में सन्निहित गतिशीतलता परिवर्तन के साथ जड़ित तथा स्थिर हो जाती

---

२२ सूरसा०; दश०, पृ० ४३८

है, परन्तु आराध्य का सौन्दर्य्य उनकी सीमाओं का अतिक्रमण करके भी चिर नवीन है। प्रकृतिवादी के सामने जब प्रकृति की सचेतन भावना के आगे उसका सौन्दर्य्य प्रस्फरित हो जाता है. उस समय यह सौन्दर्य्य भाव इन्द्रियों की सीमा में अनन्त और असीम हो उठता है। वैष्णव कवि की स्थिति भी ऐसी है, वह अपने आराध्य को रूप से अरूप और सीमा से असीम में देखता है। इस रूप को व्यक्त करने के लिए वह प्रकृति की उसी असीम सौन्दर्य्य भावना को ग्रहण करता है। इस अभिव्यक्ति में भक्त कवि शृंगार, कामतरु, कामदेव, ऋतुराज तथा नन्दन वन आदि स्वर्गीय कल्पनाओं का आश्रय लेता है और आकर्षण के उल्लास को मिला देता है। समस्त चित्र में रूप और गति के उपमानों का योग तो रहता ही है। तुलसी 'राम की बाल-छवि का वर्णन किस प्रकार करें। यह सौन्दर्य्य तो सभी सुखों को आत्मसात् किए हुए है और सहस्रों कामदेवों की शोभा को हरण करता है; अरुणता मानों तरणि को छोड़कर भगवान् के चरणों में रहती है। रुनझुन करनेवाली किंकिणी और नूपर मन को हरते हैं। भूपणों से युक्त सुन्दर श्यामल शिशु-वृक्ष अद्भुत रूप से फला हुआ है। घुटुरुओं से आँगन में चलने से हाथ का प्रतिबिंब इस प्रकार सुशोभित होता है, मानों उस सौन्दर्य्य को पृथ्वी कमल-रूपी संपुटों में भर भर कर लेती है।,[२३] तुलसी के सामने 'लड़खड़ाने, किलकारी भरते' राम के सौन्दर्य्य का क्रीड़ात्मक रूप है जो कवि की प्रौढ़ोक्ति-संभव उत्प्रेक्षाओं के अनन्त सौन्दर्य्य में खो जाता है। आगे दूसरे चित्र में तुलसी के सामने—मुनि के संग जाते हुए दोनों भाइयों का सौन्दर्य्य है। 'तरुण तमाल और चम्पक की छवि के समान तो कवि स्वभावतः कह जाते हैं; शरीर पर भूपण और वस्त्र सुशोभित हो रहे हैं, सौन्दर्य्य जैसे उमंगित हो रहा है। शरीर में कामदेव और नेत्रों में कमल की शोभा आकर्पित कर रही है। पीछे धनुप,

---

२३ गीता०; तुलसी: बा०, पद २७

कर-कमलों में बाण और कटि पर निषंग कसे हैं; इस शोभा को देख कर समस्त विश्व की शोभा लघु लगती है।'[२४] इस सौन्दर्य्य के चित्र में प्रकृति के उपमानों के स्थान पर स्वयं सौन्दर्य्य और लावण्य उल्लसित हो उठा है जिसके समक्ष विश्व का प्रत्यक्ष-सौन्दर्य्य फीका है। ऐसी स्थिति में प्रकृति-रूप का प्रयोजन ही नहीं रह जाता। तुलसी ने स्वर्गीय प्रतीकों के माध्यम से असीम की भावना प्रस्तुत की है—'हे सखी, राम-लक्ष्मण जब दृष्टि-पथ पर आ जाते हैं, उस समय उस सौन्दर्य्य के समक्ष लगता है जनकपुर में अनेक आत्म-विस्मृत जनक हो गए हैं। पृथ्वीतल पर यह धनुष-यज्ञ तो आश्चर्य्य देनेवाला है, मानों सुन्दर शोभित देव-सभा में कामदेव का कामतरु ही फलित हो उठा है।'[२५] वह भावात्मक रूप अनन्त की ओर प्रसरित है। इसके आगे एक चित्र में एक सखी दूसरी सखी को जिस सौन्दर्य्य की ओर आकर्षित करती है वह नितान्त भाव रूप है—

"नेकु, सुमुखि चित लाइ चितौ, री।
राजकुँवर मुरति रचिवे को रुचि सुवरंचि स्रम कियो है कितै, री॥
नख सिख सुन्दरता अवलोकत कह्यो न परत सुख होत जितौ, री।
साँवर रूप-सुधा भीरवे कहँ नयन-कमल-कल-कलस रितौ, री॥[२६]

इसमें रूप की रेखाएँ नहीं हैं, केवल 'रूप-सुधा' और 'नयन-कमल-कलस' को परमपतितरूपात्मकता सौन्दर्य्य-भाव की व्यंजना करती है। सूर में रूप से अनन्त की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति उतनी नहीं है जितनी गतिशीलता को अनन्त की भावना में परिसमाप्त करने की। साथ ही आगे हम देखेंगे कि सूर में अलौकिक सौन्दर्य्य की कल्पना अधिक है। जहाँ सूर ने अनन्त सौन्दर्य्य को व्यक्त किया है, वहाँ भी

२४ वही; वही : बा०, पद ७५
२५ वही; वही : बा० पद ७४
२६ वही; वही : बा० पद ७४

प्रकृति-उपमानों के रूपात्मक चित्रों का आधार लिया है। सूर कहते हैं—'शोभा कहने से कही नहीं जाती; लोचनपुट अत्यन्त आदर से आचमन करते हैं पर मन रूप को पाता कहाँ है?' आगे रूपात्मक चित्र आते हैं—'जलयुक्त घनश्याम के समान सुन्दर शरीर पर विद्युत के समान वस्त्र और वक्ष पर माला है। शरीर रूपी धातु शिखर पर शिखी-पक्ष लगता है पुष्प और प्रवाल लगे हैं...कपोल पर कमल की किरण और नेत्र का सौन्दर्य लगता है कमलदल पर मीन हो।' फिर यही शोभा अनन्त सौन्दर्य में इस प्रकार लीन हो जाती है—

"प्रति प्रति अंग अंग कोटिक छवि सुनि सखि परम प्रवीन।
अधर मधुर मुसकानि मनोहर कोटि मदन मनहीन।
सूरदास जहाँ दृष्टि परत है होत तहीं लवलीन ॥"[२७]

वस्तुतः इस अनन्त सौन्दर्य में दृष्टि टिकती नहीं, वह जहाँ को तहाँ लीन होकर आत्म-विस्मृत हो जाती है। यही इस सौन्दर्य का प्रभाव है और चरम भी।

अलौकिक सौन्दर्य कल्पना

६८—रूप से अरूप और सीमा से असीम के साथ भक्त कवि सौन्दर्य की अलौकिक कल्पना करता है। इस विषय में संतों के प्रसंग में पर्याप्त उल्लेख किया गया है। यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि रूप-सौन्दर्य की व्यंजना जब आधार छोड़ना भी नहीं चाहती और साधारण प्रत्यक्ष के स्तर से अलग रहना चाहती है, तब वह अलौकिक कल्पना का आश्रय लेती है। तुलसी को रूप का उतना मोह नहीं है; इसी कारण उनकी सौन्दर्य भावना अनन्त में व्यंजित होती है, उसे अलौकिक का अधिक आश्रय नहीं लेना पड़ता। सूर ने अपने रूप-चित्रों को अलौकिक उद्भावना में अधिक प्रस्तुत किया है। इसमें रूप-व्यंजना का माध्यम स्वीकार करने के साथ परम्परा का अनुसरण भी समझा

---

२७ सूरसा०; दश०, पद ४२५

जा सकता है। इन अलौकिक चित्रों में भी दो प्रवृत्तियाँ प्रत्यक्ष हैं। एक में सौन्दर्य्य की रूप-भावना है और प्रकृति-उपमानों द्वारा उल्लेख किया गया है। इसमें अधिकतर रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग किया जाता है जिसमें उपमेय अदृश्य रहता है। केवल उपमानों से चित्र अलौकिक हो उठता है। सूर अलौकिक सौन्दर्य्य की ओर संकेत करते हैं—'उस सौन्दर्य्य को देखो, कैसा अद्भुत है—एक कमल के मध्य में बीस चन्द्रमा का समूह दिखाई देता है; एक शुक है, मीन है और दो सुन्दर सूर्य्य भी हैं।'[२८] इसी प्रकार दूसरे स्थल पर—

"नंद नंदन मुख देखो माई।

अंग अंग छवि मनहु उये रवि शशि अरु समर लजाई।

खंजन मनि कुरंग भृंग वारिज पर अति रुचि पाई।"[२९]

आदि में उपमानों की विचित्र योजना अलौकिक सौन्दर्य्य की व्यंजना करती है। दूसरे प्रकार के चित्रों में रहस्य की भावना अलौकिकता के साथ पाई जाती है। इसमें अलौकिकता के आधार पर सौन्दर्य्य के विचित्र सामञ्जस्यों का रूप आता है। एक सीमा तक इनमें उलटवाँसियों का भाव मिलता है और यह सूर के समस्त दृष्टकूटों के रूप-चित्रों के बारे में कहा जा सकता है। यह भाव विद्यापति के पदों में भी है, इससे यह प्राचीन परम्परा का अनुसरण लगता है। विचित्रता का आकर्षण इसका प्रमुख आधार है। जब सूर कहते हैं—'यह सौन्दर्य्य तो अनोखा बाग है। दो कमलों पर गज क्रीड़ा करता है और उस पर प्रेम पूर्वक सिंह विचरण करता है; सिंह पर सरोवर है, सरोवर के किनारे गिरिवर हैं जिस पर कमल पुष्पित है। उसपर सुन्दर कपोत बसे हैं और उनपर अमृत फल लगे हैं। फल पर पुष्प लगा है, पुष्प पर पत्ते लगे हैं और उसपर शुक, पिक, हिरन और

---

२८ वही; वही, पृ० १३६—'देखो सखी अद्भुत रूप अनूप।'

२९ वही; वही, पद ७१२

काग का निवास है। चन्द्रमा पर धनुष और खंजन हैं और उन पर एक मणिधर सर्प है। इस प्रकार सौन्दर्य्य की इस अलौकिक आभा में प्रत्येक अंग की शोभा अलग अलग है, उपमाएँ क्या बराबरी कर सकेंगी। इन अधरों के सौभाग्य से विष भी सुधारस हो जाता है।'[30] इस चित्र में रूपकातिशयोक्ति के द्वारा वैचित्र्य का भाव उत्पन्न किया गया है, जिसमें प्रकृति-रूपों की अद्भुत योजना हृदय को अलौकिक सौन्दर्य्य से भर देती है। इस प्रकार के अधिकांश रूप-चित्र नारी (राधा) सौन्दर्य्य को लेकर हैं।

§ ६—जिस प्रकार इन भक्त कवियों ने आराध्य के सौन्दर्य्य को विभिन्न प्रकृति-उपमानों की योजनाओं से चित्रित किया है: उसी प्रकार

युगुल सौन्दर्य्य

इन्होंने युगुल आराध्य के रूप-सौन्दर्य्य को प्रस्तुत किया है। जिन समस्त प्रकृति-रूपों का उपयोग पिछले चित्रों में किया गया है, उन सबका प्रयोग युगुल के सौन्दर्य्य को व्यंजित करने में हुआ है। सूर ने राधा कृष्ण की युगुल-मूर्ति का चित्रण अनेक प्रकार से किया है। इसका कारण है उनकी लीला-भक्ति, जिसमें भगवान् अपने भक्त के साथ निरन्तर लीला-मग्न हैं। तुलसी की भक्ति भावना में न लीला का माहात्म्य है और न युगुल सौन्दर्य्य का। गीतावली में अवश्य राम और सीता के एक-दो चित्र हैं जिनमें स्थिर रूपमयता से अनन्त में पर्यवसित होने की भावना है।...'राम और जानकी की जोड़ी सुशोभित है, क्षुद्र बुद्धि में उपमा नहीं आती। नील कमल और सुन्दर मेघ के समान वर है तथा विद्युत आभावाली दुलहिन है। विवाह के समय वितान के नीचे सुशोभित हैं, मानों कामदेव के सुन्दर मंडप में शोभा और शृंगार एक साथ छविमान्

३० वही; वही, पद २६८०। इस प्रकार अन्य अनेक पद हैं। पृ० ३१०—'बिराजत अंग अंग रति यात।' पृ० ४७१—'देखु सखी पंच कमल है शम्भु।'

हैं।"[31] इसमें शोभा और शृंगार में सौन्दर्य अरूप और अनन्त हो गया है। आगे के चित्र में सौन्दर्य की अमूर्त भावना अधिक प्रत्यक्ष है—

"दूलह राम, सीय दुलही री।
घन-दामिनि-वर बरन-हरन-मन सुन्दरता नखसिख निबही, री।
सुखमा-सुरभि सिंगार-छीर दुइ मयन अमिय-मय कियो है दही, री।
मथि माखन सिय राम सँवारे, सकल-भुवन-छवि मनहुँ मही, री।
तुलसीदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जाति कही, री।
रूप-रासि बिरची बिरंचि मनो सिला-लवनि रति-काम लही, री॥"[32]

परन्तु सूर के युगुल-चित्रों में गतिशीलता तथा अलौकिकता अधिक है और अरूप तथा अमूर्त की भावना उससे व्यंजित है। साथ ही इनमें संयोग-मिलन का रूप अधिक है। क्रीड़ा में, विहार में, लीला में, रास और विलास में राधा और कृष्ण की संयुक्त भावना भक्त के सामने आ जाती है। जिन प्रकृति-रूपों की उद्भावना से इन चित्रों को प्रस्तुत किया गया है, उनमें चेतन भावशीलता के साथ गतिमय उल्लास सन्निहित है। प्रकृतिवादी तादात्म्य की मनःस्थिति में प्रकृति सौन्दर्य की यही स्थिति रहती है। भेद यह है कि प्रकृतिवादी साधक दृश्यात्मक सौन्दर्य से अनन्तर सौन्दर्य की ओर बढ़ कर उससे तादात्मय स्थापित करता है; उसके लिए प्रकृति आलंबन है, प्रत्यक्ष है। भक्त कवि के लिए आराध्य का रूप प्रत्यक्ष है, प्रकृति-रूपों का प्रयोग उसको व्यक्त करने के लिए उपकरण के समान है। यही कारण है कि भक्त की अपने आराध्य से तादात्म्य स्थापित करने की भावना युगुल-रूप के संयोग में अभिव्यक्ति ग्रहण करती है। यमुना में क्रीड़ा करते राधा-कृष्ण का चित्र सूर के सामने है—'उन्मुक्त रूप

---

३१ गीता०; तुलसी : बा०, पद १०३

३२ वही; वही : बा०, पद १०४

से सुन्दर यमुना-जल में श्यामा और श्याम विहार करते हैं। नील और पीत कमलों के ऊपर मानों प्रातःकालीन नीहार छाया है। श्री राधा अपने कर-कमलों से वार-वार जल छिड़कती हैं, लगता है मानों पवन के संचरण से स्वर्णलता का मकरन्द झरता है। और अतिसी पुष्प के समान श्याम शरीर पर वे बूँदे एकान्त रूप से झलक उठती हैं, मानों सुन्दर सघन मेघ में प्रकाश-समूह बूँदों के आकार में बिखर गया है। और जब राधा को कृष्ण दौड़ कर पकड़ लेते हैं, उस समय शृंगार ही मुग्ध हो जाता है; मानों लालाभ जलद चन्द्रमा से मिलकर सुधाधर स्रवित करता है।'[33] इसमें क्रीड़ात्मक युगुल का गतिशील सौन्दर्य है। आगे के चित्र में संयोग-मिलन की भावना को प्रकृति में प्रतिबिंबित करके व्यञ्जित किया गया है—

"किशोरी अग अग भेंटी श्यामहिं।
कृष्ण तमाल तरल भुज शाखा लटकि मिली जैसे दामहिं।
अचरज एक लतागिरि उपजै सोउ दीने करुणामहिं।
कछुक श्यामता साँवल गिरि की छायो कनक अगामहिं।"[34]

इस मिलन-सौन्दर्य में अलौकिक व्यञ्जना और रहस्यात्मक भावना दोनों मिलती हैं। संयोग के एकान्त गोपनीय चित्र कूट के रूप में अलौकिक के साथ रहस्यात्मक हो उठते हैं। इनके आधार में वही भावना कार्य करती है जिसका उल्लेख किया गया है।[35] यहाँ इस प्रकार समस्त सौन्दर्य सम्बन्धी विवेचना में प्रकृति-उपमानों की योजना पर विचार किया गया है। और हम देखते हैं सौन्दर्य को रूप

---

३३ सूरसा० : दश; पृ० ४५५—'श्यामा श्याम सुभग यमुना जल निर्मल करत विहार।'

३४ वही : वही; पृ० २९३

३५ वही : वही; पृ० २९० में पद—'रसना युगल रस निधि वेलि।' देखना चाहिए

देने में प्रकृति-रूपों का महत्त्वपूर्ण योग है।

§ १०—वैष्णव भक्तों के बाद अन्य वैष्णव कवियों की सौन्दर्य्य योजना के विषय में उल्लेख कर देना आवश्यक है। वस्तुतः भक्तों ने भारतीय रूप-सौन्दर्य्य वर्णन की परम्परा को अपनी साधना में अपनाया है, जो आगे चल कर रीति-कालीन वैष्णव कवियों में रूढ़िगत हो गई है।

अन्य वैष्णव कवियों में

इन कवियों में भक्तों के सौन्दर्य्य का अरूप और असीम भाव आराध्य के मानवी शरीर की सीमाओं में अधिक संकुचित होता गया है। सूर के बाद भक्त कवियों में क्रमशः सौन्दर्य्य की व्यञ्जना के स्थान पर उसका रूपाकर अधिक प्रत्यक्ष होता गया है और शरीर के साथ अलंकारों का वर्णन भी अधिक किया जाने लगा। आगे चलकर रीतिकाल में यह प्रवृत्ति अधिक बढ़ती गई है। इस काल का स्वतन्त्र भक्त-कवि कृष्ण के श्याम शरीर, मोर मुकुट और मकराकृत कुण्डलों पर अधिक आसक्त है; पर रीतिकालीन कवि आकार और शृङ्गार को प्रस्तुत करने में चमत्कृत उक्तियों का आश्रय लेता है। मीरा कृष्ण के सौन्दर्य्य की व्यजना नहीं करतीं। उनकी प्रेम-साधना अतिमानवी कृष्ण को स्वीकार करके चलती है, जिसमें मोर-मुकुटधारी श्याम के रंग में वे तल्लीन और भाव-मग्न हैं। इसी प्रकार आगे के उन्मुक्त प्रेमी कवि रसखान के सामने प्रेमी का रूप है, पर उसके सौन्दर्य्य को अभिव्यक्त करने के लिए उनको उपकरणों को जुटाने की आवश्यकता नहीं हुई—

"कल कानन कुंडल मोर पखा उर पै वनमाल विराजति है।
मुरली कर में अधरा मुसकानि तरंग महाछवि छाजति है॥
रसखान लखैं तन पीत पटा दामिनि की द्युति लाजति है।
वह बासुरी की धुनि कान परैं कलकानि हियो तजि भाजति है॥"[३१]

---

३१ सुन्दरीतिलक; भा० हरिश्चंद : छंद ४०१

इसमें सौन्दर्य-मूर्ति अपनी भाव-भंगिमा में आकर्षक हो उठी है।

क—सूर के पूर्व होने पर भी विद्यापति भक्तों की परम्परा से अलग हैं। इन्होंने एकान्त प्रेम और यौवन की भावन के साथ सौन्दर्य का चित्रण किया है। प्रेम-भावना का संवन्ध सौन्दर्य और यौवन से घनिष्ट है और विद्यापति में यौवन का सौन्दर्य अपने चरम पर है। विद्यापति का प्रेम सांसारिक सीमाओं से घिरा हुआ है और अपनी समस्त गम्भीरता और व्यापकता में वह लौकिक ही है। इसी के अनुसार इनका सौन्दर्य गतिमय और स्फुरणशील भावना से युक्त होकर भी अनन्त की ओर नहीं जाता। भक्त सूर के चित्रों में यदि सौन्दर्य का अनन्त प्रसार है, तो विद्यापति के रूप-चित्रों में खो जाने और विलीन हो जाने की भावना अधिक है। सूर के सौन्दर्य में आत्मतल्लीनता है और विद्यापति के सौन्दर्य में यौवन का उल्लास। साथ ही विद्यापति में स्त्री-सौन्दर्य का आकर्षण अधिक है—'नीले वस्त्र से शरीर छिपा हुआ है, लगता है घन के अन्दर दामिनी की रेखा हो। ......कामिनी ने अपना आधा मुख हँसकर दिखाया और आधा भुजा में छिपा रखा है, जान पड़ता है चन्द्रमा का कुछ भाग बादल से ढका है और कुछ राहु द्वारा ग्रस्त है।'[३७] फिर सौन्दर्य में शृंगारिक भावना की गोपनीयता के कारण रहस्यात्मक प्रवृत्ति भी मिलती है, जिसमें कवि रूपकातिशयोक्ति का आश्रय लेता है—

विद्यापति

"अभिनव एक कमल कुल सजनि दौना निमंक डार।
सेहो फूल ओनहि सुखायल सजनि रसमय फुलल नेवार।"[३८]

ख—सौन्दर्य की इसी पार्थिव-भावना ने भक्ति-साधना में प्रेम का अनन्त आश्रय और आलंबन प्रस्तुत किया था। परन्तु धीरे-धीरे

३७ विद्यापति-पदावली : पद ८०

३८ वही; : पद २६

रीतिकाल के कवियों में यह भावना शारीरिक रूप-वर्णन तक सीमित हो गई और इस काल भाव-भंगिमाओं तथा विचित्र कल्पनाओं में से सौन्दर्य केवल संबन्धित रह गया। रीतिकाल के वैष्णव कवियों के सामने आराध्य का रूप तो रहा है, पर उनकी सौन्दर्य-व्यंजना कृत्रिम तथा अलंकृत हो गई है। उसमें प्रकृति-उपमानों का आश्रय कम लिया गया है, साथ ही उक्ति-वैचित्र्य के निर्वाह का आग्रह बढ़ता गया है। रीतिकालीन सौन्दर्य-चित्रण की परम्परा को भक्तिकाल से अलग नहीं माना जा सकता। परम्परा एक है, केवल व्यंजना में भेद है। केशव जैसे आचार्य के सामने भी कृष्ण का रूप है, चाहे वह परम्परा से ही अधिक संबन्धित हो—'चपला ही पट हैं, मोरपत्त का किरीट शोभित है, ऐसे कृष्ण इन्द्रधनुप की शोभा प्राप्त करते हैं। (इस वर्षाकालीन गगन-चित्र के रूप में) कृष्ण वेणु बजाते, पद गाते, अपने सखा-रूपी मयूरों को नचाते हुए आते हैं। अरी, चातक के हृदय के ताप को बुझानेवाले इस रूप को देख तो सही—घनश्याम घने बादलों के रूप में वेणु धारण किए हुए वन से आ रहे हैं।'[39] इस में स्पष्ट ही एक ओर भाव-भंगिमा की ओर अधिक ध्यान दिया गया है और दूसरी ओर उक्ति-निर्वाह पर कवि का विशेष ध्यान है। कभी कभी कवि आलंकारिक प्रतिभा से सौन्दर्य की कल्पना करता है—'पीत वस्त्र ओढ़े हुए श्याम ऐसे लगते हैं, मानो नीलमणि पर्वत पर प्रभात का आतप पड़ गया हो' और कभी अलंकार योजना के प्रयास में सौन्दर्य अलौकिक भी जान पड़ता है—

> "लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर।
> भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥"[40]

---

३९ रसिक-प्रिया; केशव ७१

४० बिहारी-सतसई : दो० २१, १६५

रीतिकाल में यही भावना बढ़ती गई है। मतिराम कृष्ण के सौन्दर्य्य को शृंगारिक वर्णनों तथा अनुभावों में व्यक्त करते हैं—

"मोरपखा मतिराम किरीट मै कण्ठ बनी बनमाल सोहाई।
मोहन की मुसकानि मनोहर कुंडल डोलनि मै छवि छाई॥
लोचन लोल विसाल विलोकनि को न विलोकि भयो बस आई।
वा सुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अखियान लुनाई॥"[४१]

इस चित्र में प्रकृति-उपमानों के माध्यम से सौन्दर्य्य व्यंजना के स्थान पर भाव भंगिमा के आकर्षण की ओर अधिक स्थान है। इसका कारण भी प्रत्यक्ष है; इस काल में कृष्ण साधारण नायक के रूप में स्वीकार किए गए हैं। रीतिकालीन कवि कृष्ण को भगवान् स्वीकार अवश्य करता है, पर उनके रूप और चरित्र को साधारण नायक के रूप में ही चित्रित करता है। साथ ही इन कवियों में आलंकारिक प्रवृत्ति के बढ़ जाने से सौन्दर्य्य को विचित्र रूप में अपनाने की भावना अधिक पाई जाती है। कवि के सामने सौन्दर्य्य की विचित्र कल्पना है और नायक-नायिका के प्रसंग को लेकर शृंगार के आलम्बन रूप में नायिका का सौन्दर्य्य उसके लिए अधिक आकर्षक हो गया है।[४२] नारी सौन्दर्य्य में हाव भाव के साथ वैचित्र्य की भावना अधिक है, प्रकृति का आश्रय नहीं के बराबर रह गया है।

× × ×

---

४१. सुन्द०; भा० हरि० : छंद ३५४

४२. शृंगार; [illegible] : कृष्ण की छवि वर्णन के कवित्तों में इस प्रकार के उदाहरण अनेक हैं। कृष्ण कवि इस प्रकार वर्णन करते हैं—

"[illegible] सिरपों मजराज नख-दुति पुंज हिए जित साजि रहे हैं।
कृष्ण [illegible] देखि प्रभात के पंकज लाजि रहे हैं।
मंजुल आनन में मकराकृत कुंडल यो छवि छाजि रहे हैं।
मानो मनोज परयो हिय में अरु द्वार निशान विराजि रहे हैं॥"

§११—वैष्णव भक्तों ने भगवान् को रूप और गुण की रेखाओं में बाँधकर भी उसे अद्वैत माना है और विराट रूप में उसे व्यापक असीम भी स्वीकार किया है। रामानुजाचार्य ने विश्व को ब्रह्म-विवर्त मानकर सत्य माना है; जब ब्रह्म सत्य है तो उसी का रूप विश्व-सर्जन भी सत्य है।

विराट-रूप की योजना

इसी सत्य को लेकर भक्तों ने भगवान् की व्यापक भावना के साथ विराट प्रकृति योजना उपस्थित की है। वल्लभाचार्य के अनुसार लीला में प्रकृति का सत् भगवान् के सत् का ही रूप है। इस प्रकार राम और कृष्ण दोनों ही भक्तों के सामने भगवान् का विराट रूप प्रत्यक्ष है जिसमें प्रकृति का समस्त विस्तार समा जाता है। प्रकृतिवादी प्रकृति में एक विराट योजना पाकर किसी व्यापक अज्ञात सत्ता का आभास पाता है। परन्तु भक्त का भगवान् अपनी विराट भावना में प्रत्यक्ष है और प्रकृति उसी के प्रसार में लीन होती जान पड़ती है। तुलसी ने राम के विराट स्वरूप का संकेत कई स्थानों पर किया है। काकभुशुंडि गरुड़ से कहते हैं—'हे पक्षिराज, उस उदर में मैंने सहस्त्र सहस्त्र ब्रह्मांडों के समूह देखे। वहाँ अनेक लोकों की सर्जना चल रही थी जिनकी रचना एक से एक विचित्र जान पड़ती थी। करोड़ों शंकर और गणेश वहाँ विद्यमान थे; वहाँ असंख्य तारागण, रवि और चन्द्रमा थे और असंख्य लोकपाल यम तथा काल थे। असंख्यों विशाल भू-मंडल और पर्वत थे और अपार वन, सर, सरि आदि थे। इस प्रकार वहाँ नाना प्रकार से सृष्टि का विस्तार हो रहा था।'[४३] इसी प्रकार भगवान् के विराट रूप की व्याप्ति कौशल्या के सामने भी है—

"देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥

४३ रामचरितमानस; तुलसी : उत्त० दो० ८०

अगनित रवि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन।
कालकर्म गुन ग्यान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ॥"[४४]

समान रूप से सूर में भी भगवान् कृष्ण के विराट रूप की योजना प्रकृति में प्रतिघटित की गई है। इस विराट रूप में लगता है प्रकृति का निलय ब्रह्म-भावना के साथ हो जाता है। कथानक के प्रसंग में यह चित्रण आध्यात्मिक छायातप का कार्य्य करता है। 'माटी को प्रसंग में बड़ी ही स्वाभाविक स्थिति में विराट की यह भावना—

"वदन उघारि देखायौ त्रिभुवन वन घन नदी सुमेर।
नभ शशि रवि मुख भीतर है सब सागर धरनी फेर॥"[४५]

आकर जननी को आश्चर्य्य चकित कर देती है और उससे 'मीठी खारी' कुछ भी कहते नहीं बनती। सूर इस प्रसंग में कई पदों में विभिन्न भाव स्थितियों के साथ इस भावना को उपस्थित करते हैं और अंत में स्वयं कह उठते हैं—

"देखो रे यशुमति बौरानी।
जानत नाहि जगतगुरु माधो यहि आये आपदा निशानी।
अखिल ब्रह्मांड उदर गनि जागी ज्योति जल थलहिं समानी।"[४६]

इस प्रकार भगवान् के विराट स्वरूप में प्रकृति सर्जना समिट जाती है और यह प्रकृति में व्यापक ब्रह्म भावना का अन्यन्तरित रूप है।

१२—भक्त कवियों ने अपने आराध्य के सम्पर्क में प्रकृति को आदर्श रूप में उपस्थित किया है। जब प्रकृति भगवान् के सम्पर्क में

[४४] वही; वही : बा०, दो० २०१–२
[४५] सूर०; दश०, पृ० १६५—'खेलत स्याम पौरि के बाहर—।'
[४६] वही; वही, पृ० १६६—'मो देखत यशुमति तेरे ढोटा अबहीं माटी खाई।' में भी यही भावना है।

आती है या उनके सामने होती है, उस समय उसमें परिवर्तन और क्षणिकता के लिये स्थान नहीं रह जाता। इस सीमा में प्रकृति चाहे राम के निवास-स्थल के रूप में हो अथवा राम-राज्य में स्थित हो; उसमें चिरन्तन सौन्दर्य्य और सजीवता पाई जाती है। कृष्ण की लीला-स्थली गोकुल हो या वृन्दावन, सर्वत्र प्रकृति में चिर वसंत की भावना रहती है। यह प्रकृति का आदर्श रूप सभी भक्त कवियों में मिलता है। परन्तु तुलसी के राम आदर्श हैं और इनके अनुसार प्रकृति लीलामय की क्रीड़ास्थली नहीं है। इस कारण इनके प्रकृति-रूपों में अधिकतर आदर्श भावना मिलती है। इनमें उल्लास भावमयी प्रकृति के स्थल कम हैं। तुलसी में आदर्श प्रकृति के स्थल वन-प्रसंग में तथा राम-राज्य के प्रसंग में मिलते हैं। वाल्मीकि ने वन-प्रसंग के अनेक प्रकृति-स्थलों को सुन्दर रूप से चित्रित किया है। परन्तु तुलसी के सामने राम को लेकर ही सब कुछ है, यदि प्रकृति है तो वह भी राम को लेकर ही। उसमें यथातथ्य चित्रण सत्य नहीं, भगवान् के साथ वह चिर-नवीन और चिरन्तन है—'वह वन-पथ और पर्वत-मार्ग धन्य है जहाँ प्रभु ने चरण रखे हैं। वन में विचरण करनेवाले विहग और मृग धन्य हैं जिन्होंने प्रभु के सौन्दर्य्य को देखा है।' आगे यह वर्णन इस प्रकार है—'जब से राम इस वन में आकर रहे हैं, तभी से वन-प्रकृति आनन्दमयी हो गई है। नाना प्रकार के वृक्ष फलने फूलने लगे; सुन्दर बेलियों के वितान आच्छादित हो गए; सभी वृक्ष कामतरु हो गए; मानों देववन छोड़कर चले आए हैं। सुन्दर भ्रमरावलियाँ गुंजार करती हैं और सुखद त्रिविध समीर चलता है। नीलकंठ तथा अन्य मधुर स्वर वाले शुक, चातक, चकोर आदि भाँति-भाँति के पक्षी कानों को सुख देते हैं।'[४७] इसी प्रकार राम के मार्ग में प्रकृति चिरंतन आदर्श

(हाशिया: प्रकृति का आदर्श रूप)

---

४७ रामच०; तुलसी : अयो०, दो० १३६–७

भावना के साथ बिखरी है—

"राम सैल वन देखन जाहीं। जँह सुख सकल सकल दुख नाहीं।
झरना झरहिं सुधासम बारी। त्रिविध तापहर त्रिविध बयारी।
बिटप बेलि तृन अगनित जाती। फूल प्रसून पल्लव बहु भाँती।
सुन्दर सिला सुखद तरु छाहीं। जाइ बरनि बन छवि केहि पाहीं।
सरनि सरोरुह जल विहग, कूजत गुंजत भृंग।
बैर विगत विहरत विपिन, मृग विहंग बहुरंग॥"[48]

इस चित्र में आदर्श-भावना के साथ भगवान् के सामीप्य का सुख भी मिला हुआ है। गीतावली में चित्रकूट-वर्णन के प्रसंग में एक चित्र इस आदर्श से भी युक्त है।[49] परन्तु प्रकृति की यह निरन्तरता, चिरनवीनता और आदर्श कल्पना राम के व्यक्तित्व से ही संबन्धित है। राम के अयोध्या लौट आने पर, राम राज्य के अन्तर्गत प्रकृति में वही आदर्श-कल्पना सन्निहित है—'वन में सदा ही वृक्ष फूलते फलते हैं; एक साथ [illegible] और [illegible] रहते हैं। खग-मृगों ने स्वाभाविक अपना द्वेष-भाव भुला दिया है, सबमें परस्पर प्रीति बढ़ गई है। नाना भाँति के पक्षी कूजते हैं और अनेक प्रकार के पशु आनन्दपूर्वक वन में विचरण करते हैं। शीतल सुगन्धित पवन मन्दगति से प्रवाहित होता है।

४८ वही; वही : वही, दो० २४९

४९ गीता०; तुलसी : अयो०, पद ४४—

चित्रकूट अति विचित्र, सुंदर बन महि पवित्र।
पावनि पय सरित सकल, मल निकंदिनी।
[illegible] बसहिं [illegible], सुंदर गिरि निर्झर झर
[illegible] घन छाँह, छन प्रभा न भान की॥
[illegible] ऋतुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिविध बाउ।
[illegible] निरन्तर [illegible] पंच बान की॥"

भ्रमर गुञ्जारता हुआ मकरंद लेकर उड़ता है।"[५०] इस आदर्श रूप में राम-राज्य की व्यवस्था का भाव भी छिपा है। प्रकृति भगवान् के सामने अपनी चिरंतना में मग्न है, साथ ही राम-राज्य के आदर्श के समानान्तर भी दिखाई देती है। 'गीतावली' के उत्तरकांड में इस प्रकार का प्रकृति-रूप आया है। तुलसी भक्ति को राम से अधिक महत्त्व देते हैं। इसी के अनुसार काकभुशुंडि के आश्रम का प्रकृति-वातावरण भक्ति के प्रभाव से द्वंद्वों और माया की नश्वरता से मुक्त है—

"सीतल अमल मधुर जल जलज विपुल बहुरंग।
कूजत कलरव हंस गन गुञ्जत मंजुल भृंग॥"[५१]

यह आश्रय अपनी स्थिरता में चिरंतन और अपने सौन्दर्य में चिरनवीन है।

कृष्ण-काव्य में

क—कृष्ण-भक्त कवियों ने भी भगवान् के संसर्ग में प्रकृति को आदर्श रूप में उपस्थित किया है। परन्तु इनमें लीला की भावना प्रमुख है और इसलिए इनके काव्य में प्रकृति लीला की पृष्ठ-भूमि के रूप में प्रभावित, मुग्ध या उल्लासित हो उठती है। इन सभी कवियों ने वृन्दावन, यमुना, गोकुल आदि की आदर्श कल्पना की है। ये स्थल कृष्ण की नित्य लीला से संबन्धित होने के कारण चिरंतन प्रकृति के रूप हैं। सूर आदर्श वृन्दावन की कल्पना करते हैं—

"वृन्दावन निजधाम कृपा करि तहाँ दिखायो।
सब दिन जहाँ वसंत कल्प वृक्षन सों छायो॥
कुंज अद्भुत रमणीय तहाँ वेलि सुभग रहीं छाइ।
गिरि गोवर्धन धातुमय झरना झरत सुभाइ॥

५० रामच०; तुलसी: उत्त०, दो० २३

५१ वही; वही: वही, दो० ४६

भावना के साथ बिखरी है—

"राम सैल बन देखन जाहीं। जँह सुख सकल सकल दुख नाहीं।
झरना झरहिं सुधासम बारी। त्रिविध तापहर त्रिविध बयारी।
बिटप बेलि तृन अगनित जाती। फूल प्रसून पल्लव बहु भाँती।
सुन्दर सिला सुखद तरु छाहीं। जाइ बरनि बन छबि केहि पाहीं।
सरनि सरोरुह जल बिहग, कूजत गुंजत भृंग।
बैर बिगत बिहरत बिपिन, मृग बिहंग बहुरंग॥"[48]

इस चित्र में आदर्श-भावना के साथ भगवान् के सामीप्य का सुख भी मिला हुआ है। गीतावली में चित्रकूट-वर्णन के प्रसंग में एक चित्र इस आदर्श से भी युक्त है।[49] परन्तु प्रकृति की यह निरन्तरता, चिरनवीनता और आदर्श कल्पना राम के व्यक्तित्व से ही संबन्धित है। राम के अयोध्या लौट आने पर, रामराज्य के अन्तर्गत प्रकृति में यही आदर्श कल्पना सन्निहित है—'वन में सदा ही वृक्ष फूलते फलते हैं; एक साथ हाथी और सिंह रहते हैं। खग-मृगों ने स्वाभाविक अपना द्वेष-भाव भुला दिया है, सबमें परस्पर प्रीति बढ़ गई है। नाना भाँति के पक्षी कूजते हैं और अनेक प्रकार के पशु आनन्दपूर्वक वन में विचरण करते हैं। शीतल सुगन्धित पवन मन्दगति से प्रवाहित होता है।

[48] वही; वही : वही, दो० २४९

[49] गीता०; तुलसी : अयो०, पद ४४—
"चित्रकूट [illegible] बिपिन, सुंदर बन महि पवित्र।
[illegible] सरित सकल, मल निकंदिनी।
[illegible] बरहि सुखद, सुंदर गिरि निर्झर झर
[illegible] घन छाँह, छन प्रभा न भान की॥
[illegible] प्रभाउ, सीतल बहै त्रिबिध बाउ।
[illegible] बिहारन्[illegible] [illegible] की॥"

भ्रमर गुञ्जारता हुआ मकरंद लेकर उड़ता है।"[५०] इस आदर्श रूप में राम-राज्य की व्यवस्था का भाव भी छिपा है। प्रकृति भगवान् के सामने अपनी चिरंतना में मग्न है, साथ ही राम-राज्य के आदर्श के समानान्तर भी दिखाई देती है। 'गीतावली' के उत्तरकांड में इस प्रकार का प्रकृति-रूप आया है। तुलसी भक्ति को राम से अधिक महत्त्व देते हैं। इसी के अनुसार काकभुशुंडि के आश्रम का प्रकृति-वातावरण भक्ति के प्रभाव से द्वंद्वों और माया की नश्वरता से मुक्त है—

"सीतल अमल मधुर जल जलज विपुल बहुरंग।
कूजत कलरव हंस गन गुञ्जत मंजुल भृंग॥"[५१]

यह आश्रय अपनी स्थिरता में चिरंतन और अपने सौन्दर्य में चिरनवीन है।

कृष्ण-काव्य में

क—कृष्ण-भक्त कवियों ने भी भगवान् के संसर्ग में प्रकृति को आदर्श रूप में उपस्थित किया है। परन्तु इनमें लीला की भावना प्रमुख है और इसलिए इनके काव्य में प्रकृति लीला की पृष्ठ-भूमि के रूप में प्रभावित, मुग्ध या उल्लासित हो उठती है। इन सभी कवियों ने वृन्दावन, यमुना, गोकुल आदि की आदर्श कल्पना की है। ये स्थल कृष्ण की नित्य लीला से संबन्धित होने के कारण चिरंतन प्रकृति के रूप हैं। सूर आदर्श वृन्दावन की कल्पना करते हैं—

"वृन्दावन निजधाम कृपा करि तहाँ दिखायो।
सब दिन जहाँ बसंत कल्प वृच्छन सों छायो॥
कुंज अद्भुत रमणीय तहाँ बेलि सुभग रहीं छाइ।
गिरि गोवर्धन धातुमय झरना झरत सुभाइ॥

---

५० रामच०; तुलसी : उत्त०, दो० २३

५१ वही; वही : वही, दो० ४६

कालिंदी जल अमृत प्रफुल्लित कमल सुहाई।
नगन जटित दोउ कूल हँस सारस तहँ छाई॥
क्रीड़त श्याम किशोर तहाँ लिए गोपिका साथ।
निरखि सो छवि श्रुति थकित भई तब बोले यदुनाथ॥"[५२]

यही वृन्दावन है जिसमें कृष्ण की नित्य-लीला होती है और जहाँ भक्त भगवान् की लीला में आनन्द लेते हैं। परमानन्द भी इसी वृन्दावन में चिर सौन्दर्यमयी प्रकृति की आदर्श कल्पना करते हैं—'जिसका मंजुल प्रवाह है और अवगाहन सुखद है, ऐसी यमुना सुशोभित है। इसमें श्याम लहर चंचल होकर झलकती है और मंदवायु से प्रवाहित होती है। जिसमें कुमुद और कमलों का विकास हो रहा है; दसों दिशाएँ सुवासित हो रही हैं। भ्रमर गुंजार करते हैं और हंस तथा काक का शब्द क्रन्दायमान हो रहा है।...ऐसे यमुना के तट पर रहने की कामना कौन नहीं करता।'[५३] यह यमुना का तट साधारण नहीं है; वह अपनी कल्पना में आध्यात्मिक लीला-भूमि है। आगे परमानन्द वृन्दावन की आदर्श उद्भावना करते हैं—'वन प्रफुल्लित है—यमुना की तरंगों में अनेक रंग झलकते हैं। सघन सुगन्धित दृश्य अत्यंत मगन करनेवाला सुहावना है। चिंतामणि और सुवर्ण से जटित भूमि है जिसकी छवि अद्भुत है। झूमती हुई लता से शीतल मंद सुगन्धित पवन आती है। सारस, हंस, शुक और चकोर चित्रमय नृत्य करते हैं और मोर, कपोत, कोकिल सुन्दर मधुर गान करते हैं। युगल रसिक के श्रेष्ठ विहार की स्थली प्रसार करनेवाली वृन्दा-भूमि मन-भावनी है, उसकी जय हो।'[५४] गोविन्ददास युगल-आराध्य की लीला-भूमि को चिर-वसंत की भावना में युक्त करके चित्रित करते हैं—

"ललित गति विलास हास दंपति अति मन हुलास।
विगलित कच-सुमन-वास स्फुरित-कुसुम-निकर तेसोहे शरदरेन भुनाई।
नव-निकुंज भ्रमरगुञ्ज कोकिला-कल-कूजित-पुञ्ज सीतलसुगंध मंद वहत पवन सुखदाई।"[५५]

यह प्रकृति का आदर्श चित्र लीला की पृष्ठ-भूमि है और आध्यात्मिक वातावरण से युक्त है। इसी प्रकार रास के अवसर पर यमुना-पुलिन का चित्र कृष्णदास के सामने है—'यमुना-पुलिन के मध्य में रास रचा हुआ है; जल की शीतलता के साथ मन्द मलय पवन प्रवाहित हो रहा है;पुष्पों के समूह फूल रहे हैं। शरद की चाँदनी फैली है; भ्रमरावली जैसे चरणों की वन्दना कर रही है...कृष्ण की गयंदगति मानों शरद-चन्द्र के लिए फंदा है।'[५६] यहाँ अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने के साथ प्रकृति में आदर्श कल्पना है। यह समस्त प्रकृति का रूप यथार्थ मे भिन्न होकर अलौकिक नहीं है। इनमें यथार्थ की चिरनवीन और अनश्वर स्थिति को आदर्श के रूप में स्वीकार किया गया है। कृष्ण-भक्तों ने इस रूप को रूप-रंग आदि की गम्भीर प्रभावशीलता के साथ व्यक्त किया है; जब कि तुलसी के आदर्श में नियमन की भावना सन्निहित है।

§ १३—हम कह चुके हैं कि सगुण-भक्तों के लिए प्रकृति की सार्थकता और उसका अस्तित्व भगवान की कल्पना को लेकर है।

प्रभावात्मक क्रीड़ाशील प्रकृति

भगवान् धराधाम पर लीला या चरित्र करने अवतरित हुए हैं—और प्रकृति उनसे प्रभाव ग्रहण करती रहती है। भगवान् के सामने प्रकृति किस प्रकार गतिमान् और क्रियाशील है, इसी ओर भक्तों का ध्यान जाता है। प्रकृतिवादी कवि अपने समस्त प्रकृति में सहानुभूति और सचेतना का प्रसार पाकर उल्लसित या मुग्ध-मौन हो जाता है। वस्तुतः यह

---

५५ वही (वही) : पृ० ३०२

५६ वही (वही) : पृ ३०१

उसी की अन्तः चेतना का बाह्य प्रतिबिंब भाव है जो प्रकृति से तादात्म्य करता जान पड़ता है। इसी प्रकार की भावना दूसरे प्रकार से सगुण भक्तों के प्रकृति-रूपों में मिलती है। प्रकृतिवादी के लिए आलंबन प्रकृति है और तादात्म्य की भाव स्थिति कवि की आत्म-चेतना है। परन्तु यहाँ भगवान् के आलंबन रूप के साथ प्रकृति सहचरी मात्र है। इस कारण प्रकृति का रूप भगवान् की भावना से प्रभावित होता है और उसी से तादात्म्य स्थापित करता है। इस स्थिति में प्रकृति की सारी प्रभावशीलता, मुग्धता और उल्लास भगवान् के सामीप्य को लेकर है। प्रकृति का स्थान गौण होने के कारण, उसका चित्र प्रमुख भी नहीं होने पाया है। इस प्रसंग में यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि तुलसी की भक्ति भावना में लीला के स्थान पर चरित्र का महत्त्व है। इस प्रकार तुलसी के प्रकृति रूपों में उल्लास की भावना या मुग्धता का भाव नहीं मिलता जो कृष्ण के लीलामय रूप से संबन्धित है। तुलसी में भगवान् के ऐश्वर्य से प्रभावित और क्रिया-शील प्रकृति का रूप अवश्य मिलता है और यह उनकी चरित्र साधना के अनुरूप भी है।

ख—राम भक्ति और कृष्ण भक्ति दोनों ही परम्पराओं में प्रकृति प्रभाव ग्रहण करती हुई उपस्थित हुई है। बार-बार आकाश से पुष्प-

देवत्व का प्रभाव — वर्षा होती है; आकाश में देव विमानों पर आ

करते हैं; मराल भी प्रसन्न मन है। भ्रमर समूह गान कर रहे हैं और मोर नाचते हैं। और मानों सुराज का मंगल चारो ओर फैला हुआ है।"[५७] यह वर्णना आदर्श रूप के समान है, पर इसमें व्यंजना राम के ऐश्वर्य के प्रभाव की ध्वनित होती है। इसी प्रकार एक प्रकृति का चित्र गीतावली में भी है; उसमें भगवान् के असीम ऐश्वर्य का प्रभाव प्रकृति पर प्रतिबिंबित हो रहा है—

"आइ रहे जब तें दोउ भाई।
उकठेउ हरित भए जल-थलरुह नित नूतन राजीव सुहाई।
फूलत फलत पल्लवत पलुहत विटप बेलि अभिमत सुखदाई।
सरित सरनि सरसीरुह-संकुल सदन सँवारि रमा जनु छाई।
कूजत विहंग मंजु गुंजत अलि जात पथिक जनु लेत बुलाई।"[५८]

जहाँ तक प्रकृति का भगवान् के प्रभाव से आन्दोलित हो उठने का प्रश्न है, तुलसी में ऐसे स्थल कम हैं। धनुष-भंग होने के समय अवश्य एक बार विश्व-सर्जन जैसे अस्थिर हो उठता है और इसी प्रकार जब राम सिन्धु पर क्रुद्ध होकर बाण संधानते हैं, उस समय समुद्र का अस्तित्व स्थिर हो जाता है। भगवान् राम का ऐश्वर्य-रूप में जभी कुछ आक्रोश होता है तुलसी की प्रकृति भयभीत और आंदोलित हो उठती है—

"जब रघुबीर पयाना कीन्हों।
छुभित सिंधु डगमगत महीधर सजि सारँग कर लीन्हों।
सुनि कठोर टंकोर घोर अति चौंके बिधि त्रिपुरारि।
पवन पगु पावक पतंग ससि दुरि गए थके विमान।"[५९]

इसी प्रकार प्रकृति भगवान् के इंगित पर चलती है और यह भक्त

---

५७ रामच०; तुलसी : अयो० दो० २३६

५८ गीता०; वही : अयो० पद ४६

५९ वही; वही; सुन्द०, पद २५

की अपनी दृष्टि है।

ख—सूर तथा अन्य कृष्ण-भक्तों ने भी भगवान् के प्रभाव में प्रकृति को क्रियाशील दिखाया है। ऐसे स्थलों पर वह कृष्ण की शक्ति से सचालित लगती है या उससे प्रेरित जान पड़ती है। अगले प्रकृति के मुग्ध या उल्लसित रूपों पर भी भगवान् का किसी न किसी प्रकार का प्रभाव है। परन्तु यहाँ प्रभाव से हमारा अर्थ है, प्रकृति का भगवान् की शक्ति से प्रेरित तथा क्रियाशील होना। बाल रूप कृष्ण अँगूठा मुँह में डालते हैं और—

लीला की प्रेरणा

'सिंधु उछलने लगा, कमठ अकुलाकर काँपने लगा। हरि के पाँव पीते ही, शेष अवनि के सौ फनों से डोलने लगा। वट वृक्ष बढ़ने लगा; देवता अकुला उठे, आकाश में घोर उत्पात होने लगा—महाप्रलय के मेघ जहाँ तहाँ आघात करते गरज उठे।'[५०] इसी प्रकार की एक स्थिति नन्ददास ने उपस्थित की है। वसुदेव कृष्ण को लेकर भादों की अँधेरी रात में गोकुल जा रहे हैं और प्रकृति भगवान् की प्रेरणा से संचालित होती है—

पर आकाश के देवता तथा अन्य प्रकृति से संबन्धित पात्र जय जयकार करने लगते हैं।

§ १४—हम जिस प्रकृति-रूप का उल्लेख करने जा रहे हैं, उसके आधार में आचार्य्य वल्लभ की लीला-भावना है। वल्लभ के अनुसार चित् और आनन्द से अलग प्रकृति सत् मात्र है। परन्तु जिस प्रकार जीव भगवान् की लीला में भाग लेकर आनन्द प्राप्त करता है; उसी प्रकार प्रकृति इस लीला की स्थली होकर आनन्द को अपने में प्रतिबिंबित कर लेती है। यही कारण है, जब प्रकृति कृष्ण की रास-लीला या वंशी-ध्वनि के सम्पर्क में आती है, उस समय वह मौन-मुग्ध हो उठती है। यह मुग्धता केवल मौन ही नहीं हो जाती, वरन् स्वयं में आनन्दप्रद आकर्षण बन जाती है। आगे चलकर यह आनन्द की भावना उल्लास के रूप में प्रकृति में प्रतिघटित होती है। पहले प्रकृति के उसी रूप पर विचार करना है जो मुग्ध होकर मौन हो उठता है। तुलसी में यह रूप लीला से संबन्धित न होकर रूप-सौन्दर्य्य से संबन्धित है—'वन में मृगया खेलते हुए राम सुशोभित हैं, वह छवि वर्णन करते नहीं बनती। मृग और मृगी इस अलौकिक रूपक को देखकर, न तो हिलते हैं और न भागते हैं। उनको वह रूप पंचशायक धारण किए हुए कामदेव लगता है।'[६२] भगवान् की लीला के सम पर प्रकृति का रूप कृष्ण-भक्त कवियों में ही आ सका है। यहाँ फिर प्रकृतिवादी दृष्टि से एक बार सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है। प्रकृतिवादी अपनी साधना में प्रकृति के माध्यम से एक ऐसा सम प्राप्त करता है कि उस भाव-स्थिति में प्रकृति तादात्म्य स्थापित करती हुई मुग्ध लगती है और आगे चल कर साधक के आनन्द का प्रतिबिंब ग्रहण कर उल्लसित भी होती है। परन्तु भक्त

लीला के समक्ष प्रकृति

६२ कवितावली; तुलसी : अयो०, छंद २७

के सामने आराध्य का लीलामय रूप है, उससे वह अपने मन का मर्म ढूँढता चलता है। लीला के इसी रूप पर उसकी प्रकृति मुग्ध-मौन है और आनन्द भावना में उल्लसित भी। प्रकृति के इस रूप को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, यद्यपि इन रूपों में एक दूसरे का अन्तर्भाव है। कुछ स्थलों पर प्रकृति कृष्ण की वंशी के प्रभाव से मुग्ध है और कहीं रास के समक्ष मौन-चकित है। इसके अतिरिक्त प्रकृति कभी वंशी के प्रभाव से और कभी रास की क्रीड़ा से उल्लसित जान पड़ती है। इस प्रकृति-रूप पर आनन्द का प्रतिबिंब माना जा सकता है।

स्तब्ध मौन सी मुग्ध

क—कृष्ण-भक्त कवियों के लिए वंशी भगवान् की आकर्षण-शक्ति का प्रतीक रहा है, इसी से समस्त सर्जन भगवान् की लीला की ओर आकर्षित होता है। यही कारण है कि वंशी की ध्वनि के प्रभाव में प्रकृति स्तब्ध है। सूर कहते हैं—मेरे श्याम ने जब मुरली अधरों पर रख ली, उसकी ध्वनि सुन कर सिद्धों की समाधि टूट गई। सुन कर देव विमान थकित हो

है, फिर भी इसमें उल्लास का भाव निहित है। रास के अवसर पर मुरली का प्रभाव अधिक व्यापक और मुग्धकारी है; साथ ही आह्लाद की भावना भी मिली हुई है—

'मुरली सुनत अचल थके।
थके चर जल झरत पाहन विफल वृक्षन फले।
पय स्रवत गोधननि थनते प्रेम पुलकित गात।
झरे द्रुम अंकुरित पल्लव विटप चंचल पात।
सुनत खग मृग मौन साध्यो चित्त की अनुहारि।'[६४]

वस्तुतः प्रकृति की यह स्तब्ध-मौन स्थिति भी उल्लास की अतिशय भावना को लेकर है; केवल उल्लासमय प्रकृति-रूपों में प्रकृति की सप्राणता और गतिशीलता अधिक प्रत्यक्ष हो उठती है। यही कारण है कि प्रकृति के इन मुग्ध चित्रों में उल्लास का भाव मिल गया है। कृष्णदास रास के अवसर पर वंशी-ध्वनि के प्रभाव का उल्लेख करते हैं— आज नंदनंदन गोवर्धन धारण करने वाले कृष्ण ने यमुना के पुलिन पर अधरों पर वंशी रखी—जिसको सुन कर देवांगनाएँ अपना घर छोड़ कर आकाश से फूल बरसाने लगीं; इस ध्वनि को सुन कर बछड़े, पक्षी और मृग सभी ध्यान-मग्न हो गए. सभी द्रुम-वेलियाँ, प्रफुल्लित हो गईं......कमल-वदन को देख कर सहस्रों कामदेव मोहित हो गए।'[६५] इस चित्र में मुग्ध-भाव के अन्तर्गत ही प्रकृति की तीन स्थितियों का समन्वय है—प्रकृति स्तब्ध है उल्लासित है और भ्रमित भी है। हितहरिवंश भी इसी प्रकार के प्रकृति-रूप की ओर संकेत करते हैं—

'मोहनी मदन गोपाल लाल की बाँसुरी।

---

६४ वही; वही पृ० ४४१

६५ कीर्त० (भाग १ उत्त०) : पृ० ३०१—'आज नदनंदन गोविंद गिरिवर धरन'

मधुर श्रवण पुट सुनत स्वर राधिके करत।
रतिराज के ताप को नाश री।
शरद राका रजनी विपिन वृन्दा शरद अनिल।
तन मंद अति शीतल सुवासी।
सुभग पावन पुलिन भृंग सेवत नलिन कल्पतरु।
रुचिर वलवीर कृतराम री।''[६६]

नंददास ने 'रास पंचाध्यायी' में प्रकृति का रूप इसी प्रकार चित्रित किया है; साथ ही कुछ स्थलों पर रास के प्रसंग में उल्लास की भावना भी व्यक्त हुई है। रास की शोभा को देख कर प्रकृति मुग्ध हो उठती है—'मोहन ने अद्भुत रास की रचना की, संग में राधा और चारों ओर गोपियाँ हैं—एक ही बार मुरली के सुधामय स्वर से देवता मोहित हो गए जल-थल के जीव भी मुग्ध हो गए, समीर भी थकित हो गया और यमुना उलटी प्रवाहित होने लगी।...... श्याम इस प्रकार निशा में विहार करते हैं।''[६७]

आनन्दोल्लास में मुखरित

ख—मुग्धता का यही भाव उल्लास में मुखरित और गतिशील हो जाता है। वंशी-ध्वनि से, रास-लीला के समक्ष अथवा अन्य लीलाओं के अवसर पर प्रकृति भगवान् के आनन्द का प्रतिबिंब ग्रहण करती हुई उल्लसित हो जाती है। प्रकृतिवादी अपने मन के ही आनन्दोल्लास को प्रकृति के गतिमय सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त करता है। लेकिन भक्ति-भावना में प्रकृति का उल्लास भगवान् के आनन्द-रूप का प्रभाव है। तुलसी के सामने भगवान का लीलामय रूप नहीं है, इस कारण उनमें यह रूप नहीं मिलता। परन्तु भगवान् के ऐश्वर्य से उल्लास ग्रहण करती प्रकृति का रूप कहीं-कहीं मिल जाता है। 'गीतावली' में राम को पथिक भेष में—

---

६६ वही : पृ० ३२४

६७ रास पंचाध्यायी; नंददास : प्र० स्कं०

"देख राम पथिक नाचत मुदित मोर ।
मानत मनहुँ सतड़ित ललित घन धनु सुरधनु गरजनि टंकोर ।
कँपै कलाप वर वरहि फिरावत गावत कल कोकिल किसोर ॥
जहँ जहँ प्रभु विचरत तहँ तहँ सुख दंडक वन कौतुक न थोर ।
सघन छाँह तम-रुचिर रजनी भ्रम वदन-चंद चितवत चकोर ।
तुलसी मुनि खग मृगनि सराहत भए हैं सुकृत सब इन्ह की ओर ॥"[६८]

इस प्रकृति में उल्लास की भावना भगवान के रूप और सामीप्य से संबन्धित है। परन्तु कृष्ण-काव्य में प्रकृति का रूप भगवान् की लीला से तादात्म्य स्थापित करता है। वंशी वादन और रास-लीला के प्रसंग में प्रकृति के अधिकांश चित्रों में मुग्ध भाव के साथ उल्लास भी सन्निहित है। हितहरिवंश रास के प्रसंग में प्रकृति का उल्लेख करते हैं—'यमुना के तट पर आज गोपाल रसमय रास क्रीड़ा करते हैं। शरद-चन्द्र आकाश में सुशोभित हो गया है, चंपक, बकुल, मालती के पुष्प मुकुलित हो रहे हैं और उन पर प्रसन्न भ्रमरों की भीड़ है। इन्द्र प्रसन्न होकर निशान बजाते हैं जिसको सुनकर मुनियों का भी धैर्य छूटता है। मग्नमना श्यामा मन की पीड़ा को हरती है।'[६९] यहाँ प्रकृति की क्रियाशीलता में उल्लास की व्यञ्जना हुई है। गदाधर भी इसी प्रकार के प्रकृति रूप का संकेत देते हैं—'आज मोहन ने रास-मंडली रची है। पूर्ण चन्द्र उदित है, निर्मल निशा है और यमुना का सुन्दर किनारा है। पवन के संचरण से द्रुम पंखे के समान जान पड़ते हैं......कुंद, मंदार और कमल के मकरन्द से आच्छादित कुंज-पुंजों में भ्रमर सुन्दर गुंजार करते हैं।'[७०] इन प्रसंगों के अतिरिक्त वसंत, फाग और हिंडोला आदि लीलाओं में भी प्रकृति

---

६८ गीता०; तुलसी : अर० पद १

६९ कीर्त० (भाग १) : पृ० ३०७

७० वही; पृ० ३२४—'आज मोहन रची रासमंडली।'

भावमग्न चित्रित की गई है। परन्तु ऊपर के दोनों प्रसंग आध्यात्मिक भावना से अधिक संबन्धित हैं और उनमें लीलामय भगवान के सम्पर्क में प्रकृति के सत् को 'चिदानन्द' की ओर आकर्षित होते दिखाया गया है। वसंत आदि के प्रसंगों में प्रकृति का उल्लास उद्दीपन भावना से प्रभावित है और इन पर प्रचलित परम्पराओं का अधिक प्रभाव है। इनमें प्रकृति का प्रयोग भक्तों की मनःस्थिति में भगवान की शृंगार-लीला के लिए प्रकृति उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रयुक्त हुई है। नंददास वसंत के उल्लास का रूप उपस्थित करते हैं—

"चल वन देख सयानी यमुना तट ठाढ़ी छैल गुमानी।
फूले कदम्ब गहर पलास द्रुम त्रिविध पवन-सुखकारी॥
बहुरंग कुसुम पराग वहक रह्यो अलि लपेट गुजत मृदुवानी।
करि कपोत कोकिला ध्वनि सुनि ऋतु वसन्त लहकानी॥"[७१]

यहाँ प्रकृति की भावात्मकता अन्य भाव-स्थिति को लेकर है, इसलिए इन रूपों की विवेचना 'उद्दीपन-विभाव में प्रकृति' नामक प्रकरण में की जायगी। फिर भी भगवान की शृङ्गार लीला में यह प्रकृति-रूप आध्यात्मिक भावना को उद्दीप्त करने के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

× × ×

इस समस्त विवेचना के पश्चात् हम देखते हैं कि मध्ययुग की आध्यात्मिक साधना में प्रकृति रूपों का प्रयोग अनेक प्रकार से किया गया है। इन रूपों में प्रकृति प्रमुख नहीं है अर्थात् वह आलंबन प्रमुखतः नहीं है। फिर भी रूपों में अनेकता और विविधता है और व्यापक दृष्टि से भगवान के माध्यम से प्रकृति को महत्त्वपूर्ण स्थान भी मिला है। साथ ही इन कवियों तथा प्रकृतिवादियों के प्रकृति-रूपों में एक प्रकार की समानान्तरता भी देखी जा सकती है।

---

७१ वहीं; पृ० ३२२

षष्ठम् प्रकरण

विभिन्न काव्य-रूपों में प्रकृति

काव्य की परम्पराएँ

§ १—हिन्दी साहित्य के मध्ययुग की प्रमुख प्रवृत्तियों के विषय में विचार करते समय उस युग की स्वच्छंदवादी भाव धारा की ओर भी संकेत किया गया है। साथ ही उसकी विरोधी शक्तियों का उल्लेख किया गया है। इस पिछली विवेचना के आधार पर मध्ययुग के विभिन्न काव्य-रूपों और उनमें प्रयुक्त प्रकृति-रूपों पर विचार करना है। मध्ययुग के धार्मिक काल में हमको साहित्यिक अनुकरण की प्रवृत्ति मिलती है, जो आगे चलकर रीतिकाल में प्रमुख हो उठी है। इस कारण धार्मिक साहित्य में भी प्रकृति के रूपों का प्रयोग साहित्यिक रूढ़ियों के अन्तर्गत हुआ है। यद्यपि कहा गया है कि मध्ययुग के काव्य में प्रकृति के अनेक स्वच्छंद और उन्मुक्त रूप मिलते हैं। मध्ययुग के पूर्वार्द्ध धार्मिक काल में स्वच्छंद भावना का योग विभिन्न काव्य-रूपों में विभिन्न प्रकार से हुआ

। इन काव्य-रूपों के विकास में इस भावना का अपना योग रहा
। इस कारण इन काव्य-रूपों के अनुसार प्रकृति पर विचार करना
धिक उचित होगा। इन काव्य-रूपों की परम्पराओं में स्वच्छंदवादी
वृत्तियों के साथ प्रतिक्रियात्मक शक्तियों का हाथ रहा है। फल स्वरूप
नमें हम प्रकृति को मिश्रित संबन्धों में देख सकेंगे। जो काव्य परम्परा
स सीमा तक जिन प्रवृत्तियों से प्रभावित हुई है, उसमें प्रकृति के
प भी उसी प्रकार प्रभाव ग्रहण करते हैं। इस प्रकरण में मध्ययुग
ी समस्त काव्य परम्पराओं में प्रकृति के स्थान के विषय में विचार
या जायगा। परन्तु इस विवेचना में प्रकृति के उद्दीपन-रूपों को
ोड़ दिया गया है, क्योंकि यह अगले प्रकरण का विषय है। इसका अर्थ
ह नहीं है कि इस प्रकरण में प्रकृति का आलंबन संबन्धी दृष्टिबिन्दु
। वस्तुतः यहाँ विभिन्न काव्य-रूपों में प्रकृति के प्रयोगों को स्पष्ट
िया जायगा, साथ ही विशुद्ध उद्दीपन विभाव में आने वाले रूपों
ो छोड़कर अन्य रूपों को भी प्रस्तुत किया जायगा। यहाँ सुविधा के
नुसार मध्ययुग के समस्त काव्य-रूपों को चार परम्पराओं में
िभाजित किया जा सकता है। पहली परम्परा कथा-काव्य की है
जसमें कथानक और प्रबन्ध को लेकर चलनेवाले काव्य हैं। दूसरी
रम्परा गीति-काव्य की है जिसमें स्वतंत्र तथा घटना-स्थिति आदि से
बन्धित पद काव्य-रूप आता है। तीसरी परम्परा मुक्तक-काव्य की
जो गीति-काव्य से एक सीमा तक समान भी है; परन्तु इसमें भाव-
ालता के स्थान पर छंदमयता तथा कवित्व अधिक रहता है। चौथी
रम्परा रीति-काव्य की है जिसमें काव्य-शास्त्र का प्रतिपादन भी हुआ
और स्वतंत्र उदाहरण भी जुटाए गए हैं। इसके उदाहरण के
ंद मुक्तकों के समान हैं, केवल उनमें कवित्व का चमत्कार तथा
ढ़िवादिता अधिक है।

कथा-काव्य की परम्परा

§ २—जिस समय संस्कृत साहित्य में महाकाव्यों की परम्परा

चल रही थी और उनका रूप अधिक अलंकृत होता जा रहा था, उसी समय अपभ्रंश साहित्य में रामायण और महाभारत के समान चरित-काव्यों (प्रबन्ध-काव्यों) का प्रचार हो गया था। इन चरित-काव्यों के प्रचार का कारण, जैनों का इस माध्यम से अपने धर्म को जनता तक पहुँचाने का विचार था। इन काव्यों में दोहा-चौपाई छंद का प्रयोग भी मिलता है। इनके विषय में एक प्रमुख बात यह है कि इनमें कलात्मकता तथा आलंकारिता से अधिक ध्यान कथा और धार्मिक सिद्धान्तों की ओर दिया गया है। फिर भी अपभ्रंश के कवियों के सामने साहित्यिक परम्परा अवश्य थी। वर्णनों को लेकर यह बात स्पष्ट है, इनमें ऋतुओं, वन-पर्वतों तथा प्रातः सन्ध्या आदि का वर्णन संस्कृत काव्यों के समान मिलता है। लेकिन ऐसा होने पर भी इन गाथा-काव्यों में कथात्मकता को लेकर जन-रुचि का ध्यान है; साथ ही प्रकृति-रूपों में स्थान स्थान पर स्वच्छंद भावना है और वर्णना में स्थानगत विशेषताओं का संयोग हुआ है। कथा के प्रति आकर्षण जनता की स्वाभाविक रुचि है। जनगीतों में भी लोक प्रचलित कथाओं का आधार रहता है। जनगीतों की कथाओं में भावों का प्रगुम्फन और प्रकृति का वातावरण भी उन्मुक्त और स्वच्छंद रहता है। अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्यों में धार्मिक वातावरण है और सामन्ती कवियों में शृंगार की भावना अधिक है। इसी अपभ्रंश साहित्य के लगभग समानान्तर संस्कृत का पौराणिक साहित्य चलता है। एक सीमा तक ये दोनों साहित्य एक दूसरे से प्रभावित हुए हैं। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक युग में रासो की परम्परा अपभ्रंश के सामन्ती वीर-काव्यों की परम्परा है। इसमें भी हमको शृंगार और वीर रस की भावना प्रमुखतः मिलती है और साहित्यिक रूढ़ियों का अनुकरण तथा अनुसरण दोनों ही पाया जाता है।

मध्ययुग के कथा-काव्य का विकास

हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के कथा-काव्यों पर इन पिछली

परम्पराओं का प्रभाव है। यह प्रभाव कथा और उसके रूप से संबन्धित तो है ही; साथ ही राम-काव्य तथा सूफ़ी प्रेमाख्यानों में धार्मिक प्रतिपादन और साहित्यिक आदर्शों का पालन भी है। परन्तु जैसा द्वितीय प्रकरण में देखा गया है व्यापक रूप में इस युग के कथा-काव्य में उन्मुक्त वातावरण मिलता है। इस युग में 'ढोला मारूरा दूहा' जैसे कथात्मक लोकगीत भी मिलते हैं। इसमें भावों के साथ प्रकृति को भी उन्मुक्त वातावरण मिल सका है। वस्तुतः इस युग की कथात्मक लोक-भावना को समझने के लिए यह काव्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रेम-काव्यों में जिनमें सूफ़ी तथा स्वतंत्र दोनों ही कथानक आ जाते हैं, यही भावना प्रचलित रूपों के साथ ग्रहण की गई है। इनमें साहित्यिक परम्परा की झलक किसी-किसी स्थल पर मिलती है। सूफ़ियों की आध्यात्मिक भावना बहुत कुछ स्वच्छंद भावना से तादात्म्य स्थापित करती है। तुलसी के 'रामचरितमानस' में पौराणिक धार्मिक-प्रतिपादन शैली के साथ साहित्यिक आदर्शों को भी अपनाया गया है। अपनी प्रवृत्ति में आदर्शवादी होने के कारण, एक सीमा तक काव्य के स्वच्छंद वातावरण को अपनाकर भी तुलसी प्रकृति के प्रति उन्मुक्त नहीं हो सके हैं। इस मध्ययुग में संस्कृत महाकाव्यों के समान कोई रचना नहीं हुई है; लेकिन अलंकृत भावना को लिए हुए कुछ काव्य मिलते हैं। केशवदास की 'रामचन्द्रिका' और पृथ्वीराज की 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' इस प्रकार के प्रमुख कथा-काव्य हैं। इनमें परम्परा पालन तथा रूढ़िवादिता अधिक है, इसी कारण इनमें प्रकृति वर्णना अलंकृत हो उठा है। इन काव्यों में हम देखेंगे संस्कृत महाकाव्यों के समान प्रकृति के स्थलों का चुनाव है और वर्णनों में वैचित्र्य की भावना भी है।

§ ३—कथा-काव्यों में प्रेम काव्य अपनी प्रकृति और परम्परा दोनों ही में जन-जीवन के अधिक निकट है। इनमें जन-जीवन से संबन्धित प्रेम के संयोग-वियोग, दुःख सुख के चित्रों का समावेश है। इसी के अनुसार इनमें जन-रुचि के अनुकूल कहानियों को लिया

गया है. प्रेम-काव्यों की कथात्मक श्रृंखला में गीति-भावना का सम्मिलन हुआ है। जन-जीवन की निकटतम दुःख-सुखमयी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के उन्मुक्त और स्वच्छंद वातावरण में ही गीतियाँ पलती हैं। जीवन की छोटी परिस्थिति भावना की हलकी अभिव्यक्ति से मिलजुल कर जनगीतियों में आती है। वस्तुतः जीवन की यही परिस्थिति, भावना का यही रूप जन-कथा की लोकप्रियता के साथ हिलमिल जाता है। और तब वही जन-गीति कथात्मक हो उठती है। परन्तु अपने समस्त विस्तार में जन-गीति कथात्मक होकर भी कथामय नहीं हो पाती। जन-गीति और कुछ दूर तथा काव्य-गीति भी, किसी वस्तु-स्थिति के आधार के रूप में ही ग्रहण करती है। यही कारण है कि इसमें कथा का रूप भाव-स्थितियों को आधार देने के लिए होता है। इसमें कथा अपने आप कहीं भी प्रमुख नहीं होती। मध्ययुग के कथा-काव्य का संबन्ध इन गीतियों से अवश्य रहा है। प्रवन्धात्मक कथा-काव्यों की मूल प्रेरणा का स्रोत ये ही हैं। वाद में अवश्य इनको पौराणिक कथा-साहित्य का आधार और जैन कथा परम्परा का रूप मिल सका है। इन कथा-काव्यों में प्रेम का उन्मुक्त वातावरण लोक प्रचलित कथा-गीतियों से अधिक संवन्धित है। इस प्रकार वे कथात्मक गीत-काव्य के रूप में हमारे सामने केवल 'ढोला मारूरा दूहा' है जिसके आधार पर हम देख सकेंगे कि अन्य समस्त प्रेम कथाओं का रूप किस प्रकार को स्वच्छंद भावन से विकसित हो सका है। इस प्रकार की प्रेम-कथाओं के साहित्य में दो रूप मिलते हैं। एक रूप में प्रेम कहानी को लौकिक अर्थ में ग्रहण किया गया है और दूसरे में आध्यात्मिक अर्थ में। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है। लोक कथा-गीति 'ढोला मारूरा दूहा' और अन्य प्रेम संवन्धी स्वतंत्र काव्यों में भेद है और इसको लेकर इनके प्रकृति-रूपों में भी अन्तर है। प्रेमाख्यान काव्यों में कथानक संवन्धी प्रवन्ध-काव्यों की परम्परा का प्रभाव

लोक-गीति तथा प्रेम कथा-काव्य

पड़ा है और इस सीमा में स्वतंत्र तथा सूफ़ी दोनों प्रेम-काव्य की परम्पराएँ समान हैं। जहाँ तक 'ढोला मारूरा दूहा' का प्रश्न है यह कथा-काव्य के उन्मुक्त और गीति काव्य के स्वच्छंद रूप की मिश्रित वस्तु है। इस लोक-गीति में प्रेम-कथा और प्रेम-गीति दोनों के मूल रूप निहित हैं। यही कारण है कि इसमें ज' प्रकृति संबन्धी भावना पाई जाती है, उसका एक दिशा में विकास कथात्मक प्रेम-काव्यों में हुआ है और दूसरी दिशा में गीतियों में हो सका है।

§४—'ढोला मारूरा दूहा' कथा-काव्य होकर भी लोक-गीत के रूप में है। लोक भावना में व्यंजना हो प्रधान है, पर लोक-गीति अपनी गीत्यात्मकता में वस्तु और स्थिति का आधार ग्रहण करती है। यही बात कथात्मक गीतियों को लेकर भी है। इनमें कथा की भूमि प्रेम-शृंगार के संयोग-वियोग पक्षों से संबन्धित रहती है। लेकिन यह कथा विभिन्न भाव-व्यंजनाओं को सूक्ष्म आधार प्रदान करती ह। इस कारण कथात्मक लोक-गीतियों में वस्तु या स्थिति के आधार रूप में प्रकृति-चित्रण को स्थान नहीं मिल सका। प्रकृति का यह रूप प्रबन्ध-काव्यों और महाकाव्यों में उपस्थित होता है। फिर भी केवल आधार प्रस्तुत करने के लिए, देश काल की स्थिति का भान कराने के लिए 'ढोला मारूरा दूहा' में ऐसे चित्र आए हैं। परन्तु देश का वर्णन हो अथवा ऋतु के रूप में काल का वर्णन हो, यह प्रकृति-रूप गीति की प्रवाहित भावना का आधार प्रस्तुत करने के लिए ही है। इसमें मारवाणी और मालवणी के वार्तालाप में मारू और मालव का देशगत वर्णन हुआ है। यहाँ वर्णन तो प्रशंसा और निन्दा की दृष्टि से किया गया है, लेकिन इसी के साथ रेखा-चित्रों में देशों का वर्णन भी हुआ है। लोक-कवि की भावना राजस्थान के मारू प्रदेश के प्रति अधिक संवेदनशील रह सकी है। इन वर्णनों में विशेषताओं का उल्लेख अधिक है, प्रकृति-चित्रण का तो संकेत मात्र है। मालवणी निन्दा के

स्थानगत रूप-रंग
(देश)

साथ मारु-प्रदेश का रेखा-चित्र उपस्थित करती है—'हे बाबा, ऐसा देश जला दूँ जहाँ पानी गहरे कुओं में मिलता है और जहाँ (लोग) आधीरात से ही पुकारने लगता है: मानों मनुष्य मर गया हो।...हे मारवणी, तुम्हारे देश में एक भी कष्ट दूर नहीं होता, या तो प्रयाण होता है, या वर्षा नहीं होती अथवा फाका या टिड्डी पड़ती है।... जिस देश में पीणे साँप है, जहाँ करील और ऊँटकटारा घास ही पेड़ गिने जाते हैं, जहाँ आक और फोग के नीचे ही छाया मिलती है।'[१] इसी प्रकार मारवणी के उत्तर में मालव का हलका रेखा-चित्र है—'बाबा, उस देश को जला दूँ जहाँ पानी पर सेवार छाया रहता है। जहाँ न तो पनिहारियों का झुण्ड आता जाता रहता है और न कुओं पर पानी भरनेवालों का लयपूर्ण स्वर सुनाई देता है।'[२] इनमें केवल उल्लेख है, प्रदेशगत प्रकृति का रूप नहीं आ सका है। इन गीतयों में गायक की भावना के साथ छोटे छोटे संकेत भी पूरे चित्र की योजना रखते हैं और इन्हीं संकेतों के आधार पर गायक की कथा चलती रहती है। इसी प्रकार का एक संकेत-चित्र बीसू चारण ढोला को देता है—'मारवाड़ की रेतीली भूमि वर्षा के अधिक भाग में भूरे रंग की दिखाई देती है: वहाँ के वन विशीर्ण और झंखाड़ हैं—चंपा उत्पन्न नहीं होता, लेकिन चंपा से भी बढ़कर अपने गुणों से सुगन्धित करने-वाली स्त्रियाँ होती हैं।'[३] ढोला मार्गस्थ कुएँ का उल्लेख करता है—'पानी कुओं में बहुत गहरा मिलता है और डूँगरों पर कठिनाई से चढ़ा जाता है। मारवणी के कारण ऐसे अपूर्व देशों को देखा...कुओं में पानी इतना गहरा है कि तारे की तरह चमकता है।'[४]

---

१ दो० मा० दू० : सं० ६५५, ६६०, ६६१

२ वही : सं० ६६४

३ वही : सं० ४६८

४ वही : सं० ५२३, ५२४

क—इस लोक-गीत में जिस प्रकार देश की कोई निश्चित रूप-रेखा नहीं है, उसी प्रकार काल भी किसी सीमा में प्रस्तुत नहीं हुआ है। व्यापक रूप से साधारण विशेषताओं के साथ ऋतुओं का उल्लेख किया गया है। इसका कारण भी वही है। लोक-गीति की भाव-धारा में देश और काल दोनों साधारण रूप में आधार भर प्रस्तुत करते हैं। ढोला के प्रस्थान के प्रसंग में इसी प्रकार ऋतुओं का उल्लेख किया गया है। मालवणी ग्रीष्म के बारे में कहती है—'भूमि तपी हुई है, लू सामने है। हे पथिक, (यदि मारवणी के देश गए) तो तुम जल जाओगे। जो हमारा कहना करो तो घर ही रहो।' आगे ढोला और मारवणी के वार्तालाप में वर्षा का वर्णन आता है। मारवणी के द्वारा वर्णित प्रकृति में भावात्मक उत्सुकता (उद्दीपन रूप में) सन्निहित है; उसके द्वारा वह ढोला को रोकना चाहती है। परन्तु ढोला द्वारा उल्लिखित चित्रों में संक्षिप्त संश्लिष्टता है।...'पग-पग पर मार्ग में पानी भर गया है, ऊपर आकाश में बादलों की छाया हो गई है। हे पद्मनी, वर्षा ऋतु समाप्त हो गई, अब कहो तो पूगल जावें। रात भर कुंभों का शब्द सुहावना लगता है; सरोवर का जल कमलिनियों से आच्छादित हो गया है।' आगे वर्षा का चित्र अधिक स्पष्ट हो उठता है—'बाजरियाँ हरी हो गईं और उनके बीच की बेलों में फूल छा गए। यदि भादों भर बर्षता रहा तो मारू देश अमूल्यों होगा।'[५]

काल

ख—मालवती अपने वर्णनों में भावात्मक वातावरण उपस्थित करती है—'जिस ऋतु में वर्षा खूब झड़ी लगाती है और पपीहे बोलते हैं, उस ऋतु में, हे प्रिय स्वामिन, बताओ भला कौन घर छोड़ता है'। मालवणी द्वारा प्रस्तुत चित्रों में मनःस्थिति के समानान्तर उद्दीपन का रूप

वातावरण में भाव-व्यंजना

---

५ वही : सं० २४१, २४३, २२४, २५०

छिपा हुआ है, पर उनसे वातावरण का निर्माण भर होता है— 'पपीहा पिउ-पिउ कर रहा है, कोयल सुरंगा शब्द बोल रही है......। पहाड़ियाँ हरी हो गईं, वनों में मोर कूकने लगा......। बादलों की घटाएँ फौज हैं, बिजली तलवार हैं और वर्षा की बूँदे बाण की तरह लगती हैं......। वर्षा ऋतु में नदियाँ, नाले और झरने पानी से भरपूर चढ़े हुए हैं। ऊँट कीचड़ में फिसलेगा......। घने बादल उमड़ आए हैं। अत्यन्त शीतल झड़ी की वायु चल रही है। बेचारे बगुले पृथ्वी पर पैर नहीं रखते। चारों ओर घने बादल हैं, आकाश में बिजली चमकती है।......ऐसी हरियाली की ऋतु भली है।...... पपीहा करुण शब्द करता है और वर्षा की झड़ी लगी रहती है। पृथ्वी पर मोर मण्डप बना कर (पिच्छ फैला कर) नाच रहे हैं।......वन हरियाली धारण करते हैं और नदियों में पानी कलकल करता हुआ बहता है।......वर्षा की झड़ी लगी रहती है और ठण्डी हवा चलती है।......काली कंठुलीवाली बदली बरस कर हवा को छोड़ रही है।'[६] इस वर्षा-ऋतु के चित्र में स्थानगत रूप रंगों की कल्पना वातावरण का निर्माण करती है। परन्तु इस समस्त चित्र-योजना में मनःस्थिति का एक रूप प्रत्यक्ष हो उठता है—'इस ऋतु में कोई घर छोड़ता है? कैसे बीतेगी? और ऋतु में प्यारे बिना कोई जिएगा कैसे प्रिय बिना रात कैसे बीतेगी और विरहिणी धैर्य धारण कैसे करेगी?' यह अदृश्य समानान्तर भावना प्रकृति को उद्दीपन-रूप के निकट पहुँचा देती है। प्रकृति का यह रूप अन्य प्रकरण का विषय है। वस्तुतः लोक-गीति में मानवीय भावों का प्रसार ऐसा व्यापक हो उठता है कि उसमें गीतकार की आश्रित भावना का आलंबन स्वतंत्र रूप से प्रकृति नहीं हो पाती। यद्यपि इन गीतियों में प्रकृति के प्रति सहज सहानुभूति और स्वाभाविक सहचरण की प्रवृत्ति रहती है। इस कथात्मक लोक-गीति को काव्य का रूप

---

६ वही : सं० २४६, ४७; २५२—६७

मिला है, इस कारण कुछ स्थलों पर पृष्ठ-भूमि का संकेत मिलता है।... ढोला के मार्ग में—'दिन बीत गया, आकाश में अंबर-डंबर छा गए। झरने नीलायमान हो गए।' और आगे—'काली कंठुलीवाले मेघों में बिजली बहुत नीचे होकर चमक रही है...संध्या समय आकाश में बादलों की काली कोरोंवाली घटा उमड़ती आ रही है।'[७]

लोक-गीति में स्वच्छंद भावना

§ ५—हम कह चुके हैं कि मध्ययुग के काव्य ने स्वच्छंदवादी प्रवृत्तियों को अपनाया है। स्वच्छंदवादी कवि जब प्रकृति के प्रति आकर्षित होता है और उसे अपना आलंबन बनाता है, उस समय प्रकृति के प्रति उल्लास और आनन्द की भावना व्यक्त होती है। साथ ही वह अपने जीवन, अपनी चेतना तथा भावना को प्रकृति में प्रतिबिंबित पाता है। व्यापक अर्थों में यह कवि की अपने 'स्व' के प्रति ही सहानुभूति की भावना, सहचरण की प्रवृत्ति है जो इस प्रकार प्रकृति में प्रतिघटित हो उठती है। इसी प्रकार जब आलंबन का माध्यम दूसरा व्यक्ति होता है, उस समय भी प्रकृति इस भाव-स्थिति से प्रभावित होकर उपस्थित होती है। यह भी प्रकृति के प्रति हमारी सहज और उन्मुक्त भावना का ही रूप है: यह रूप उद्दीपन-विभाव के निकट होकर भी उससे भिन्न है। लोक-गीतियों में यह भावना अधिक मुक्त और स्वच्छंद रहती है इस कारण भी उद्दीपन की साधारण रूढ़ि से यह रूप अलग लगता है। अन्य गीतियों के समान ही 'ढोला मारूरा दूहा' में वियोग की भावना व्यापक है। इस व्याप्त भावना की स्थायी-स्थिति के साथ प्रकृति का रूप बहुत सहज बन पड़ा है।

क—इस लोक-गीति में सहानुभूति के वातावरण और सहचरण की भावना में प्रकृति निकट के संबन्ध में उपस्थित हुई है। प्रकृति का

७ वही ; सं० ४९१, ५११, ५२२

उल्लास वियोग की स्थिति में उद्दीपन का काम करता है; पर प्रकृति के प्रति जो सहानुभूति की भावना सन्निहित है उससे वियोगिनी प्रकृति से संबन्ध स्थापित करती हुई उपालम्भ देती है—

व्यापक सहानुभूति

"बिज्जुलियाँ नीलज्जियाँ, जलहर तूँ ही लज्जि।
सूनी सेज विदेस प्रिय, मधुरइ मधुरइ गज्जि॥"

मारवाणी के इस उपालंभ में मेघ के प्रति गहरी आत्मीयता का भाव छिपा हुआ है। इसी प्रकार मालवणी भी हार्दिक सहानुभूति के वातावरण में उपालंभ की भावना से प्रश्नशील हुई है– 'हे बूर (घास), तू सूखे और रेतीले थल पर जल बिना क्यों डहडही हो रही है। तूने मिष्टभाषी और सहनशील प्रियतम को दूर भेज दिया है। थली पर स्थित हे जाल तू जल बिना कैसे हरी हो रही है, क्या तुझे प्रियतम ने सींचा है या अकाल वर्षा हुई है।'[८] वियोग वेदना में प्रकृति के उपकरणों के प्रति इस ईर्ष्या की हलकी भावना में भी सहानुभूति का प्रसार है। मानव के हृदय में प्रकृति के प्रति जो सहानुभूति की स्थिति है, वही अपने दुःख-सुख में प्रकृति से समान व्यवहार की आशा करती है। मानव प्रकृति को उसी भावना से युक्त समान आचरण करता हुआ पाता भी है। साहित्य में चातक, पपीहा और चकोर आदि का प्रेम उदाहरण माना गया है। लोक-गीति की वियोगिनी अपनी व्यथा में इन पक्षियों को समान रूप से उद्वेलित पाती है—

"बाबहियउ नइ विरहणी, दुहुवाँ एक सुहाव।
जब ही बरसइ घण घणउ, तब ही कहइ प्रियाव॥"

पपीहा ही नहीं सारस भी अपनी व्यथा में समान है—

"राति जु सारस कुरलिया, गुंजि रहे सब ताल।
जिण की जोड़ी बीछड़ी, तिणका कवन हेवाल॥"

---

८ वही; सं० ५० [बिजलियाँ तो निर्लज्ज हैं। हे जलधर तू ही

साथ ही कुररी पक्षी का करुण रव वियोगिनी को अपनी व्यथा की याद दिलाता है। वह उसके दुःख में जैसे अपनी व्यथा में भी संवेदनशील हो उठती है—'करील की ओट में बैठकर कुंभ पक्षी कुरलाए, जिसको सुनकर प्रियतम की स्मृति शरीर में सार की तरह सालने लगी। समुद्र के बीच में बीट का तेरा घर है, जल में तेरी संतान की उत्पत्ति होती है। हे कुंभ, कौन से बड़े अवगुण के कारण तू आधी रात को कूक उठी। कुररी पक्षियों ने करुण-रव किया और मैंने उनके पंखों की वायु सुनी। जिसकी जोड़ी बिछुड़ गई हो, उसको रात में नींद नहीं आती।'[१]

ख—हम कह चुके हैं कि मानव में सम-भावना के आधार पर प्रकृति-रूपों के प्रति सहचरण की प्रवृत्ति है। यह मानवीय आलंबन की किसी भाव-स्थिति में उद्दीपन-विभाव से संबन्धित है, परन्तु इसका मूल प्रकृति के प्रति हमारी सहानुभूति में है। इस सीमा में प्रकृति का रूप उद्दीपन नहीं माना जा सकता। सहचरण की प्रवृत्ति के साथ प्रकृति के विभिन्न रूप अनेक संबन्धों में उपस्थित होते हैं। इस स्तर पर वे प्रिय सखा, सहचर या दूत हो जाते हैं। लोक-गीति की वियोगिनी पशु-पक्षियों से अपने सुख-दुःख की बात कहती है और प्रिय के प्रति अपना संदेश भी भेजती है। मारवाणी पपीहा की सहायता चाहती है—

सहचरण की भावना

लज्जित हो। मेरी शैय्या सूनी है, मेरा प्यारा विदेश में है...मधुर मधुर शब्द से गरज]; २९०—९१

१. वही : सं० २७; ५३ [पपीहा और विरहिणी दोनों ही का एक स्वभाव है। जब जब मेघ बरसता है, ये दोनों ही 'पी आव' पुकारते हैं।... रात में सारस जो करुण स्वर से बोले तो सारा सरोवर गूंज उठा। भला जिनकी जोड़ी बिछुड़ गई हो उनकी क्या दशा होती होगी]; ५६—४८.

"बाबहिया, चढ़ि गउखसिरि, चढ़ि ऊँचइरी भीत।
मत ही साहिब वाहुड़इ, कउ गुण आवइ चीत॥"

फिर वियोगिनी पपीहे के स्वर से अपनी बढ़ती हुई व्यथा से विह्वल होकर उसे मना करती है—'हे नीले पंखोंवाले पपीहे, तेरी पीठ पर काली रेखाएँ हैं। तू मत बोल! वर्षा ऋतु में तेरा शब्द सुनकर विरहिणी कहीं तड़प तड़पकर प्राण न दे दे।' फिर वह उसके शब्द से क्रुद्ध हो उठती है और आकाश से कहती है—'हे नीले पंखोंवाले पपीहे, तू नमक लगाकर मुझे काट रहा है। 'पिउ' मेरा है, और मैं 'पिउ' की हूँ, भला तू 'पिउ पिउ' कहनेवाला कौन है।' और अंत में आग्रह के साथ समझाने लगती है—

"बाबहिया रत-पंखिया, बोलइ मधुरी वाँणि।
काइ लंबवउ माठि करि, परदेसी प्रिय आँणि॥"[10] ..

इस मीठे आग्रह में कितनी निकटता और साहचर्य की भावना प्रकट होती है। मारवणी कुररी से पंख मांगती है और इसमें भी यही भावना क्रियाशील है। प्रकृति की उन्मुक्त स्वतंत्रता से जैसे समस्थापित करती हुई वह कहती है—

"कुंझा येउ नइ पंखड़ी, थाँकउ विनउ वहेसि।
सायर लंघा प्री मिलउँ, प्री मिलि पाछी देसि॥"[11]

---

१० वही : सं० २८ [हे पपीहा, गोखे पर चढ़ या ऊँची भीत पर बैठ और टेर लगा। प्रियतम को कदाचित् कोई गुण याद आवे और आते हुए कहीं वे लौट जाँय ?]; ३१; ३३; ३४ [हे लाल पंखों वाले पपीहे, तू मीठी वाणी बोलता है। तू या तो बोलना बंद कर दे और या मेरे परदेशी प्रियतम को यहाँ ला दे]

११ वही : सं० ६२ [हे कुंझ, मुझे अपनी पाँख दो। मैं तुम्हारा याना बनाऊँगी और सागर को लाँघकर प्रियतम से मिलूँगी और मिल कर तुम्हारी पाँखें लौटा दूँगी।]

मालवणी की आकाँक्षा में प्रकृति के साथ सहचरण की भावना का यही रूप सन्निहित है। मारवणी की प्रार्थना में जो प्रत्यक्ष है, वही मालवणी की लालसा में मन की भावना का रूप है। दोनों ही प्रकृति की स्वतंत्र चेतना से सम स्थापित करती हैं। इस प्रसंग में वियोग के स्थायी रति-भाव के साथ प्रकृति का उद्दीपन-रूप भी है, जिसका अन्य प्रकरण में उल्लेख किया गया है। मालवणी अपने प्रिय से मिलने की उत्सुकता में कहती है—'हे विधाता, तूने मुझे मरु देश के रेतीले स्थल के बीच में बबूल क्यों नहीं बनाया, जिससे पूगल जाते समय प्रियतम छड़ी काटते और उनके हाथों के स्पर्श का फल पाती। हे विधाता, मुझे श्यामल बदली ही क्यों न बनाया जिससे मैं आकाश में छाई रहती और साहकुमार के मार्ग पर छाया करती रहती।'

(!)—प्रकृति के प्रति सहचरण की भावना से प्रेरित होकर पक्षियों आदि से संदेश भी भेजा जाता है। इसी के आधार पर संस्कृत साहित्य में दूत-काव्यों की परम्परा चली है। हिन्दी साहित्य में ऐसी परम्परा तो नहीं चल सकी है, पर इसका रूप प्रेम-काव्यों में मिलता है। इस लोक-गीति में भी प्रकृति से यह संबन्ध सहज रीति से स्थापित किया गया है। सहानुभूति के सहज वातावरण में मारवणी कुंझों से अपना संदेश ले जाने की प्रार्थना करती है—

दूत का कार्य

> "उत्तर दिसि उपगटियाँ, दक्षिण साँमहि बाँह।
> कुरझाँ, एक संदेसड़उ, ढोलानइ कहियाह॥"

प्रकृति के प्रति इस मानवीय सहानुभूति के साथ यदि कुंझ मारवणी को उत्तर देती है, तो आश्चर्य नहीं। लोक-गीति भावना के अनुरूप ही यह उत्तर है—'मनुष्य हों तो मुख से कहें, हम तो बेचारी कुंझ हैं। यदि प्रियतम का संदेशा भेजना हो तो हमारी पाँखों पर लिख दो।' और मारवणी के उत्तर में निकट स्नेह की व्यंजना हो हुई है—

"पाँखे पाँणी थाहरइ, जलि काजल गहिलाइ।
सपणाँ तणाँ सँदेसड़ा, मुख वचने कहिवाइ॥"[१२]

लोकगीत की भाव-धारा में इसी प्रकार ऊँट वालता और कार्य्य करता है। जन-गायक उसके चरित्र में सहानुभूति, उदारता, स्वाभिमान आदि मानवीय गुणों का आरोप करता है। मालवणी ने ढोला को मार्ग से लौटाने के लिए सुए को भेजा है।

× × ×

§ ६—इसी लोक-गीत की कथात्मक परम्परा में प्रेम-काव्यों का विकास हुआ है। परन्तु जैसा कहा गया है प्रेम कथा-काव्यों में जैनी चरित्र-काव्यों का तथा सूफ़ी मसनवियों की प्रतीक भावना का प्रभाव पड़ा है। इस कारण इनका वातावरण जन-कथा-गीति जितना उन्मुक्त नहीं है। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में इन प्रेम-काव्यों की दो परम्पराएँ हैं। परन्तु वे एक दूसरे से इतनी प्रभावित हैं कि प्रकृति-रूपों के क्षेत्र में उनमें कोई भेद नहीं है। केवल उन्मुक्त प्रेम-काव्यों में प्रेम का स्वतंत्र वर्णन है और सूफ़ी काव्यों में प्रेम की आध्यात्मिक व्यंजना है। वैसे अभिव्यक्ति के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा और व्यापक संवेदना के कारण जायसी में प्रेम संबन्धी अधिक स्वच्छंद वातावरण मिलता है। और उनके काव्य में प्रकृति के प्रति भी अधिक उन्मुक्त भावना है। उन्मुक्त प्रेम-काव्यों पर सूफ़ी काव्यों की छाप है।[१३] आध्यात्मिक अभिव्यक्ति को छोड़कर, प्रेम की

प्रेम कथा-काव्य

१२ वही : सं० ६४ [हे कुंझ, उत्तर दिशा की ओर पाठ किए हुए दक्षिण दिशा की ओर चलकर ढोला से एक संदेश कहना] : ६५; ६६ [तुम्हारी पाँवों पर पानी पड़ेगा, जिससे स्याही जल में बह जायगी। प्रियतम का संदेशा तो मुख से ही कहलाया जाता है]

१३ उन्मुक्त प्रेम-काव्यों में प्रमुखतः माधवानल कामकंदला, नलदमन काव्य, पुहुपावती तथा विरहवारीश (माधवानल कामकंदला आलमकृत) का उपयोग यहाँ किया गया है जो सभी जायसी के 'पद्मावत' के बाद के परवर्ती काव्य हैं।

व्यंजना और प्रकृति के रूपों के संबन्ध में इन काव्यों में सूफ़ी परम्परा में समता है। इन समस्त प्रेम कथा-काव्यों में वर्णना के क्षेत्र में अपभ्रंश चरित-काव्यों का अनुसरण है, केवल इन कवियों ने प्रेम तथा आध्यात्मिक सत्यों की व्यंजना इन वर्णनों के माध्यम से की है। जहाँ तक ऋतु-वर्णन, बारहमासा अथवा अन्य प्रकृति-रूपों का प्रश्न है इनमें जन गीतियों का स्वच्छंद वातावरण मिलता है। ये काव्य अपने कथानकों में प्रबन्धात्मक हैं। कथा के रूप में इनमें घटनाओं और क्रियाओं की शृंखला चलती है। घटना क्रिया की शृंखला में देश-काल की सीमाएँ भी आवश्यक हो जाती हैं। इसलिए इन काव्यों में कथानक के बीच में स्थानगत प्रकृति वर्णना को स्थान मिल सका है। संकेत किया गया है कि संस्कृत महाकाव्यों में कथा का मोह अधिक नहीं है, उनके चरित्र तो प्रसिद्ध और ज्ञात ही अधिक हैं। इसलिए इन काव्यों में वर्णना सौन्दर्य की दृष्टि से प्रकृति को स्थान मिला है। परन्तु मध्ययुग के प्रबन्ध-काव्यों की स्थिति भिन्न है। इन काव्यों में घटनात्मक कथानकों का मोह कम नहीं है, क्योंकि ये काव्य जनता के निकट के हैं। जन-रुचि में कथात्मक कौतूहल के लिए स्थान रहता है। इसलिए इनमें प्रकृति को केवल वर्णना-सौन्दर्य की दृष्टि से स्थान नहीं मिला है। साथ ही कथाकार अपनी प्रेम भावना से इतना अधिक आकर्षित रहा है कि उसको कथा के आधार में प्रस्तुत प्रकृति के आकर्षण का ध्यान ही नहीं है। जिन स्थलों पर प्रकृति उपस्थित हुई है उनमें वह भावों को प्रतिबिंबित अथवा उद्दीप्त करती है।

१७—इन प्रेम काव्यों में विशुद्ध आलंबन के रूप में प्रकृति का चित्रण नहीं के बराबर हुआ है। जहाँ स्थान या वातावरण के रूप में

प्रकृति का वर्णन

प्रकृति का चित्रण किया गया है उनमें भी या तो कथा निहित भावों की पृष्ठ-भूमि के रूप में उसका प्रयोग हुआ है, या उसपर आध्यात्मिक भावना का प्रतिबिंब है। परन्तु

आध्यात्मिक भावना कवि के हृदय के आश्रय में अवलंवित है, इस कारण इस रूप में प्रकृति आलंबन के समान है। यद्यपि जिस रूप में प्रकृतिवादी कवि के लिए प्रकृति आलंबन है, उस रूप में इन प्रेमी कवियों के लिए नहीं है। सूफी साधकों के लिए लौकिक कथा के आधार पर चलने वाली भावनाएँ ही अलौकिक और अप्रत्यक्ष का संकेत देती हैं। इस कारण प्रकृति में भावों का प्रतिबिंब, उनकी व्यंजना, उद्दीपन-रूप प्रकृति के समान सामाजिक और आध्यात्मिक भाव-स्थितियों से अधिक सम्बन्धित है। प्रकृति के इन रूपों की विवेचना 'आध्यात्मिक साधना' के प्रसंग में की जा चुकी है। यहाँ इन स्थलों का कथानक में क्या स्थान है, इस पर विचार करना है। साथ ही इन वर्णनों की शैली के विषय में भी संकेत किया जायगा।

क—प्रेम-काव्यों के प्रारम्भ में, बोधा कृत 'विरहवारीश' को छोड़कर लगभग सभी में सृष्टा के रूप में ईश्वर की वन्दना है। यह व्यापक रूप से प्रकृति का वर्णन ही कहा जा सकता है। परन्तु इन वर्णनों में किसी प्रकार की वर्णनात्मक योजना नहीं है। इनमें अधिकतर उल्लेखात्मक चित्र हैं। प्रेम-काव्य का कवि बताता जाता है सृष्टा ने ऐसा किया, ऐसा किया, कहीं चित्र को संश्लिष्ट बनाने की चेष्टा नहीं करता। कहीं एक दो स्थल ऐसे आ गए हैं जिनमें व्यापक रेखा-चित्रों का भास मिलता है—

आलंबन के स्वतंत्र चित्र

"जहवाँ सिन्धु अपार अति, बिनु तट बिनु परि मान।
सकल सृष्टि तेहिमाँ गुपुत, बालू कनक समान॥"[१४]

उसमान के इस रेखा-चित्र में असीम समुद्र के व्यापक प्रसार के साथ व्याप्त सृष्टा के सर्जन का रूप 'बालू कनक' के समान व्यक्त हो उठा है। उसी प्रकार दुखहरनदास कहते हैं—'रात्रि और दिवस, फिर

१४ चित्रा०; उस० : १ स्तुति-खंड, दो० २

प्रातः और सन्ध्या तुम्हीं ने तो बनाया है। यह सब सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा दीपक का प्रकाश तुम्हारा ही किया है।'[१५] इसमें एक व्यापक सर्जन का अस्पष्ट सा रेखा-चित्र आ सका है। इस प्रकार इन काव्यों में कथानक की भाव-धारा से अलग केवल घटना-स्थिति के आधार रूप में प्रकृति को स्थान नहीं मिला। इसका कारण है। प्रेम-कथा का कवि अपनी प्रेम भावना से इतना संवेदनशील हो जाता है कि प्रकृति के स्थानगत रूपों में भी उसी का व्यंजना करने लगता है। इन काव्यों में वन, उपवन, पर्वत, सरोवर, समुद्र आदि के वर्णन का अवसर आया है, परन्तु इन सभी स्थलों पर चित्रण की रूपात्मकता से अधिक भावात्मक व्यंजना है। जायसी में एक भी स्थल ऐसा नहीं है जिसके चित्रण में आध्यात्मिक अथवा भावात्मक व्यञ्जना न हो। उसमान की 'चित्रावली' में ऐसे चित्र अवश्य हैं। कवि एक आँधी का वर्णन करता है—

"आधे पंथ पहूँचे आई। उठी बाउ आँधी पहुआई।
स्याम घटा आँधी अधिकाई। भयो अँधेर सरग छिति छाई॥
ऊबट बाट जाइ नहिं बूझा। निअरहिं दूसर जाइ न सूझा॥
परी धूरि लोचन मुख माहीं। दुहुँ कर वदन छिपाए जाहीं॥"[१६]

इस चित्र में यथार्थ संश्लिष्टता है और योजना से स्थिति का रूप प्रत्यक्ष होता है। लगता है उसमान प्रकृति के प्रति यथार्थवादी भी रह सके हैं। उनकी दृष्टि इस विषय में अधिक सचेष्ट है, यद्यपि अपनी परम्परा के अनुसरण से उनको ऐसे प्रकृति-रूपों को उपस्थित करने का अवसर कम मिला है। उसमान ने अंधकार का वर्णन भी इसी प्रकार किया है—'उसने कुँअर को एक अँधेरी खोह में ले जाकर डाला जिसके अंधकार से दिन में दीपक जला कर ढूँढने से भी नहीं दिखाई

देता। दिन में जहाँ रवि की किरणों का प्रवेश नहीं होता, रात में जहाँ शशि और तारागणों का संचरण नहीं होता। अंधे ने अंधेरे स्थान को इस प्रकार पाया जैसे मसि के ऊपर मसि डाली गई हो।[१७], इसमें आलंकारिक संकेत से कवि ने चित्र को अधिक व्यक्त कर दिया है। एक स्थल पर रूप नगर की पहाड़ी का वर्णन भी इसी प्रकार का है—

"पूरब दिसि जो आहि पहारी। जनु विस करमैं आपु उतारी॥
झरना झरै सोहावनि भाँती। तरुवर लागे पाँतिन पाँती॥
बोलहिं पंछी अनवन भाषा। आपन आपन बैठे साषा॥
सिखर चढ़े कूकहिं बहु मोरा। परवत गूँजि उठैं चहुँ ओरा॥"[१८]

यह चित्र सरल वस्तु-स्थितियों और क्रिया-व्यापारों के साथ प्रस्तुत किया गया है। परन्तु इस प्रकार के वस्तु-स्थिति के आलंबन चित्र अन्य कवियों में नहीं के बराबर हैं। जायसी प्रत्येक वर्णना को किसी आध्यात्मिक सत्य की व्यंजना से संबन्धित कर देते हैं और अन्य कवियों ने इसी का अनुसरण किया है।

ख—आध्यात्मिक साधना के प्रकरण में प्रकृति-रूपों की व्यञ्जना के विषय में कहा गया है। यहाँ उनकी वर्णन की शैलियों के विषय में संकेत कर देना है। वस्तुतः इन समस्त रूपों में तीन प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया गया है।

वर्णन की शैलियाँ

पहली शैली में केवल उल्लेखों के आधार पर सत्यों की स्थापना अथवा या आध्यात्मिक व्यञ्जना की गई है। इन उल्लेखों में किसी सीमा तक संश्लिष्ट चित्रण भी आ जाता है, पर ऐसा बहुत कम हुआ है। इन वर्णनों में उपवन के वृक्षों तथा फूलों आदि का उल्लेख

---

१७ वही; वही : २१ कुटीचर-खंड, दो० २३५

१८ वही; वही : १७ यात्राखंड, दो० २३५

है।[19] दूसरी शैली में स्थिति-व्यापारों की निश्चित योजना द्वारा प्रेम आदि की व्यञ्जना हुई है। इस प्रकार की वर्णना में व्यञ्जनात्मक चित्रमयता मिलती है, यद्यपि रूपात्मक चित्रमयता इनमें भी कम है।[20] पर कोई-कोई चित्र कलात्मक हैं। जायसी सिंहल के तलाव का वर्णन करते हैं—

"ताल तलाव बरनि नहिं जाहीं। सूझै वार पार किछु नाहीं॥
फूले कुमुद सेत उजियारे। मानहुँ उए गगन महुँ तारे॥
उतरहिं मेघ चढ़हिं लेइ पानी। चमकहिं मच्छ बीजु कै बानी॥"[21]

परन्तु इस प्रकार के आलंकारिक वर्णन भी कम हैं। तीसरे प्रकार की शैली में अति प्राकृतिक चित्रों की योजना है। इनमें भी कुछ में आदर्श कल्पना की भावना है और कुछ में अलौकिक चमत्कार है।

उसमान के इस वर्णन में आदर्श कल्पना ही प्रधान है—'सरोवर तट की सराहना कहाँ तक की जाय जिसमें पानी मोती है और कंकड़ ही हीरा है। अत्यन्त गहरा है, थाह नहीं मिलती। निर्मल नीर में तल दिखाई देता है—अत्यन्त गम्भीर और विस्तृत है जिसकी सीमाओं का भान नहीं होता—।'[२२] वस्तुतः इस प्रकार की आदर्श कल्पना, इन समस्त काव्यों में नायिका से संबन्धित वन, उपवन तथा सरोवर आदि के वर्णनों में मिलती है। इनमें सदा वसन्त या चिरन्तन सौन्दर्य की भावना है। इसके अतिरिक्त मार्ग-स्थित वर्णनों या अन्य प्रसंगों के अलौकिक अतिप्राकृतिक चित्रों में भी चमत्कार की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। जायसी 'बोहित-खंड' में सागर का उल्लेख इसी शैली में करते हैं—

"जस वन रेंगि चलै गज-ठाटी। बोहित चले समुद गा पाटी।
धावहि बोहित मन उपराहीं। सहस कोस एक पल महँ जाहीं।
समुद अपार सरग जनु लागा। सरग न घाल गनै बैरागा।
ततखन चाल्हा एक देखावा। जनु धौलागिरि परबत आवा।
उठी हिलोर जो चाल्ह नराजी। लहरि अकास लागि भुँइ बाजी।[२३]

इसी प्रकार के वर्णन जायसी ने 'सात-समुद्र-खंड' में किए हैं, इनमें बीच बीच में सत्यों का उल्लेख भी किया गया। उसमान ने रूप नगर के दृश्य को इसी प्रकार अलौकिक वर्णना के द्वारा प्रस्तुत किया है।[२४] परन्तु जायसी में यह प्रवृत्ति अधिक है। इन्होंने अलौकिक चित्रणों के माध्यम से आध्यात्मिक सत्यों का संकेत दिया है। स्वतंत्र प्रेम-काव्यों में प्रवृत्ति आदर्श चित्रण की है; अलौकिक चित्रण इनमें कम हैं।

§ ८—इन प्रकृति वर्णनों को लेकर कहा जा सकता है कि इन

---

२२ चित्रा०; उस० : २३ परेवा-खंड, दो० १४५

२३ ग्रंथा०; जायसी : पद०, १४ लोहित-खंड, दो० २

२४ चित्रा०; उस० : १७ यात्रा-खंड, दो० २३२

कवियों ने प्रकृति का उपयोग अपनी कथा में भावात्मक व्यंजना के लिए किया है। जिस प्रकार इनकी कथा का समस्त वातावरण प्रेम या आध्यात्मिक भावना से पूर्ण है, उसी प्रकार कथा को आधार प्रदान करनेवाली प्रकृति भी इसी दृष्टि से प्रस्तुत की गई है। प्रकृति का यह रूप कथानक की पृष्ठभूमि में वातावरण की भाव-व्यंजना प्रदान करता है। सूफ़ी कवियों में पृष्ठभूमि में प्रकृति का रूप कथानक के भावात्मक उल्लास से उद्भासित किया गया है। अन्य संकेतात्मक उल्लेखों के अतिरिक्त सरोवर में स्नान के प्रसंग को लेकर यह भावात्मक उल्लास मग्न प्रकृति का रूप जायसी के बाद कवियों ने परम्परा के रूप में ग्रहण किया है। इस स्थल पर प्रकृति के अन्दर एक उल्लास की भावना है जो आध्यात्मिक वातावरण का प्रतिबिंब है। स्वच्छंदवादी दृष्टि से प्रकृतिवादी कवि प्रकृति के सौन्दर्य से प्रभावित होकर, उसकी चेतना को अनन्त भावना से सम-स्थापित करके अपने मन का उल्लास प्रकृति के माध्यम से व्यक्त करता है। यही स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति सूफ़ी साधकों ने इस प्रकार ग्रहण की है। आध्यात्मिक साधना के प्रसंग में इसकी विवेचना विस्तार से की गई है।[१७] इनकी साधना का साध्य सत्यत्व है जो कथानक के रूपक में सन्निहित है और वातावरण के रूप में प्रकृति उसी की प्रेम-भावना से उल्लसित और प्रभावित हो उठती है। जायसी के इस वर्णन-चित्र में

कथा की पृष्ठ-भूमि में

प्रकृति और सौन्दर्य्य का भाव तादात्म्य देखा जाता है—

"बिगस कुमुद देखि ससि रेखा। भै तँह ओप जहाँ जोइ देखा।
पावा रूप रूप जस चाहा। ससि मुख दरपन होइ रहा।
नयन जो देखा कँवल भा निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर॥"[२६]

और इस में प्रकृति में प्रतिबिंबित रूप से उल्लास की भावना भी व्यक्त होती है।

§६—जहाँ तक प्रत्यक्ष रूप से भावों को उद्दीप्त करनेवाले प्रकृति-रूपों का संबन्ध है, उनकी विवेचना अन्य प्रकरण में की जायगी। परन्तु यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इन कथा-काव्यों में प्रकृति संबन्धी जन-गीतियों की स्वच्छंद-भावना का क्या संबन्ध है। प्रकृति की व्यापक विस्तार हो अथवा बारहमासा और ऋतु वर्णन की परम्परा हो, सर्वत्र भावनाओं का स्वतत्र रूप इन काव्यों में मिलता है। बारहमासा और ऋतु-वर्णन की परम्परा का विकास साहित्य में भी हुआ है और आगे चलकर इनका रूप रूढ़िवादी होता गया है। जन-गीतियों के समान ही इन काव्यों में प्रकृति का आश्रय लेकर भावों की उद्दीप्त स्थिति का वर्णन किया गया है। शैली की दृष्टि से कहीं कहीं रेखा-चित्र आ जाते हैं। जायसी के बारहमासे में—'जेठ में जग जल उठा है, लू चलती है, बवंडर उठते हैं और अंगार बरसते हैं। ..चारों ओर से पवन झक-झोर देता है, मानों लंका को जलाकर पलंग में लग गई है। आग सी भभक उठती है, आँधी आती है। नेत्र से कुछ नहीं सूझता, दुःख में बँधी मैं मरती हूँ।[२७] इस चित्र में रेखाओं के साथ यथार्थ योजना भी है। जायसी के बारहमासा में प्रकृति के कालगत रूपों का सहज

जनगीतियों की परम्परा : बारहमासा

---

२६ ग्रंथा०; जायसी : पद०, ४ मानसरोवर-खंड, दो० २५
२७ वही; वही : वही, ३० नागमती-वियोग-खंड, दो० १५

भाव सन्निहित है जो अन्यत्र नहीं मिलता। इसमें प्रकृति और मानवीय भावों का सहज तादात्म्य संबन्ध है जो जनगीतियों की उन्मुक्त भावना में ही सम्भव है। उसमान का बारहमासा जायसी के अनुसरण पर है, पर उसकी प्रवृत्ति उल्लेख की अधिक है। साथ ही इसमें प्रकृति के सहज संबन्ध के स्थान पर विरह वर्णन ही प्रमुख हो उठा है।[२८] दुखहरनदास ने बारहमासा का वर्णन संयोग शृंगार के अन्तर्गत किया है। इसमें प्रकृति का केवल उल्लेख मात्र है और संयोग-सुख तथा उल्लास-उमंग का ही अधिक वर्णन है। ये बारहमासों के वर्णन जन-गीतियों की परम्परा से ही सम्बन्धित हैं। जन-गीतियों में गायक की भावना के साथ बारहमासों का ऋतु परिवर्तन उपस्थित होता जाता है। इसी प्रकार की भावना, जैसा कहा गया है इनमें भी पाई जाती है। साथ ही विरहिणी स्वयं अपनी विरह व्यथा परिवर्तित ऋतु रूपों के माध्यम से कहती है। इसी कारण जन-गीतियों में प्रकृति का मानवीय भावों से अधिक उन्मुक्त संबन्ध स्थापित होता है। इसी अनुसरण के कारण जायसी का बारहमासा अधिक स्वच्छंद है; उसमें वियोगिनी नागमती अपनी व्यथा की अभिव्यक्ति के साथ प्रकृति से अधिक सहृदयता स्थापित करती है। जायसी के इन वर्णनों में वह प्रत्यक्ष सामने रहती है। प्रत्येक मास के चित्र के साथ वह अपनी भावना को लेकर स्वयं उपस्थित होती है—

२८ ना०प्र०; नस० : ३२ पाती-खंड में, दो० ४४३ में चैत का वर्णन प्रारम्भ होता है और दो० ४५५ में फागुन वर्णन के साथ बारहमासा समाप्त होता है। उदाहरण के लिए जेठ का वर्णन इस प्रकार है—

"जेठ [illegible] रवि [illegible] तेजा। [illegible]
[illegible] पूरबिल [illegible]।
[illegible]।
[illegible]।"

"भा भादौं दूभर अति भारी। कैसे भरौं रैनि अँधियारी।
मंदिर सून पिउ अनतै बसा। सेज नागिनी फिरि फिरि डसा।"

इसी प्रकार आगे भी विरहिणी अपनी विरह को व्यक्त करते हुए कहती है—'अगहन मास में दिन घट गया और रात बढ़ गई—यह कठिन रात्रि किस प्रकार व्यतीत की जाय. इसी विरह में दिन रात हो गया है; और मैं अपने विरह में इस प्रकार जल रही हूँ जैसे दीपक में वत्ती।' इसी भाव-स्थिति में विरहिणी को प्रकृति अपने से विरोधी जान पड़ती है—'चित्रा में मीन ने मित्र पाया, पपीहा 'पिउ' को पुकारता है… सरोवर का स्मरण करके हंस चला गया है; सारस क्रीड़ा करता है, खंजन दिखाई देता है। दिशाएँ प्रकाशित हो गई, वन में काँस फूल उठे।...यह समस्त प्रकृति का उल्लास तो आया कन्त नहीं लौटे, विदेश में भूल रहे।' फिर वह प्रकृति को सहानुभूति के द्वारा संवेदनशील भी पाती है—

"पिउ सौं कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा! हे काग!
सा धनि विरहै जरि मुई, तेहिक धुवाँ हम्ह लाग।"[२९]

उसमान का बारहमासा भी वियोगिनी की आत्माभिव्यक्ति के रूप में है। पर उसमें वह अधिक प्रत्यक्ष नहीं हो सकी है। इस कारण उसमें व्यक्तिगत स्वच्छंद अनुभूति का रूप कम है। यह वर्णन साहित्यिक ऋतु-वर्णन की परम्परा से अधिक प्रभावित है। साथ ही उसमान में प्रकृति से सहज संबन्ध नहीं स्थापित हुआ है, उनमें विरह वर्णन की प्रवृत्ति अधिक है। दुखहरनदास का बारहमासा संयोग-शृंगार के अन्तर्गत है और उसमें साहित्यिक रूढ़ि के अनुसार मानवीय क्रीड़ा-व्यापारों की योजना ही अधिक है। बोधा कृत 'माधवानल कामकन्दला' (विरह वारीश) में बारहमासा विप्रलम्भ के अन्तर्गत है, लेकिन उस पर रीति परम्परा का अत्यधिक प्रभाव है। परन्तु सब

---

२९ ग्रंथा०; जायसी : पद०, ३० नागमती-वियोग-खंड, दो० ६, ९

मिलाकर प्रेम-काव्यों में बारहमासा का वातावरण जन-जीवन और जन-भावना के अधिक निकट है।

§ १०—प्रेम कथा-काव्यों में ऋतु-वर्णन भी बारहमासा के समान जन-गीतियों से प्रभावित हैं। परन्तु इनमें प्रचलित ऋतु-वर्णन की परम्परा का अधिक अनुसरण है। ये कथानक के संयोग तथा वियोग पक्षों में प्रस्तुत किए गए हैं। जायसी ने ऋतु-वर्णन संयोग शृंगार के अन्तर्गत किया है, परन्तु बारहमासे के समान इसमें स्वाभाविक वातावरण नहीं है। इसमें क्रिया-व्यापारों का उल्लेख अधिक हुआ है, इनके बीच में यत्र-तत्र प्रकृति का उल्लेख मात्र कर दिया गया है।[३०] जायसी ने वसंत-वर्णन की परम्परा का रूप भी प्रस्तुत किया है, इसमें अवसर के अनुरूप हास-विलास के वर्णन की प्रधानता है। वसंत आदि के अवसर पर उल्लास की प्रेरणा जन जीवन को मिलती रहती है और यह उनकी गीतियों में व्यक्त भी होता है। इसी के आधार पर साहित्य मे भी ऐसे वर्णनों की परम्परा चली है यद्यपि साहित्य में उन्मुक्त भावना के स्थान पर रूढ़िगत परम्परा को अधिक स्थान मिला है। जायसी का वर्णन अधिक अंशों में साहित्यिक है।[३१] नूर मोहम्मद ने इसी उल्लास विलास का वर्णन फाग-खंड में किया है। फाग भी वसंत के अन्तर्गत होता है। इस वर्णन में भी जन-जीवन का उल्लास तो आ सका है, पर प्रकृति का वातावरण बिलकुल हट गया है। अन्य प्रेम-काव्यों में ऋतु-वर्णन विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत आया है। इनमें वियोग-व्यथा का उल्लेख अधिक और प्रकृति के क्रिया-व्यापारों की योजना कम हुई है। इनका विवेचन उद्दीपन-विभाव के प्रकरण में विस्तार से

साहित्यिक प्रभाव

---

३० वही; वही : पद०, २९ षट्-ऋतु-वर्णन-खंड

३१ वही; वही : पद०, २० वसंत-खंड

से किया जायगा।[३२] उसमान ने ऋतु-वर्णन प्रसंग में प्रकृति-वर्णन के माध्यम से किसी किसी स्थल पर विरह की व्यंजना की है। इस व्यंजना का आधार प्रकृति से मानवीय भावना कभी विरोध उत्पन्न करके ग्रहण करती है कभी समानान्तर रूप में।

सहानुभूति का स्वच्छंद वातावरण

§ ११—कहा गया है कि प्रेम-काव्यों में एक सीमा तक जन-गीतियों का कथात्मक वातावरण है। इस क्षेत्र में इनकी कथाओं में प्रकृति सहज संबन्धों में उपस्थित हो सकी है। बारहमासा और ऋतु संबन्धी वर्णनों में हम इस भावना का संकेत कर चुके हैं। इनमें कुछ स्थलों पर प्रकृति सहज रूप में मानवीय भावों के छायातपों में उपस्थित हुई है। साथ ही इन कथानकों के पात्र प्रकृति के रूपों से सहज संबन्ध उपस्थित करते हैं। जन गीतियों की विरहिणी प्रकृति के रूपों को अपना सहचर मानकर उनसे अपने दुःख-सुख की बात कहती है; उनके द्वारा अपने विदेशी प्रियतम को संदेश भी भेजती है। सहानुभूति के इसी स्वच्छंद वातावरण में इन काव्यों में भी वियोगिनी प्रकृति से संबन्ध स्थापित करती है, सहानुभूति प्राप्त करती है। जायसी ने ही इस प्रकृति-संबन्ध को सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। बाद के कवियों में वह भाव-ग्राही प्रतिभा नहीं थी; उनके परम्परा पालन में साहचर्य्य का सरल भाव नहीं आ सका है। जायसी ने नागमती के विरह प्रसंग में इसी व्यापक सहानुभूति को अभिव्यक्त किया है। वह पक्षियों को अपनत्व की निकटता में संबोधित करती है—

"भई पुछार लीन्ह बनवासू। बैरिन सवति दीन्ह चिलवाँसू।
होइ खर बान बिरह तनु लागा। जौ पिउ आवै उड़हि तौ कागा।

---

३२ चित्रावली में १८ विरह-खंड; नलदमन काव्य में ऋतु-वर्णन, पृ० १०३; पुहुपावती में छवो रितु रूदंती वीरह खंड; माधवानल कामकंदला (आलम) ऋतु-वर्णन, में यही प्रवृत्ति है।

हारिल भई पंथ मैं रोवा। अब तँह पठवौं कौन पखेवा।"[33]
इसी प्रकार वह अन्य पक्षियों से भी संदेश कहती है, पर उनको वह अपनी अपनी व्यथा में व्यस्त पाती है। आगे एक पक्षी संवेदनशील होकर संदेश ले जाने को प्रस्तुत भी हो जाता है; यह प्रेम काव्य के सहानुभूतिपूर्ण उन्मुक्त वातावरण में ही सम्भव है। इन काव्यों में पशु-पक्षी कथानक के पात्र के रूप में उपस्थित हुए हैं। बोधा के विरह-वारीश (माधवानल कामकंदला) में वर्षा ऋतु वर्णन के प्रसंग में माधवानल लीलावती के वियोग में मेघ से संदेश कहता है। इसमें संस्कृत दूत-काव्य का अनुकरण ही अधिक है, प्रकृति के प्रति सहज सहचरण की भावना नहीं है। दक्षिण की श्याम घटा को देखकर विप्र के हृदय को अत्यंत कष्ट हुआ; अति भय मानकर माधवानल ने प्रीति पूर्वक उससे अपनी विरह वेदना कही—

"हो पयोध विरहिन दुखलायक। मेरो दरद सुनो तुम नायक।
पुहुपावती पुरी मम प्यारी। नव यौवन बाला सुकुमारी।"[34]

बाद में माधवानल वियोग व्यथा से व्याकुल वन में खग मृगों से पूछता घूमता है और इस वर्णना में अधिक सहानुभूति का वातावरण है—

"कहत द्रुमन सों तुमन हो, सुमन सहित छविदार।
कहीं दार मेरो लख्यो, तो छवि अजब बहार॥
विटपन अपनो दरद सुनावै। जब चलि छाँह किसी की आवै।
नाम आपने प्रिय कर लेहीं। यो पुनि ताहि उरहना देहीं।"[35]

'इन्द्रावती' में कुँअर अपना सन्देश पवन के हाथ भेजता है। इस स्थिति की कल्पना आध्यात्मिक संकेत के साथ भी सुन्दर हुई है—

---

३३ चित्रावली में १८ विरह-खंड; नलदमन काव्य में ऋतु-वर्णन, पृ०

३४ विरह०; बोध : पहली तरंग

३५ वही; वही : बारहवीं तरंग

'जब प्रभात हुआ और प्रकाश फैला, फुलवारी में पवन प्रवाहित हुआ, पवन को पाकर कली प्रसन्न हुई—बहुत सी मुसकराईं (अर्द्ध मुकलित हुईं) और बहुत सी विहसीं (खिल गईं)।' ऐसे ही वातावरण में कुँअर अपनी सहानुभूति का आरोप प्रकृति पर करता हुआ पवन से कहता है—

"जो तेहि ओर बहो तुम आई। दीन्हेउ मोर सँदेस सुनाई।"

और पवन संवेदनशील होकर प्रार्थना स्वीकार भी करता है—

"कुँअर संदेस पवन जो पावा। इन्द्रावती सों जाइ सुनावा।"[३६]

इसमें प्रकृति मानवीय सहानुभूति से युक्त है। आगे इसी प्रकार के संवेदनात्मक संबन्ध में सुआ वार्तालाप करता है।[३७] 'चित्रावली' में यद्यपि सन्देश आदि के संबन्ध में प्रकृति का रूप नहीं आया है, फिर भी चित्रावली के वियोग में प्रकृति वातावरण के रूप में पूर्ण सहानुभूति रखती है। इन वर्णनों में आध्यात्मिक व्यञ्जना तो है ही, साथ ही कथात्मक प्रवाह में प्रकृति से भावात्मक तादात्मय भी है। चित्रावली प्रकृति को सहानुभूतिशील स्थिति में अपनी वेदना की सहभागिनी पाती है—

"जौ न पतीजसि जिउ मोर भाखो। पूछि दुखु गिरि कानन साखी॥
करैं पुकार मजोरन गोवा। कुहुकि कुहिकि बन कोकिल रोवा॥
गयो साखि पपिहा मम बोला। अजहूँ घोखत बन बन डोला॥
उड़ा परेवा सुनि मम बाता। अजहुँ चरन रकत सौं राता॥"

केवल पक्षी ही नहीं वरन वनस्पति जगत् भी उसकी व्यथा में सहानुभूतिशील हो उठता है—'टेसी जल कर अँगार हो गया, फ़रहद

---

३६ इन्द्रा०; नूर० : ९ पाती-खंड, दो० ३०

३७ वही; वही : १० सुवा-खंड, दो ?—

"बैठा पत्री पर एक सुवा। रोवा सुवा नयन जल चुवा।
देखा कुँवर कीर सौं कहा। ढारेउ आँसु कवन दुख अहा॥"

ने आग लगा कर सिर जला दिया। वनस्पति जगत् मेरी व्यथा को सुन कर बारहों महीना पतझड़ करता है। घुँघुची दुःखी होकर रोती है. वह वल्लरी नहीं छोड़ती, काली मुखवाला होकर उसी में लगी रहती है।'[३८] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेम कथा काव्यों में आध्यात्मिक अभिव्यक्ति तथा कथात्मक परम्परा का अनुसरण होते हुए भी उन्मुक्त रूप से प्रकृति का स्थान मिल सका है। प्रकृति की इस स्वच्छंद भावना में इन कवियों की प्रकृतिवादी दृष्टि नहीं है और जिस आधार-भूमि पर ये कवि चले हैं उस पर यह सम्भव भी नहीं था।

× × ×

§१३—राम-काव्य के अन्तर्गत प्रबन्ध की दृष्टि से 'रामचरित मानस' ही प्रमुख ग्रन्थ है। हम कह चुके हैं कि इस पर पौराणिक शैली का अधिक प्रभाव है। पौराणिक शैली में धार्मिक उपदेश और प्रवचनो का विशेष स्थान रहा है। इसी कारण कथा के देश कालगत आधार और वातावरण से अधिक ध्यान पुराणकार इनकी ओर देता है। अधिक अंशो में धार्मिक श्रद्धा और विश्वासों का प्रतिपादन ही इनका उद्देश्य है। फिर इनमें प्रकृति को व्यापक रूप से स्थान नहीं मिल सका तो आश्चर्य्य नहीं। इनका आदर्श काव्यात्मक चित्रमय प्रत्यक्ष नहीं रहा है। फिर भी यह प्रवृत्ति की बात है; वैसे पुराणों में, विशेषकर 'श्रीमद्भागवत' में सुन्दर काव्यमय स्थल हैं। इसी परम्परा में लिखी गई 'अध्यात्म रामायण' में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति है। जिन स्थलों पर वाल्मीकि की कल्पना रम जाती है और वे प्रकृति के सौन्दर्य्य पर मुग्ध हो जाते हैं, उन्हीं स्थलों पर अध्यात्मकार केवल ज्ञान और मोक्ष की भूमिका प्रस्तुत करता है—

राम-काव्य की प्रेरणा

---

३८ चित्रा०; उस०; ३२ पाती-खंड, दो० ४४०-१

"एकदा लक्ष्मणो राममेकान्ते समुपस्थितम्।
विनयावनतो भूत्वा पप्रच्छ परमेश्वरम्॥"

मायाजनित संसार को विच्छेद और आवरण के रूप में विवेचित करने वाले लक्ष्मण के लिए प्रकृति का चतुर्दिक प्रसरित सौन्दर्य्य उपेक्षणीय ही है।'[३९] 'रामचरितमानस' में तुलसी की भी बहुत कुछ यही प्रेरणा रही है। परन्तु यह प्रवृत्ति की बात है; वैसे तुलसी की प्रतिभा बहुमुखी, सर्वग्राही है और इनका आदर्श समन्वय है। यहाँ प्रकृति-चित्रण के विषय में भी यही सत्य है। 'अध्यात्म रामायण' की प्रवृत्ति को ग्रहण करके भी इनके सामने 'वाल्मीकीय रामायण' तथा 'श्रीमद्भागवत' के प्रकृति स्थल सामने रहे हैं। राम-कथा में वन-गमन प्रसंग के बाद प्रकृति का विशाल क्षेत्र सामने आ जाता है। इस प्रसंग में तुलसी ने भी ज्ञान और भक्ति के उल्लेख ही अधिक किए हैं। लेकिन प्रकृति का यथास्थान उल्लेख अवश्य आया है, तुलसी कथा की वस्तु-स्थिति को बिलकुल भुला नहीं सके हैं। वन-भ्रमण के अन्तर्गत इन्होंने अनेक स्थलों का वर्णन किया है और इनमें अधिकतर वे ही स्थल हैं जिनका वर्णन वाल्मीकि में मिलता है। इन स्थलों में वाल्मीकि रामायण में यथातथ्य का संश्लिष्ट चित्रण है, परन्तु तुलसी के वर्णन आदर्श प्रकृति का रूप प्रस्तुत करते हैं। इनका उल्लेख आध्यात्मिक साधना के प्रकरण में किया गया है। इनके साथ जनकपुरी प्रसंग के चित्रण भी आदर्शात्मक हैं। इन प्रकृति-रूपों में चिर-वसन्त की भावना के साथ स्थान-काल की सीमा भी स्वीकृत नहीं है।[४०]

---

३९ अध्यात्म रामायण; अरण्य काण्ड; १६; २२—

"सैव माया तयै वासौ संसारः परिकल्प्यते।
रूपे द्वे निश्चिते पूर्वं मायायाः कुलनन्दनः॥"

४० बाल०, दो० २१२ में नगर के वातावरण का हलका रेखा-चित्र; दो० २१७ में वाटिका-वर्णन कुछ क्रिया-व्यापारों की योजना; अयो०, दो०

इन वर्णनों की शैली व्यापक रेखा-चित्रों में की है और कहीं इनमें क्रिया-व्यापारों की संक्षिप्त योजना भी हुई है। कभी आदर्श प्रकृति के वर्णनों के साथ चित्रण में भावात्मक प्रतिबिंब भी मिलता हैं: प्रकृति पर यह भावों का प्रतिबिंब कथानक को लेकर है।[४१] कभी-कभी तुलसी मार्ग-स्थित वातावरण का उल्लेख भी कर देते हैं: राम को मार्ग में वाल्मीकि आश्रम मिलता है—

"देखत वन सर सैल सुहावन। वाल्मीकि आश्रम प्रभु आए॥
राम दीख मुनि वास सुहावन। सुन्दर गिरि काननु जल पावन॥
सरनि सरोज विटप वन फूले। गुंजत मंजु मधुप रस भूले॥
खग मृग विपुल कोलाहल करहीं। विरहित वैर मुदित मन चरहीं॥"[४२]

इस चित्र में प्रकृति के आदर्श का रूप तो व्यक्त होता ही हैं: साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि तुलसी साहित्यिक प्रकृति संबन्धी परम्पराओं से परिचित थे और इन्होंने उनसे प्रभाव भी ग्रहण किया है।

§ १४—इस आदर्श प्रवृत्ति के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि तुलसी के सामने प्रकृति का यथार्थ रूप नहीं था। 'राम-चरितमानस' के अन्तर्गत कुछ प्रकृति-रूप ऐसे भी हैं जिनसे यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि तुलसी ने केवल अनुकरण ही नहीं किया है और उनके सामने प्रकृति का यथार्थ

स्वतन्त्र वर्णन

---

२३७ में चित्रकूट वर्णन, हलकी संश्लिष्टता; दो० २४३ चित्रकूट वर्णन उल्लेखात्मक; उत्त०, दो० २३ रामराज्य में प्रकृति व्यापक संश्लिष्टता; दो० ५६ काकभुशुंडि का आश्रम

४१ अयो०, दो २३६ में राम के आगमन पर चित्रकूट में उल्लसित प्रकृति; दो० २७८-९ में चित्रकूट में अनुकूल प्रकृति : अर०, दो० १४ सुखमयी प्रकृति (गोदावरी)

४२ वही : अयो०, दो० १२४

रूप भी रहा है। पहली बात तो यही है कि इन आदर्श प्रकृति-चित्रों को उपस्थित करने में परम्परा से अधिक तुलसी का आध्यात्मिक अर्थ है। इसको भुला कर इन रूपों पर विचार करना कवि के प्रति अन्याय होगा। इनके राम पूर्ण-पुरुष हैं, उनके प्रभाव में प्रकृति की चिरंतन और उल्लासमयी भावना सहज है। परन्तु तुलसी की कथा में आध्यात्मिक आदर्श चरित्र का आधार सहज स्वाभाविक मनोभावों पर है। इसी प्रकार जो प्रकृति-रूप राम के सीधे सम्पर्क में नहीं है, वह यथार्थ चित्रमयता के साथ है। केवल तुलसी को ऐसे स्थल कम ही मिले हैं।

ऋतु-वर्णन

क—साधारणतः ऋतु-वर्णन की परम्परा प्रकृति को उद्दीपन के अन्तर्गत मानती आई है; परन्तु तुलसी ने 'श्रीमद्भागवत' के आधार पर स्वतंत्र रूप से उपस्थित किया है। वर्षा और शरद दोनों ही ऋतुओं के वर्णन के विषय में यही बात है। वर्णन के आरम्भ में हलका संकेत दिया गया है—

"घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥"

या कथा प्रसंग से मिलाते हुए—

"बरषा गत निर्मल रितु आई। सुधि न तात सीता कै पाई॥"

तुलसी ने इन वर्णनों को इस रूप में एक विशेष सौन्दर्य की दृष्टि से ही अपनाया है। इनमें एक ओर प्रकृति वर्णना की संश्लिष्ट योजना की गई है जिसमें प्रकृति का यथार्थ रूप अपने क्रिया-व्यापारों के साथ उपस्थित हुआ है। साथ ही मानवी समाज से उनके लिए उत्प्रेक्षाएँ तथा उदाहरण आदि प्रस्तुत किए गए हैं। इन्हींको लेकर उपदेशों की व्यञ्जना की बात कही जाती है। इसका एक पक्ष यह है भी। परन्तु यदि इनको प्रकृति के पक्ष में ही लगाया जाय तो यह वर्णना को भाव-व्यंजक करने का आलंकारिक प्रयोग है। प्रकृति-वर्णन में चित्रमयता के साथ भाव-व्यंजना के लिए आरोप किया जाता है। इस व्यंजना में प्रकृति के साथ भाव-स्थितियाँ भी उपस्थित हो जाती हैं; और कभी कभी तो प्रकृति से व्यंजित भाव ही प्रधान हो

जाता है। तुलसी के ऋतु-वर्णनों में अलंकारों का आधार सामाजिकता है, इस कारण व्यंजना उपदेशात्मक हुई है। परन्तु वस्तुतः प्रकृति का वर्णन यहाँ प्रमुख है और समस्त आलंकारिक योजना प्रकृति के रूप को प्रत्यक्ष करने और कथा के अनुरूप भाव-व्यंजना को प्रस्तुत करने के लिए हुई है। प्रकृति के रूपात्मक पक्ष के साथ भाव-व्यंजना की शैली रही है, परन्तु अधिकतर इस भावना में रति स्थायी भाव प्रधान रहा है। तुलसी ने भागवत के अनुसरण पर यहाँ शांत स्थायी-भाव को आधार रूप में स्वीकार किया है। लेकिन इनकी वर्णना में भाव-व्यंजना उसी प्रकार चलती है—'बादलों के बीच में बिजली चमक रही है—खल की प्रीति स्थिर नहीं रहती। बादल पृथ्वी पर झुक झूम कर बरसते हैं - विद्या प्राप्त कर बुद्धिमान् नम्र ही होते हैं; वर्षा की बूँदों की चोट पर्वत सह लेता है—दुष्ट के वचन को सज्जन बिना किसी अवरोध के सह लेते हैं। और यह क्षुद्र नदी (देखो तो सही) कैसी भरी हुई इतरा रही है—नीच थोड़ा धन पाकर इतरा चलता है। पृथ्वी पर पड़ते ही पानी मैला हो जाता है जैसे जीव को माया लिप्त कर लेती है।'[४३] यह वर्णन कथानक से निरपेक्ष लगता है। परन्तु इस यथार्थ चित्रण के विषय में दो बातें कही जा सकती हैं। इस वर्णन को राम स्वयं करते हैं जो पूरे कथानक में निरपेक्ष हैं, फिर इस स्थल पर उनका और उनकी वर्णित प्रकृति का निरपेक्ष होना स्वाभाविक है। ज्ञानात्मक उपदेश भी उनके चरित्र के अनुरूप हैं। परन्तु तुलसी ने राम के चरित्र को सर्वत्र दृढ़ मानवीय आधार दिया है। इस प्रकार इस प्रकृति-वर्णन में एक व्यंजना सन्निहित है—'लक्ष्मण, यहाँ ऐसा ही होता। सुग्रीव यदि अपना कर्त्तव्य भूल गया तो यह उसके अनुरूप है। पर महान व्यक्तियों में सहनशीलता चाहिए।' इस प्रकार तुलसी का यह प्रयोग कलात्मक है, और इसमें प्रकृति का रूप बिलकुल

४३ वही : किष्कि०, दो० १४

शांति के क्षणों में देखा गया है। शरद-ऋतु के वर्णन के विषय में भी यही सत्य है—

"फूले कास सकल महि छाई। जनु बरषा कृत प्रगट बुढ़ाई।
सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा।
रस रस सूखि सरित सर पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी।
जानि सरद रितु खंजन आए। पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए।"[४४]

इस चित्र में उपदेशात्मक व्यंजना के साथ कथात्मक भाव-व्यंजना इस प्रकार की लगती है—'हे बन्धु, सज्जन अवसर की प्रतीक्षा संतोष पूर्वक करते हैं; अवसर के अनुसार धीरे धीरे कार्य्य होता है।'

कलात्मक चित्र

ख—इन वर्णनों के अतिरिक्त भी कुछ स्थल हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि तुलसी का अपना प्रकृति-निरीक्षण है। जैसा कहा गया है ऐसे स्थल बहुत कम हैं और उनमें चित्र भी छोटे हैं। एक विशेष बात इनके विषय में यह है कि ये राम के सम्पर्क अथवा प्रभाव में नहीं हैं। कदाचित् इसीलिए इनमें आदर्श के स्थान पर यथार्थ की चित्रमयता है। प्रतापभानु की मृगया के प्रसंग में वराह का रूप और उसके भागने की गति दोनों का वर्णन कलात्मक हुआ है—

"फिरत बिपिन नृप दीख बराहू। जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू।
बड़ बिधु नहिं समाइ मुख माहीं। मनहुँ क्रोध बस उगिलत नाहीं।
कोल कराल दसन छबि गाई। तनु बिसाल पीवर अधिकाई।
घुरघुरात हय आरौ पाएँ। चकित बिलोकत कान उठाएँ।
नील महीधर सिखर सम, देखि बिसाल बराहु।
चपरि चलेउ हय सुटिकि नृप हाँकि न होइ निबाहु॥"

यहाँ तक वराह के रूप का वर्णन है: इसमें कवि की सूक्ष्म दृष्टि के साथ प्रौढ़ोक्ति भी व्यंजक है। आगे वराह के भागने का चित्र भी

---

४४ वही : वही, दो० १६

सजीव है—

"आवत देखि अधिक रव वाजी। चलेउ वराह मरुत गति भाजी।
तुरत कीन्ह नृप सर संधाना। महि मिलि गयउ विलोकत वाना।
तकि तकि तीर महीस चलावा। करि छल सुअर सरीर वचावा।
प्रगट दुरत जाइ मृग भागा। रिसि वस भूप चलेउ संग लागा।
गयउ दूरि वन गहन वराहू। जहँ नाहिन गज वाजि निवाहू।"[४५]

इस वर्णन का यथार्थ चित्र शब्द-योजना से और भी अधि व्यक्त हो उठा है। इस वर्णन के अतिरिक्त चित्रकूट के आदर्श चि के साथ केवट द्वारा वर्णित कलात्मक चित्र भी इसी कोटि का है इसमें प्रौढ़ोक्ति सम्भव उत्प्रेक्षा का आश्रय लिया गया है—'हे नाथ इन विशाल वृक्षों को देखिए, उनमें पाकड़, जामुन, आम औ तमाल हैं जिनके वीच में वट वृक्ष सुशोभित है, जिसकी सुन्दरता औ विशालता को देखकर मन मोहित हो जाता है। जिनके पल्ल सघनता के कारण नीलाभ हैं, फल लाल हैं, घनी छाया सभी सम सुख देती है मानों अरुणिमायुक्त तिमिर की राशि ही हो जिसको वि ने सुषमा के साथ निर्मित किया है।'[४६]

§ १५—हम कह चुके हैं कि तुलसी में विभिन्न प्रवृत्तियों औ परम्पराओं का समन्वय हुआ है। 'रामचरितमानस' में साहित्यि परम्परा के अनुसार प्रकृति का उद्दीपन रूप मिल है जिसका संकेत अन्यत्र किया जायगा। इन काव्य में प्रकृति के प्रति सहचरण की भावना भी मिलता है, यद्य जन-गीतियों जैसा स्वच्छंद वातावरण इसमें नहीं है। सीता-हरण वाद राम सीता का समाचार—'लता, तरु, खग, मृग तथा मधुक से पूछते हैं। परन्तु यह सहानुभूति की स्थिति इसके आगे ही प्रकृ

सहज संबन्ध का रूप

४५ वही : वाल०, दो० १५६–५७
४६ वही : अयो०, दो० २३७

की विरोधी भावना के रूप में उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आ जाती है। अगले प्रसंग में राम पशुओं में भावारोप करते हुए सहानुभूति के वातावरण में प्रकृति को संवोधित करते हैं—

"हमहि देखि मृग निकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं।
तुम्ह आनंद करहु मृग जाए। कंचन मृग खोजन ए आए।
संग लाइ करिनीं करि लेहीं। मानहुँ मोहि सिखावन देहीं।"[४७]

इस वर्णन में विरोधी भावना के साथ व्यंगात्मक प्रकृति भी मानव की सहचरी है।

× × ×

अलंकृत काव्य परम्परा 'रामचन्द्रिका'

§ १६—प्रारम्भ में कहा गया है कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में संस्कृत महाकाव्यों के समान कोई काव्य नहीं है। परन्तु अलंकृत शैली के अनुसार इस शैली में 'रामचन्द्रिका' और 'वेलि किसन रुकमणी री' को लिया जा सकता है। इन दोनों काव्यों में महाकाव्यों के सभी नियमों का पालन नहीं है। 'रामचन्द्रिका' में प्रकाश हैं परन्तु इनमें अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है: जबकि 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' में कथा एक ही साथ कह दी गई है। परन्तु वर्णना शैली के अनुसार ये दोनों काव्य संस्कृत महाकाव्यों का अनुसरण करते हैं। वर्णन प्रसंगों में लगभग समस्त महाकाव्यों में वर्णित होने वाले स्थलों को ग्रहण किया गया है। साथ ही ये वर्णन कलात्मक तथा चमत्कृत शैलियों में ही किए गए हैं। केशव की 'रामचन्द्रिका' में प्रकृति-वर्णन के स्थल दो परम्पराओं का अनुसरण करते हैं। पहली में 'रामायण' की कथावस्तु के अनुसार प्रकृति-स्थलों के चुनाव की परम्परा है, जिसमें वन-गमन में मार्गस्थित, वन का वर्णन, पंचवटी का वर्णन, पंपासार का वर्णन तथा प्रवर्षण पर्वत पर वर्षा तथा शरद

---

४७ वही : अयो०, दो० ३७

का वर्णन आता है।[४८] इनके अतिरिक्त कुछ प्रकृति-स्थलों को केशव ने महाकाव्यों की परम्परा के अनुसार उपस्थित किया है। इनमें से सूर्योदय का वर्णन तो कथा के अन्तर्गत ही आ जाता है, पर प्रभात-वर्णन, चन्द्र-वर्णन, उपवन-वर्णन और जलाशय-वर्णन महाकाव्यों के आधार पर लिए गए हैं। केशव ने कृत्रिम पर्वत (और नदी) का वर्णन किया है जिनका उल्लेख संस्कृत काव्यों में क्रीड़ा-शैल के नाम से हुआ है। यह राजसी वातावरण का प्रभाव माना जा सकता है। केशव संस्कृत के पंडित थे और हिन्दी के आचार्य्य कवियों में हैं। ये अपनी प्रवृत्ति में अलकारवादी हैं। इन कारणों से इन के वर्णनों में संस्कृत के कवियों का अनुकरण और अनुसरण दोनों ही मिलता है। इन्होंने प्रमुखतः कालिदास, बाण, माघ तथा श्रीहर्ष से प्रभाव ग्रहण किया है। कालिदास की कला का तो यत्र-तत्र अनुकरण मात्र है, अधिक प्रेरणा इनको अन्य तीनों कवियों से मिली है। ऐसा नहीं हुआ है कि केशव ने किसी एक स्थल पर एक ही शैली का अनुसरण किया हो। वस्तुतः किसी एक प्रकृति-रूप को उपस्थित करने में इन्होंने विभिन्न शैलियो का प्रयोग किया है। इसका कारण है। केशव का उद्देश्य वर्णना को अधिक प्रत्यक्ष तथा भाव-गम्य बनाने का नहीं है। उनके सामने प्रकृति का कोई रूप स्पष्ट नहीं है। वे तो वर्णन शैलियों के प्रयोग के उद्देश्य को लेकर चलते हैं।

---

४८ रामचन्द्रिका में : वनवर्णन, प्रका० तीसरा छं० २—३; पंचवटी-वर्णन, प्रका० ग्यारह १९—२३; पंपासर-वर्णन, प्रका० बारह ४४—४६; प्रवर्षण पर वर्षा और शरद, प्रका० तेरह १२—२७; सूर्य्योदय-वर्णन, प्रका० पाँचव १०-१५; प्रभात-वर्णन, प्रका० तीस १८-२३; वसंत-वर्णन, प्रका० तीस ३२-४०; चन्द्र-वर्णन, प्रका० तीस ४१-४६; उपवन-वर्णन, प्रका० बत्तीस ३-२०; जलाशय-वर्णन, प्रका० बत्तीस २३-२६; कृत्रिम-पर्वत और नदी, प्रका० बत्तीस २१-३१

§ १७—विश्वामित्र के आश्रम के वर्णन-प्रसंग में केशव पहले केवल उल्लेखात्मक ढंग से, देश-काल की सीमा का बिना ध्यान किए वृक्षों को गिना जाते हैं—

वर्णना का रूप और शैली

'तरु ताली सतमाल ताल हिंताल मनोहर।
मंजुल बंजुल तिलक लकुच नारिकेर वर।
एलाललित लवंग संग पूंगीफल सोहैं।
सारी शुक कुल कलितचित्त कोकिल अलि मोहैं।
शुभ राजहंस कलहंस कुल नाचत मत मयूर गन।
अति प्रफुल्लित फलित सदा रहैं केशवदास विचित्र वन ॥'[४९]

वृक्षों के साथ इसमें पक्षियों का उल्लेख भी मिला दिया गया। इस वर्णन से प्रत्यक्ष है कि केशव ने वन-वर्णन के लिए शास्त्रीय कवि परम्परा का पालन किया है। इस ऋषि-आश्रम के वर्णन में आदर्श भावना का संकेत मिलता भी है, आगे के वर्णन में केशव बाण के अनुकरण पर परिसंख्या की योजना में घटना-स्थिति को बिलकुल भुला देते हैं। इसी प्रकार सूर्योदय प्रसंग में स्वतःसम्भावी कल्पना के आधार पर ये कालिदास और भारवि का अनुसरण करते हैं—'(मानों) आकाश रूपी वृक्ष पर अरुण मुखवाला सूर्य रूपी वानर चढ़ गया; और उसने उसको झुकाकर हिला दिया जिससे वह तारे रूपी आकाश कुसुमों से विहीन हो गया।' इसी प्रकार पूर्व दिशा की कल्पना प्रौढ़ोक्ति सम्भव होकर भी कलात्मक है—'मुनिराज, आकाश की शोभा को देखिए; लाल आभा से उसका मुख सुशोभित हो गया है। जान पड़ता है, मानों सिंधु में वडवाग्नि की ज्वाल-मालाएँ शोभित हों अथवा सूर्य के घोड़ों की तीक्ष्ण खुरी से उड़कर पद्मराग की धूल से दिशा आपूरित हो उठी है।' परन्तु इस चित्रपट के आरम्भ में ही कवि ने चमत्कृत

---

४९ राम०; केशव : प्रका० तीसरा छं० २

कल्पनाएँ की हैं—

"परिपूरण सिंदूर पूर कैधौं मंगल घट।
किधौं शुक्र को छत्र मढ्यौ मानिक-मयूषपट।
कै श्रोणित कलित कपाल यह किल कपालिका काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग्भामिनी के भाल को॥"[५०]

इस वर्णन में माघ से श्रीहर्ष की ओर जाने की प्रवृत्ति है। इन समस्त वर्णन शैलियों को मिलाने का कारण यही है कि केशव ने सभी कवियों से ग्रहण किया है और साथ ही ये अलंकारवादी हैं। पंचवटी तथा भरद्वाज-आश्रम के वर्णन बाण की अलंकृत शैली में किए गए हैं। इनमें अनुकरण तथा आलंकारिता की ओर विशेष ध्यान है जिससे बाण जैसी रूप-योजना का नितान्त अभाव है। इसमें अनेक कल्पनाएँ केशव ने वैसी ही ले ली हैं। श्लेष-परिपुष्ट उत्प्रेक्षा द्वारा दंडक-वन का वर्णन इस प्रकार है—

"वेर भयानक सी अति लसै। अर्क समूह उहाँ जगमगै।
नैंनन को बहु रूपन ग्रसै। श्री हरि की जनु मूरति लसै।
पाण्डव की प्रतिमा सम लेखो। अर्जुन भीम महामति देखो।
है सुभगा सम दीपति पूरी। सुन्दर की तिलकावलि रूरी।"

इसी प्रकार केशव बिना प्रकृति-रूप को समक्ष रखे ही आलंकारिक योजना प्रस्तुत करते जाते हैं। जिस स्थल पर कल्पना चित्रमय हो सकी है, एक रूप सामने आता है। पर वह चित्र समग्र योजना में अलग सा रहता है और उसका रूप आलंकारिक सौन्दर्य तक सीमित रह जाता है—'गोदावरी अत्यंत निकट है, जो चंचल तुङ्ग तरंगों में प्रवाहित हो रही है। वह कमलों की सुगन्ध पर क्रीड़ा करते हुए भ्रमरों से सुन्दर लगती है, मानों सहस्रों नयनों की शोभा को प्राप्त हुई है।'[५१]

---

५० वही, वही : प्रका० पाँचवाँ १४, १३, ११

५१ वही; वही : प्रका० ग्यारहवाँ २१' २२, २४

इस चित्र में भी कवि की मान्यता के साथ काल्पनिकता अधिक है। भरद्वाज के आश्रम वर्णन में बाण की 'कादम्बरी' के आश्रम-वर्णन का अनुकरण है। परन्तु बाण में सुन्दर वातावरण की योजना की गई है, जब कि केशव केवल आलंकारिक चमत्कार दिखा सके हैं—

"सुवा ही जहाँ देखिये वक्रागी। चलै पिप्पलै चित्त ब्रुग्यै सभागी।
कँपै श्रीफलै पत्र हैं यत्र नीके। सुरामानुरागी सबै राम ही के।
जहाँ वारिदै वृन्द बाजानि साजै। मयूरै जहाँ नृत्यकारी विराजै।"[५२]

परिसंख्यालंकार की यह योजना नितान्त वैचित्र्य की प्रवृत्ति है। पंपासर का वर्णन साधारण उल्लेखों के आधार मात्र पर हुआ है, केवल एक उत्प्रेक्षा कवि की प्रौढ़ोक्ति के रूप में अच्छी है—

"सुन्दर सेत सरोरुह में करहाटक हाटक की द्युति को है।
तापर भौंर भलो मन रोचन लोक बिलोचन की रुचि रोहै॥
देखि दई उपमा जलदेविन दीरघ देवन के मन मोहै।
केशव केशवराय मनों कमलासन के सिर ऊपर सोहै॥"[५३]

इस चित्र का सौन्दर्य रूप या भाव को प्रत्यक्ष करने से अधिक उक्ति से संबन्धित है। प्रवर्षण पर्वत का वर्णन श्लेष के द्वारा चमत्कार योजनाओं में हुआ है। इस प्रसंग में वर्षा का वर्णन अधिक कलात्मक हो सका है। साथ ही इसमें वर्षा की व्यापक सीमाओं के साथ कुछ चित्रमयता भी आ सकी है—'घन मंद मंद ध्वनि से गरजते हैं, बीच बीच में चपला चमकती है, मानों इन्द्रलोक में अप्सरा नाचती है। आकाश में घने काले बादल सुशोभित हैं उनमें बकों की पक्तियाँ मन को मोहित करती हैं, मानो बादलों ने जल से सीपियों को पी लिया है और उसे ही बलपूर्वक उगल दिया है। अनेक प्रकार के प्रकाश घन में दिखाई देते हैं, मानों आकाश के द्वार पर रत्नों की अवली बंधी हो

---

५२ वही; वही : प्रका० बीसवाँ ३८, ३९

५३ वही; वही : प्रका० बारहवाँ ४९

जो वर्षा के आगमन में देवताओं ने वाँधी है।"[५४] आगे के वर्णनों में आरोप की भावना के माध्यम से प्रकृति का उद्दीपन रूप में प्रयोग हुआ है। परन्तु इन वर्णनों में कवि की अलंकार-प्रियता से स्वाभाविक रूप नहीं आ सका है। शरद-वर्णन में यह प्रवृत्ति अधिक प्रत्यक्ष है।

§ १८—जहाँ तक कथानक की घटना स्थिति और भाव-स्थिति से संबन्धित प्रकृति के रूप का प्रश्न है, केशव अपनी प्रवृत्ति के कारण सामञ्जस्य स्थापित करने में असफल रहे हैं। संस्कृत महाकाव्यों के आधार पर जिन रूपों को व्यापक उद्दीपन-विभाग के अन्तर्गत लिया गया है, उनमें भी वर्णन-वैचित्र्य ही अधिक है। प्रातः का वर्णन केशव कालिदास के 'रघुवंश' के आधार पर करते हैं। 'रघुवंश' में प्रकृति रूप के साथ ऐश्वर्य्य का तादात्म्य स्थापित किया गया है; परन्तु केशव के वर्णन में ज्ञान-विज्ञान संबन्धी उपदेशात्मक उदाहरण दिए गए हैं जिनमें कथानक के प्रति कोई आग्रह नहीं है। केशव के सामने तुलसी के समान कोई क्रमिक रूप-रेखा भी नहीं है। वे केवल कुछ उक्तियों को जुटाकर सजाना चाहते हैं—

कथानक के साथ प्रकृति

"अमल कमल तजि अमोल, मधुप लोल टोल टोल,
बैठत उड़ि करि-कपोल, दान-मान कारी।
मानहु मुनि ज्ञानवृद्ध, छोड़ि छोड़ि गृह समृद्ध,
सेवत गिरिगण प्रसिद्ध, सिद्धि-सिद्धि-धारी।
तरणि किरण उदित भई, दीप जोति मलिन गई,
सदय हृदय वोध उदय, ज्यों कुबुद्धि नासै।
चक्रवाक निकट गई, चकई मन मुदित भई,
जैसे निज ज्योति पाय, जीव ज्योति भासै।"[५५]

---

५४ वही; वही : प्रका० तेरहवाँ १३, १४, १५

५५ वही; वही : प्रका० तीसवाँ २०

इस वर्णन की रेखाएँ माघ के अनुसार चलती हैं जब कि उदाहरण की शैली पौराणिक है जिसे तुलसी ने अपनाया है। वसंत-वर्णन में आरोप के आधार पर साहित्यिक परम्परा के अनुसार प्रकृति-रूप उद्दीपन के अन्तर्गत है। चंद्र-वर्णन केवल ऊहात्मक है जो हर्ष के अनुसरण पर है। इसमें चित्रमयता के लिए स्थान नहीं है, केवल विचित्र कल्पनाएँ जुटाई गई हैं जो संस्कृत के कवियों से ग्रहण की गई हैं—'(माता जी कहती हैं) यह चंद्रमा फूलों की नवीन गेंद है जिसे इन्द्राणी ने सूँघकर फेंक दिया है, यह रति के दर्पण के समान है या काम का आसन है। यह चन्द्रमा मानों मोतियों का झुमका है जिसे सूर्य्य की स्त्री असावधानी से भूल गई है। (राम कहते हैं) नहीं, यह तो वालि के समान है क्योंकि तारा साथ लिए है।'[५८] उद्दीपन रूप में उपस्थित करके भी इस चित्र में केवल उक्ति-वैचित्र्य है। बाग आदि के वर्णनों में यही प्रवृत्ति है। केशव की प्रवृत्ति प्रकृति के सहचरण-रूप को प्रस्तुत करने के विलकुल विपरीत है। इनमें स्वच्छंद वातावरण की कल्पना नहीं की जा सकती। परम्परा के अनुसार उपालम्भ आदि का प्रयोग कर दिया गया है।

§ १६—हमारे सामने दूसरा अलंकृत काव्य पृथ्वीराज रचित 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' है। कलात्मक दृष्टि से यह काव्य भी इसी वर्ग में आता है। इसमें और केशव की 'रामचन्द्रिका' में एक भेद है। यह भेद इनके काव्यगत आदर्शों का है। पृथ्वीराज कवि और कलाकार हैं, जैव कि केशव आचार्य्य तथा रीतिकार हैं। इसी कारण पृथ्वीराज अपनी कला में भी रसात्मक हैं, पर केशव अपनी अलंकार-प्रियता में वर्णन-विषय की मर्यादा का ध्यान भी नहीं रख पाते। वैसे पृथ्वीराज के सामने भी संस्कृत कवियों का आदर्श है। इस क्षेत्र में कवि ने

वेलि; कलात्मक काव्य

---

५८ वही; वही : प्रका० तीसवाँ ४१, ४२

कालिदास का अनुसरण किया है। वेलि की कथा संक्षिप्त है, इस कारण इसमें वस्तु स्थिति के रूप में प्रकृति को उपस्थित करने का अवसर नहीं रहा है। केवल एक स्थल पर द्वारिका के निकट ब्राह्मण को ध्वनि-चित्र मिलता है—

'धुनि वेद सुणति कहुँ सुणति संख धुनि
नद झल्लारि नीसाण नद।
हेका कह हेका हिलोहल,
सायर नयर सरीख मद॥'[५७]

अन्य समस्त प्रकृति के वर्णन कवि ने कथा समाप्त करके प्रस्तुत किए हैं। यह प्रकृति-योजना बाद के संस्कृत महाकाव्यों के अनुरूप हुई है जो व्यापक उद्दीपन के रूप में कथा को पृष्ठ-भूमि में रखकर उपस्थित की गई है। इन वर्णनों में आरोपों द्वारा अथवा भाव-व्यंजना के माध्यम से प्रकृति का प्रयोग उद्दीपन के अन्तर्गत हुआ है। परन्तु इन रूपों में कला के साथ रसात्मकता भी है। इनके अतिरिक्त ऋतु-वर्णनों में मानवीय क्रिया-कलापों का योग भी किया गया है जिस प्रवृत्ति का विकास संस्कृत ऋतु-वर्णनों में देखा जाता है।

क—इन समस्त वर्णनों के बीच में कवि ने सुन्दर चित्रों की उद्भावना की है जिससे कवि की प्रतिभा, मौलिकता तथा उसके सूक्ष्म निरीक्षण का पता चलता है। पृथ्वीराज राजस्थानी कवि हैं, इस कारण इनके सामने ग्रीष्म और वर्षा का रूप ही अधिक प्रत्यक्ष हो सका है। इनके वर्णनों में सब से अधिक स्वाभाविक और चित्रमय रूप भी इन्हीं ऋतुओं में है। अन्य ऋतुओं

कलापूर्ण चित्रण

---

५७ वेलि किसन रुकमणी री; पृथ्वीराज : छं० ४८ [(जगाने पर ब्राह्मण को) कहीं वेद पाठ की ध्वनि सुनाई दी, कहीं शंख की ध्वनि सुनाई दी; कहीं झालर की झंकार तो कहीं नगाड़े का नाद सुन पड़ा। हिल्लोल शब्द के कारण सागर और नगर एक ही समान शब्दायमान हो रहा था]

में, विशेषकर वसंत तथा मलय पवन के वर्णन में आरोप और उद्दीपन की भावना अधिक है साथ ही इनमें परम्परा पालन भी अधिक है। ग्रीष्म का यथार्थ रूप कवि के सामने है—'तब सूर्य ने जगत् के सिर के ऊपर होकर मार्ग बनाया, सघन वृक्षों ने जगत् पर छाया की; नदी और दिन बढ़ने लगे, पृथ्वी में कठोरता और हिमालय में द्रव भाव आ गया।' यह रेखाओं का उल्लेख केवल ग्रीष्म का व्यापक संकेत देता है। आगे कुछ अधिक गहरी रेखाएँ हैं—'मृगवात ने चलकर हरिणों को किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर दिया; धूलि उड़कर आकाश से जा लगी। आर्द्रा में वर्षा ने पृथ्वी को गीला कर दिया, गड्डे भर गए और किसान उद्यम में लगे।' ग्रीष्म का अगला चित्र कलात्मक है और अधिक सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देता है—'मनुष्यों को सूरज से तपे हुए आषाढ़ मास के मध्याह्न में माघ मास की मेघ-घटाओं से आच्छादित कृष्णवर्ण अर्द्धरात्रि की अपेक्षा अधिक निर्जनता का भान हुआ।'[५८] इसी प्रकार कवि वर्षा की उद्भावना करता है—'मोर ध्वनि करने लगे, पपीहा टेर करने लगा; इन्द्र चंचल बादलों से आकाश को शृंगारने लगा।...बड़े ज़ोर से बरसने से पर्वतों के नाले शब्दायमान होने लगे, सघन मेघ गम्भीर शब्द से गर्जने लगा; समुद्र में जल नहीं समाता, और बिजली बादलों में नहीं समाती। इन चित्रों में कलात्मक चित्रमयता है। अगले चित्र में उपमा के द्वारा भावाभिव्यक्ति की गई है—

"काली करि काँठलि ऊजल कोरण
धारे श्रावण धरहरिया।
गलि चलिया दिसो दिसि जलग्रभ
थंभि न विरहिण नयण थिया ॥"[५९]

---

५८ वही; वही: छं० १८७, १९०

५९ वही; वही: छं० १९४, १९६, १९५ [काले काले वर्तुलाकार मेघों में प्रान्तभागस्थ श्वेत बादलों की कोरवाली घटाओं सहित श्रावण

इसमें स्वाभाविक वस्तु-योजना में भाव-व्यंजना के द्वारा विरह भावना की अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु यह मानवीय भावना के सम पर प्रकृति की भावमयता है। इस कारण यह प्रकृति-रूप उद्दीपन की विशुद्ध सीमा के बाहर का है। जब इसी में आरोप की भावना प्रत्यक्ष हो जाती है, उस समय प्रकृति शुद्ध उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आती है।

× × ×

एक कथात्मक लोक-गीत

§ २०—'ढोला मारूरा दूहा' के समान गणपति रचित 'माधवानल काम-कन्दला प्रवन्ध' कथात्मक लोक-गीति से बहुत निकट है।[६०] इसमें भी स्वच्छंद वातावरण मिलता है। यह कथा अत्यधिक लोक-प्रिय रही है और अनेक प्रदेशों में इसका प्रचार रहा है। इसी नाम के दो प्रेम-काव्यों का उल्लेख किया भी गया है। इसमें बारहमासा वर्णन के दो अवसर आए हैं। एक में माधव के विरह का प्रसंग है और दूसरे में कामकंदला के विरह का। भारतीय जीवन में नारी का विरह ही अधिक उन्मुक्त रहा है; यही कारण है कि इस लोक-गीति में भी कामकंदला का बारहमासा अधिक भाव-व्यंजक है। जैसा 'ढोला मारूरा दूहा' के विषय में देखा गया है इसमें प्रकृति के साथ मानवीय भावों की स्वच्छंद व्यंजना हुई है। फाल्गुन मास में कोयल के स्वर से वियोगिनी विह्वल हो उठती है—

"कायलडी अंबय वडी, काजिल कथण हारि।
काम करइ धण कटकई, जिहा अकेलडी नारि॥"

मूसलाधार वृष्टि से पृथ्वी को जल प्लावित करने लगा। दिशा दिशा के बादल पिघल चले ने थमते नहीं, विरहिणी स्त्री के नेत्र हो रहे हैं]

६० यहाँ इसका विवेचन बाद में इस लिए किया गया है कि इसकी खोज कुछ बाद में मिल सकी। एम० आर० मजूमदार ने गणपति का समय १६ वीं श० माना है जिसने इस लोक-गीति को काव्य रूप में संग्रहीत किया है।

और चैत्र मास में पुष्पित पल्लवित वसंत के साथ विरहिणी व्याकुल हो उठी है—

"चैत्रक चंपक फुंअलआं, होडीं ले सीहकार।
तरुअर वहु पल्लव धरइ, 'मारि' करइ वहु मार॥"

असाढ़ के उमड़ते बादलों और चमकती बिजली से वह चंचल हो उठती है—

"चिहुँ-दिशि चमकइ वीजली, बादल वा वंतोल।
दुख दरिया मोंहा हूँ गई, टल वलती द्रुहि वोल॥"[६१]

इसी प्रकार वियोगिनी की व्यथा प्रकृति के साथ व्यक्त होती है।

क—कामकदला के विरह-प्रसंग में प्रकृति से निकट का संबन्ध उपस्थित करती हुई उपस्थित होती है। कहा गया है कि गीतियों की स्वच्छंद भावना में यह संबन्ध स्वाभाविक है। वह सूर्य, चन्द्र, पवन, जल, चातक, मयूर, कोकिल आदि प्रकृति के रूपों के प्रति उपालंभ देती है। विरोध में उपस्थित प्रकृति के प्रति यह उपालंभ सहज सहानुभूति को ही प्रकट करता है। कामकंदला चातक से उसके उत्तेजक शब्द के लिए उपालंभ देती है—

साहचर्य भावना

"तूं संभारइ शब्द तउ, हूँ, मुंकुं खिण मात्र।
पीउ पीउ मुखि पोकरतां, गहि वरिउं सवि गात्र॥"

मोर के प्रति उसे कितना आक्रोश है—

"माझिम-राति मोर! तूं, म करसि मुआ! पोकार।
सूता जाणी सटक दे, 'मारि' करइ मुझि मारि॥"

कोकिल के प्रति उसकी अभ्यर्थना में मार्मिक वेदना है—

"काली राति कोकिल! तूं पणि काली कोय।
वोलइ रखे वीहामणी! मुझ प्रीउ गामि होय॥"[६२]

---

६१ माधवा०; गणपति : छं० ५२६, ५२८, ५५७

६२ वही; वही : छं० ३९२, ३९७, ४००

और अन्त में वह अत्यंत निकटता से पवन को अपना दूत बना कर अपने परदेशी प्रिय के पास भेजती है—

"पवन ! संदेसु पाठवंउ, माहरु माधव-रेसि।
तपन लगाड़ी ते गयु, मझ मूकी पर देशि ॥"[६३]

इस समस्त वातावरण के साथ भी इस गुजराती गीति कथा-काव्य में 'ढोला मारुरा दूहा' जितनी स्वच्छन्द भावना नहीं है। इसका कारण है कि इसमें साहित्यिक रूढ़ि का अनुसरण अधिक है।

सप्तम प्रकरण

विभिन्न काव्य-रूपों में प्रकृति (क्रमशः)

गीति-काव्य की परम्परा

पद-गीतियाँ तथा साहित्यिक गीतियाँ

§१ —हिन्दी मध्ययुग के गीति-काव्य का विकास जन-गीतियों के आधार पर हुआ है। मध्ययुग का गीति-काव्य पदों में सीमित है, जिसका विकास दो परम्पराओं में संबन्धित है। संतों की पद परम्परा का स्रोत सिद्धों की पद शैली है जिसका विकास जनगीतियों के उपदेशात्मक अंश को प्रमुखता देकर हुआ है। वैष्णव पद-गीतियों का विकास भारतीय संगीत के योग से भावात्मकता और वर्णनात्मकता को प्रधानता देनेवाली जन-गीतियों से सम्भव है।[1] संस्कृत में जयदेव के 'गीतगोविंद'

---

१ वैष्णव पदों का प्रचार मन्दिरों में था, और यह भगवान् की सेवा के विभिन्न अवसरों पर गाए जाते थे। इस प्रकार ये पद रागों में बँध गए हैं। साथ ही इनमें जिन छंदों का प्रयोग है वे अधिकांश जन गीतियों के हैं

के अतिरिक्त कोई प्रमुख गीति-काव्य नहीं है। इसका कारण संस्कृत काव्य का अपना आदर्श है जिसमें स्वानुभूतियों की मनस्-परक अभिव्यक्ति के लिए स्थान नहीं रहा है। साहित्य में जन-गीतियों की उपेक्षा का कारण भी यही रहा है। इनमें व्यक्तिगत वातावरण ही प्रमुख रहता है। गायक अपनी ही बात, अपनी ही अनुभूति प्रमुखतः कहना चाहता है। साहित्यिक गीतियों में यही व्यक्तिगत अनुभूति जन-गीति के स्थूल आधार को छोड़कर स्पष्ट मनस्-परक अभिव्यंजना में व्यापक और गम्भीर होकर सामाजिक हो जाती है। हिन्दी के पद-काव्य के विकास में कवि की स्वानुभूति को अभिव्यक्ति का अधिक अवसर नहीं मिला है। फिर भी भक्तों के विनय के पद और मीरा तथा संतों की प्रेम-व्यंजना में आत्माभिव्यक्ति का रूप है। इन गीति के पदों और पश्चिम का साहित्यिक गीतियों में बहुत बड़ा अन्तर है। मध्ययुग के आत्माभिव्यक्ति के रूप में लिखे गए पदों में स्वच्छद वातावरण अधिक है। भक्त या साधक ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए जन-गायक के समान प्रेम और विरह का उल्लेख तीव्र भावों में और स्थूल आधार पर किया है। जबकि साहित्यिक गीतियों में कवि की भावना और वेदना का मनस्-परक चित्र व्यंजनात्मक चित्रमयता के साथ उपस्थित किया जाता है। इसी विभेद के कारण हिन्दी मध्ययुग के आत्मभिव्यक्ति के पदों में भी प्रकृति का स्थूल आधार भर लिया गया है और अभिव्यक्ति के लिए भी विशेष रूप से प्रकृति का आश्रय नहीं लिया गया। पश्चिम की साहित्यिक गीतियों में कवि की मानसिक प्रभावशीलता के सम पर प्रकृति दूर तक आती है; साथ ही इनकी व्यंजना प्रकृति के माध्यम से की गई है। वन्दना के पदों में प्रकृति के माध्यम का कोई प्रश्न नहीं उठता; उपमानों के रूप में सौन्दर्य कल्पना में प्रकृति के माध्यम पर विचार किया गया है।

§२ —प्रेम के संयोग-वियोग पक्षों की व्यंजना जिन पदों में की गई है, उनमें भावान्दोलन के प्रवाह में प्रकृति का रूप संकेतों में आया

है। प्रयोग की दृष्टि से प्रकृति के इस रूप में भाव तादात्म्य है। संतों ने ऐसे प्रयोग प्रतीकार्थ में किए हैं। परन्तु इस क्षेत्र में मीरा की वाणी प्रकृति के प्रति अधिक स्वच्छंद तथा सहानुभूतिशील है। संतों ने अपनी प्रेम-विरह की अभिव्यक्ति अदृश्य विरहणी की व्यथा के रूप में की है। इन्होंने अपनी करके जो बात कही है, वह उनके अनुभूति के क्षणों की अभिव्यक्ति है। इस क्षेत्र में मीरा ही अपनी विरह-वेदना को स्वयं व्यक्त करती सामने आती हैं। उस समय प्रकृति उनकी सहचरी है और इसी सहानुभूति के वातावरण में मीरा पपीहे को उपालंभ देती हैं—

स्वच्छंद भाव-तादात्म्य

"प्यारे पपइया रे कब को वैर चितार्‌यो।
मैं सूती छी अपने भवन में, पिय पिय करत पुकार्‌यो।
उठि बैठा वो बृच्छ की डाली, बोल बोल कंठ सार्‌यो।"[२]

और यह विरहिणी अपने मिलन के उल्लास में भी प्रकृति के सहचरण की बात उससे भावतादात्म्य स्थापित करती हुई कहना नहीं भूलती—

"बदला रे तू जल भरि ले आयो।
छोटी छोटी बूँदन बरसन लागो, कोयल सबद सुनायो।
सेज सँवारी पिय घर आये, हिल मिल मंगल गायो।"[३]

संस्कृत काव्य के समान हिन्दी मध्ययुग के काव्य में आत्माभिव्यक्ति का स्थान अधिक न होने के कारण मनःस्थिति के समानान्तर प्रकृति को स्थान नहीं मिल सका। हम अगले प्रकरण में देखेंगे कि काव्य में प्रकृति अधिकतर परम्परागत उद्दीपन रूप में उपस्थित हुई है। लेकिन मीरा ने अपनी मनोभावना के साथ प्रकृति को एक सम पर उपस्थित किया है—

---

२ पदावली; मीरा : प० ८१

३ वही; वही : प० ९७

"बरसै बदरिया सावन की, सावन की मन भावन की।
सावन में उमग्यों मेरे मानवा, भनक सुनि हरि आवन की।
उमड़-घुमड़ चहुँ दिसि से आयो, दामण दमक झर लावन की।
नन्हीं नन्हीं बूँदन मेहा बरसै, सीतल पवन सोहावन की।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, आनंद मंगल गावन की।"[४]

यहाँ मीरा के प्रिय-मिलन के उल्लास के साथ प्रकृति उल्लसित हो उठी है। इस रूप में वह भावों को सीधे अर्थों में उद्दीप्त न करके मानवीय भावना से सम प्राप्त करती है। आगे के उद्दीपन-विभाव के प्रकरण में देखा जा सकेगा कि मीरा और संतों में उस क्षेत्र में भी चित्र-मयता नहीं है, पर स्वच्छंद भावना का वातावरण अवश्य है।

§ ३—मध्ययुग की पद-गीतियों में घटना और वस्तु-स्थिति का आश्रय भर लिया गया है। पद शैली में किसी विशेष वस्तु या भाव को केन्द्र में रखकर उसी का छाया-प्रकाशों में चित्र अंकित किया जाता है। ऐसी स्थिति में पदों में अधिकतर भावाभिव्यक्ति ही हुई है और उनमें केन्द्रीभूत भावना व्यक्तिगत लगने लगती है। इस प्रकार इन पदों में कवि की स्वानुभूति की व्यंजना न होकर भी उसकी अभ्यन्तरित भावना का रूप आ जाता है। परन्तु इन पदों में भावों की मानसिक चित्रमयता की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया है, जितना भावों की बाह्य व्यजना की ओर। इस कारण इन पदों में भी प्रकृति का आधार स्थूल संकेतों में रहा है। पद-काव्य पर विचार करते समय विद्यापति का उल्लेख आवश्यक है। हिन्दी पद-गीतियों का आरम्भ इन्हीं से माना जाता है। विद्यापति की भावना ने उनके पदों में अभिव्यक्ति का एक विशेष रूप स्वीकार किया है, इस कारण भी इनका महत्त्व अधिक है। विद्यापति के पदों में राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन

पद-गीतियों में अभ्यन्तरित भाव-स्थिति

४ वही; वही : प० ९९

है। परन्तु इस प्रेम में यौवन तथा उन्माद इतना गम्भीर हो उठा है कि उसमें कवि की अव्यन्तरित भावना ही आत्माभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होती है। ऐसा सूर में भी है, परन्तु विद्यापति में भक्ति-भावना का आवरण नहीं है। वे राधा-कृष्ण के प्रेम के यौवन-उन्माद से अपनी भावना का उन्मुक्त तादात्य स्थापित कर सके हैं। इसी सम पर कवि ने मानसिक भावस्थितियों को अभिव्यक्त करने का प्रयास भी किया है। इस कारण इनके पदों में साहित्यिक गीतियों का सुन्दर रूप मिलता है। परन्तु ये गीतियाँ प्रकृतिवादी गीतियाँ नहीं हैं। इनमें तो सौन्दर्य्य और यौवन, विरह और संयोग की भावना व्यक्त हो सकी है। विद्यापति के वर्णनों में मनस्-परक पक्ष की व्यंजना इस प्रकार सन्निहित हो गई है। जब सौन्दर्य्य और यौवन प्रेम की मानसिक स्थिति को छू कर व्यक्त होते हैं, उस समय अनुभूति का गहरा और प्रभावशील होना स्वाभाविक है। इस गम्भीर अनुभूति के कारण विद्यापति की अभिव्यक्ति साधकों और भक्तों की प्रेम-व्यंजना के समान लगती है। परन्तु विद्यापति में भी मानसिक स्थिति के संकेत अवस्था और व्यापारों में खो जाते हैं जो भक्तियुग के कवियों की समान विशेषता के साथ भारतीय काव्य की भी प्रवृत्ति है।

§ ४—आध्यात्मिक साधना के प्रकरण में सौन्दर्य्य-योजना में प्रकृति-रूप पर विचार किया गया है। विद्यापति ने सौन्दर्य्य के साथ यौवन की स्फुरणशील स्थिति का संकेत प्रकृति के माध्यम से दिया है। सौन्दर्य्योपासक प्रकृतिवादी प्रकृति के दृश्यात्मक रूप में यौवन की व्यंजना के साथ आकर्षित होता है; उसी के समानान्तर विद्यापति मानवीय सौन्दर्य्य के उल्लासमय यौवन से आकर्षित होकर प्रकृति-रूप योजना के माध्यम से उसे व्यक्त करते हैं—'कनकलता में कमल पुष्पित हो रहा है, उसके मध्य में चन्द्रमा उदित हुआ है। कोई कहता सेवार से आच्छादित हो रहा है; किसी का कहना है—

विद्यापति : यौवन और सौन्दर्य्य

नहीं, यह तो मेघों से झाँप लिया गया है। कोई कहता है भौंरा भ्रमराता है; कोई कहता है—नहीं, चकोर चकित है। सभी लोग उसे देख कर संशय में पड़े हैं। लोग विभिन्न प्रकार से उसको बताते हैं। विद्यापति कहते हैं......भाग्य से ही गुणवान् पूर्ण रूप प्राप्त करता है।'[५] इसमें अन्य सगुण भक्तों के समान रूप-कातिशयाक्ति के द्वारा रूपात्मक सौन्दर्य्य की स्थापना की गई है, साथ ही यौवन की चपलता का भाव भी सन्निहित है जो प्रकृति के स्फुरण-शील रूप में स्थित है। इस प्रकार के प्रकृति-रूप का उल्लेख सौन्दर्य्य-साधना के प्रसंग में किया गया है. परन्तु वह भगवान् के लीलामय रूप से अधिक संबन्धित था। विद्यापति ने प्रकृति के माध्यम से यौवन के सौन्दर्य्य का अनेक स्थलों पर व्यञ्जित किया है—

"सखि हे कि कहब किछु नहि फूरि।
तड़ित लतालत जलद समारल आंतर सुरसरि धारा॥
तरल तिमिर शशि सूर गरासल चोदशि खसि पडु तारा।
अम्बर खसल धराधर उतरल उलटल धरणी डगमग डोले॥
खरवर वेग समीरन सञ्चर चञ्चरिगण करु रोल।
प्रणय पयोधि जले तन झाँपल ई नहि युग अवसाने॥"[६]

सगुण भक्तों ने इसी प्रकार की अलौकिक योजना की है। विद्यापति ने इस परम्परा को उनके पहले ग्रहण किया है। परन्तु इन्होंने इसमें सौन्दर्य्य के यौवन-पक्ष को चंचल-रूप में व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त कवि यौवन-प्रेम के उन्माद की व्यंजना भी प्रकृति के माध्यम से करता है। कवि प्रकृति का उल्लेख करता जान पड़ता है, परन्तु व्यंग्यार्थ में यौवन का उद्दाम प्रेम है—'जाती, केतकी, कुन्द और मंदार और भी जितने सुन्दर फूल दिखाई देते हैं, वे सभी परिमलयुक्त

५ पदावली; विद्यापति : पृ० १६

६ वही; वही : पृ० ५८६

और मकरन्द युक्त हैं। बिना अनुभव के अच्छा बुरा नहीं जाना जाता। हे सखी तुम्हारा वचन अमृतमय है, भ्रमर के व्याज से मैंने अपना प्रियतम पहिचाना।'[७] इसमें यौवन के छिपे हुए आकर्षण का भाव है; आगे मालती और भ्रमर के उदाहरण से प्रेम का संकेत है। यहाँ प्रकृति प्रमुख है, इस कारण इन प्रयोगों को केवल अलंकारों के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। कवि कहता है यौवन और सौन्दर्य अनंत हैं, पर जिसका जिससे स्नेह हो—

"कनक न जातकि केतकि कुसुम वन विकास।
तइअओ भमर तोहि सुमर न लेअ कवहु बास।
मालति बधओ जाएत लागि।
भमर बापुरे विरह आकुल तुअ दरसन लागी।
जखन जनए वन उपवन ततहि तोहि निहार।"[८]

इस प्रेम में उद्वेगशील यौवन के प्रति आकर्षण की भावना बनी रहती है। इस समस्त प्रसंग में आध्यात्मिक संकेत का बिलकुल अंश नहीं है। यौवन का आवेग समस्त आकर्षण का केन्द्र है जिसे भ्रमर और मालती के माध्यम से कवि व्यक्त करता है—

"मालति कोहक करिअ रोस।
एक भमर बहुत कुसुम कमल बाहिरि दोस।
जातकि केतकि नवि पदिमिनि सब सम अनुराग।
ताहि अवसर तोहि न विसर एहे तोर बड़ भाग।"[९]

§५—सिद्धान्त की दृष्टि से मनोभावों के समानान्तर या अनुरूप प्रकृति उद्दीपन के अन्तर्गत आती है। परन्तु इस स्थिति में उससे एक ऐसा मानसिक सम उपस्थित हो जाता है जिसके कारण हम

---

७ वही; वही : पृ० ४९७

८ वही; वही : पृ० ९६

९ वही; वही : पृ० ४४०

इस रूप को विशुद्ध उद्दीपन से अलग मानकर उल्लेख करते आए हैं। इस रूप में प्रकृति का संबन्ध घटना-स्थिति तथा भाव-स्थिति से है, जबकि विशुद्ध उद्दीपन में वह किसी आलंबन की प्रत्यक्ष स्थिति से उत्पन्न भावों को प्रभावित करती है। उद्दीपन-विभाव के प्रसंग में इसको अधिक स्पष्ट किया जा सकेगा। विद्यापति ने प्रकृति को मानवीय भावों के सम पर या विरोध में उपस्थित किया है, पर ये वर्णन अभिसार का उद्दीपक वातावरण निर्माण करते हैं। इन चित्रों में अधिकाश में विरोधी भावना लगती है जो रुकावटों के रूप में है और इस सीमा पर प्रकृति उद्दीपन के अन्तर्गत आवेगी। लेकिन यहाँ हृदय के उद्वेग और उसकी विह्वलता को लेकर प्रकृति का वातावरण भी उसी के सम पर चंचल है—

भावात्मक सम

> "गगने अव घन मेह दारुण सघन दामिनि झलकइ।
> कुलिश पातन शब्द झनझन पवन खरतर वलगइ।
> सजनि आजु दुरदिन भेल।
> कन्त हमरि नितान्त अगुसरि सङ्केत कुञ्जहि गेल।
> तरल जलधर वरिखे झर-झर गरजे घन घनघोर।"[10]

इस सम समस्त योजना में भी प्रकृति में प्रतिघटित सम भाव-स्थिति में उद्दाम कामना का रूप झलक जाता है। विद्यापति में प्रकृति भी यौवन के उल्लास के साथ ही उपस्थित होती है—

> "झलकइ दामिनि रहत समान। झनझन शब्द कुलिश झन झान।
> चढ़ब मनोरथ सारथि काम। तोरित मिलायब नागर ठाम॥"[11]

विरह और संयोग के पक्षों में प्रकृति का उद्दीपन-रूप उपस्थित होता है, साथ ही इनमें बारहमासा और ऋतु-वर्णन की परम्परा भी मिलती है। इनका रूप अधिक स्वतंत्र है, इनमें प्रकृति के संक्षिप्त

---

१० वही; वही : पृ० २९०

११ वही; वही : पृ० २९२

उल्लेख के साथ भावों की अभिव्यक्ति की गई है। विद्यापति के पदों में साहित्यिक कलात्मकता के साथ प्रकृति के प्रति स्वच्छंद सहचरण की भावना भी मिलती है। इस पद में वियोगिनी की अभिव्यक्ति प्रकृति के प्रति सहज सौहार्द्य के साथ हुई है—

"मोराहि रे अँगना चाँदन केरि गछिआ
ताहि चढ़ि कूरल काक रे।
सोने चञ्चु बँधए देव मोरा वाअस
जओ पिआ आओत आज रे ॥"[१२]

§ ६—मध्ययुग में कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत पद-गीतियों का अधिक विकास हुआ है। अनेक कवियों ने पदों में कृष्ण की कथा और लीलाओं का वर्णन किया है। कृष्ण-काव्य के विस्तार में पद-शैली का प्रयोग विभिन्न काव्य-रूपों में हुआ है। पदों का प्रयोग कथा के लिए भी हुआ है, इस कारण इनमें गीतियों की भावात्मकता के साथ वर्णना को भी विस्तार मिला है। इन पदों में अभ्यन्तरित भावों को अभिव्यक्ति का रूप मिला है, साथ ही इनमें वस्तु और घटना का वर्णनात्मक आधार भी प्रस्तुत हुआ है। पीछे हम देख आए हैं कि भक्तों के लिए भगवान् की लीला-भूमि और विहार-स्थली आदर्श और अलौकिक है। उसमें प्रकृति का रूप भी ऐसा ही चित्रित है। गोकुल, वृन्दावन और यमुना-पुलिन तक कृष्ण-लीला का क्षेत्र सीमित है जिसके आदर्श रूप की ओर आध्यात्मिक प्रसंग में संकेत किया गया है। यही बात तुलसी की गीतावली के चित्रकूट आदि वर्णनों के विषय में सत्य है। वर्णनशैली की दृष्टि से इनमें व्यापक संश्लिष्टता है, कुछ स्थलों में कलात्मक चित्रण भी हैं। लीला से संबन्धित स्थलों को प्रमुखता देकर स्वतंत्र काव्य-रूपों की परम्परा भी चली है। लेकिन कृष्ण-काव्य के

पद-गीतियों के विभिन्न काव्य-रूप

---

१२ वही; वही : पृ० ८०२

अन्तर्गत ही इन रूपों का विकास हुआ है। उसका कारण है कि कृष्ण-भक्ति की साधना में लीला के साथ विभिन्न लीला पदों का विकास हुआ और वाद में इन्हीं के आधार पर काव्य-रूपों की परम्परा चल निकली। लीला की भावना के आकर्षण के कारण इनका प्रयोग राम-भक्तों ने तथा एक सीमा तक संतों ने भी वाद में किया है।

वृन्दावन-वर्णन

क—भगवान् कृष्ण की लीला-भूमि वृन्दावन है। उसके आदर्श सौन्दर्य तथा उल्लासमयी भावना के विषय में कहा जा चुका है। यह वृन्दावन भगवान् की चिरंतन लीला स्थली का प्रतीक है। इस कारण भक्तों ने लीला प्रसंग में इसका वर्णन किया है। वाद में वृन्दावन से संवन्धित काव्य-रूपों का विकास हुआ।[13] इस काव्य-रूप में वृन्दावन की स्थली के चित्रण के साथ भक्ति-भूमिका के रूप में उसका माहात्म्य भी वर्णित है। लीला-स्थली के रूप में वृन्दावन का चित्रमय और भावमय वर्णन रास और विहार वर्णनों में ही आया है। इसमें प्रकृति की उल्लासमयी भावना में मानवीय भावों की सम स्थिति है। कृष्णदास भक्त की भावना के सम पर वृन्दावन को इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

"कुसमित कुंज विविध वृन्दावन चलिए नंद के लाला।
पाटर जाई जुही केतकी चंपक वकुल गुलाला।
कोकिल कीर चकोर मोर खग जमुना तट निकट मराला।
त्रिगुण समीर वहत अलि गुंजत नीकी ठौर गोपाला।
सुनि मृदु वचन चले गिरिवरधर कटि तटि किंकिन जाला।
नाना केलि करत सखियन संग चंचल नैन विसाला।"[14]

१३ वृन्दावन से सवन्धित काव्य—वृन्दावन-शतक; भागवतमुनि : वृन्दावन-शतक; रसिक प्रीतम : वृन्दावन-शतक; ध्रुवदास : और मुक्तकों की शैली में वृन्दावन सत्ताइसमाला; चन्द्रलाल।

१४ पुष्टिमार्गीय पद-संग्रह; पृ० १८, प० ५२

इस पद में क्रीड़ा की पृष्ठभूमि में वृन्दावन पर भक्त रूप गोपियों की मनःस्थिति की प्रतिछाया पड़ रही है। आगे के स्वतन्त्र रूपों में लीलामयी भावमयता के स्थान पर उसका महत्त्व और माहात्म्य ही बढ़ता गया है। कहीं कहीं भावों का प्रतिबिंब आ जाता है—'वृन्दावन की शोभा देखकर नेत्र प्रसन्न हो गए। रवि-शशि आदि समस्त प्रकाशवान् नक्षत्रों को उस पर न्योछावर कर दें। जिसमें लता लता कल्पतरु है जो एक रस रहती हैं और जहां यमुना तट छलकता है। उसमें आनन्द समूह बरसता है; सुगन्ध और पराग रस में लुब्ध भ्रमर मधुर गुंजार करते हैं।'[१५] पर आगे वृन्दावन के प्रसंगों में माहात्म्य कथन है—

"केलि कल जोहत विमोहत सुंहै है कव
वृन्दकुंज पुंज अमर अमोवका।
आनंद में झूम घूम वसौंगो विलास भूमि
आरत कौ तूमि जैसें सुख पावै होव का।"[१६]

यही काव्य-रूप कवित्त-सवैया में रीति-परम्परा से प्रभावित होकर अधिक वैचित्र्य युक्त होता गया है। भक्ति भावना से आरम्भ होने वाली काव्य-परम्परा को रीति-काल के कवियों ने इस प्रकार अपना लिया है—

"कुंज माँह द्वै घाट हैं सीतल सुखद सुढार,
तहाँ अनूठी रीति सों झूमि झुकी द्रुम डार।
वह डारी प्यारी लगे जल मैं झलकै पात,
वा सोभा को देखि कै पेड़ चख्यो नहि जात।"[१७]

ख—कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत लीला और विहार को लेकर काव्य रूप की परम्परा चली है। इस परम्परा में दो प्रकार के काव्य-रूप पाए

१५ वृन्दावन शतक; ध्रुवदास : १२, १४, १६
१६ वृन्दा०; भागवत मुदित
१७ वृन्दा०; चन्द्रलाल

रास और विहार

जाते हैं। एक में विहार की व्यापक भावना को लेकर चला गया है और दूसरे में विशेष रूप से रास-लीला प्रसंग लिया गया है। परन्तु इन दोनों में प्रकृति का प्रयोग समान रूप से हुआ है।[१८] इनमें पृष्ठ-भूमि के रूप में लीला की उल्लासमयी भावना को प्रतिबिंबित करती हुई प्रकृति उपस्थित हुई है: साथ ही इनमें आदर्श-भावना भी सन्निहित है। नन्ददास रास की स्थली को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—'देवताओं में रमारमण नारायण प्रभु जिस प्रकार हैं उसी प्रकार वनों में वृन्दावन सुन्दर सर्वदा सुशोभित है। वहाँ जितने वृक्षों की जातियाँ है सभी कल्पद्रुम के समान हैं; चिन्तामणि के समान भूमि है......। सभी वृक्ष आकांक्षित फल को देने वाले हैं: उनके बीच एक कल्पतरु लगा हुआ है उसका प्रकाश जगमगा रहा है: पत्र-फल-फूल सभी तो हीरा, मणि और मोती हैं।......और उस कल्पतरु के बीच में एक और भी अद्भुत छवि

---

१८ विहार-वर्णन की परम्परा में अनेक काव्य-ग्रंथ हैं। सूर और नन्ददास के पदों में अनेक प्रसंग हैं; गदाधर की बानी : रहसि मंजरी; ध्रुवदास : जुगुल-सतक; श्री भट्ट : श्री हरिदास के पद : श्री किशोरीदास के पद : रंगझर; सुन्दर कुमारी : विहार-वाटिका; नागरीदास : अनुराग बाग; दीनदयाल गिरि : सुख-मंजरी; रतिमंजरी; ध्रुवदास : सुख-उल्लास; वल्लभ रसिक : केलिमाला; हरिदास स्वामी : महावानी; हरि व्यास देव; राधारमण रस सागर; मनोहरदास : रसिकलता; अनन्दलता; हुलासलता आदि; रसिकदास (देव) : नित्य-विहार जुगुल ध्यान; रूप लाल गोस्वामी : नित्य-विहार जुगुल ध्यान; आनन्दरसिक : चौरासी पद; हित हरिवंश। इन लीलाओं के अतिरिक्त रास से संबन्धी काव्यों में सूर का सूरसागर और नन्ददास के पद तथा 'रास पंचाध्यायी' : रास-विलास; पीताम्बर : रास पंचाध्यायी; रास विलास; रास-लीला; दमोदरदास : रासविहार लीला; ध्रुवदास : रासपंचाध्यायी; रामकृष्ण चौबे : पंचाध्यायी; सुन्दर सिन्दुर

सुशोभित है—उसकी शाखाओं, फल-फूलों में हरि का प्रतिबिंब है। उसके नीचे स्वर्णमयी मणि-भूमि मन को मोहती है। उसमें सबका प्रतिबिंब ऐसा लगता है मानों दूसरा वन ही हो। पृथ्वी और जल में उत्पन्न होनेवाले फूल सुन्दर सुशोभित हैं बहुत से भ्रमर उड़ते हैं जिनसे पराग उड़ उड़कर पड़ता है और छवि कहते नहीं बनती। प्रेम में उमंगित यमुना तटों पर ही अत्यधिक गहरी प्रवाहित है और उमंग कर अपनी लहरों से मणि मंडित भूमि का स्पर्श कर रही है।'[१९] इस चित्र में भगवान् की लीला-स्थली होने के कारण आदर्श का रूप है जिसका उल्लेख साधना के प्रसंग में विस्तार से किया गया है। परन्तु इसकी कलात्मक वर्णना शैली का उल्लेख करना आवश्यक है साथ ही भावात्मक पृष्ठ-भूमि की व्यंजना भी इसमें सन्निहित है। यह लीला का विशेष अवसर है, पर अन्य लीला के प्रसंगों में भी इस प्रकार के चित्र आए हैं। गदाधर भट्ट लीला की पृष्ठ-भूमि कालिन्दी-पुलिन को इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

"कालिन्दी जह नदी नील निर्मल जल भ्राजै।
परम तत्त्व वेदांत वेद्य इव रूप विराजै।
रक्तपीत सित असित लसित वन सोभा।
टोल टोल मद लोल भ्रमत मधुकर मधुलोभा।
सारस अरु कलहंस कोक कोलाहल कारी।
अगनित लच्छन पच्छि जाति कहतहिं नहिं हारी।
पुलिन पवित विचित्र रजित नाना मनि मोती।
लज्जित हैं ससि सूर निसि बासर होती।"[२०]

---

१९ रासपंचाध्यायी; नन्ददास : प्र० अध्या०। यह काव्य प्रबन्धात्मक है, परन्तु लीला के अन्तर्गत होने से यहाँ इसका उल्लेख किया गया है। रोला छंद में जन-गीतियों से संबन्धित है और इसमें संगीतात्मक प्रवाह भी है।

२० बानी; गदाधर भट्ट : पद ३, ४

इस विहार की आधार-भूमि के आदर्श-चित्रण में आनन्द व्यंजना निहित है जो स्थिति के अनुकूल है। यह उल्लास की भावना परिस्थिति के सम पर प्रकृति के क्रिया-कलापों से और भी प्रतिघटित जान पड़ती है—'विहार की लीला-स्थली में कुंज कुंज इस प्रकार बने हैं मानों मस्त हाथी हों, पवन के संचरण से लताएँ तुरंग के समान नृत्य कर उठती हैं, अनेक फूल पुष्पित हो गए हैं, मानों वृन्दावन ने अनेक रंग के वस्त्र धारण किए है।'[२१] इस चित्र में कलात्मकता के साथ भाव-व्यंजना है, जो आरोप के आश्रय पर हुई है। रास के अवसर पर नन्ददास ने प्रकृति को भावोल्लास में प्रस्तुत किया है। इस लीला-भूमि में परिस्थिति के उपयुक्त आन्दोल्लास को प्रकृति ध्वनित करती है—

"छबि सौं फूले अमर फूल, अस लगति लुनाई।
मनहुँ सरद की छपा छबीली, बिहसति आई।
ताही छिन उडुगन उदित, रस रास सहायक।
कुंकुम-मंडित प्रिया-बदन, जनु नागर नायक।
कोमल किरन-अरुनिमा, बन में ब्यापि रही यों।
मनसिज खेल्यो फाग घुमड़ि घुरि रह्यो गुलाल ज्यों।
मंद मंद चलत चारु चंद्रमा, अस छबि पाई।
उझकत है जनु रमारमन, पिय-कौतुक आई।"[२२]

इस चित्र की शैली कलात्मक और भाव व्यंजक है। श्रीमद्भागवत के रास प्रसंग के अनुकरण पर होकर भी इस योजना में गति के साथ अपना सौन्दर्य भी है। यह प्रकृति का वातावरण अपने सौन्दर्य के साथ उस रास के महान् अवसर का संकेत भी देता है जो भक्तों के भगवान् की निरन्तर लीला का एक भाग है।

२१ बन विहार लीला; ध्रुवदास : १३, १४
२२ रास पं०; नन्द० : प्र० अध्या०

(i) रास और विहार प्रसंग के अन्तर्गत प्रकृति के प्रति साहचर्य्य-भावना का रूप भी मिलता है। इसका इस दिव्य प्रसंग में विशेष अवसर नहीं है। रास के अवसर पर भक्तों के अहंकार को दूर करने के लिए क्षणिक वियोग की कल्पना की गई है। इस स्थिति में मानवीय सहज भाव-स्थिति में गोपियाँ कृष्ण का पता वृक्षों आदि से पूछती फिरती हैं–'हे मंदार, तुम तो महान् उदार हो! और हे करवीर, तुम तो वीर हो और बुद्धिमान भी हो! क्या तुमने मन-हरण धीरगति कृष्ण को कहीं देखा है। हे कदंब, हे आम और नीम, तुम सब ने मौन क्यों धारण कर रखा है। बोलते क्यों नहीं। हे वट, तुम तो सुन्दर और विशाल हो। तुम ही इधर-उधर देख कर बताओ।'[23] यह प्रसंग भागवत के आधार पर उपस्थित किया गया है। परन्तु नन्ददास में यह स्थल संक्षिप्त है साथ ही अधिक स्वाभाविक है। हम देख चुके हैं कि सहानुभूति के वातावरण में प्रकृति के प्रति सहचरण की भावना में उससे निकट का संबन्ध स्थापित करना जन गीतियों की प्रवृत्ति है। काव्य में प्रकृति के प्रति हमारी सहानुभूति उससे सहज संबन्ध उपस्थित करती है और यह भावना काव्य में जन-गीतियों से ग्रहण की गई है। भक्तों के पदों में इसके लिए अधिक स्थान नहीं रहा है। फिर भी साधक के मन का कवि प्रकृति के इस संबन्ध के प्रति आकर्पित अवश्य हुआ है। सूर इसी विरह प्रसंग के अवसर पर गोपियों की मनःस्थिति को प्रकृति के निकट सहज रूप से संवेदनशील पाते हैं। गोपियाँ वियोग-वेदना में प्रकृति को अपना सहचरी मानकर जैसे पूछती हैं—'हे वन की वल्लरी, कहीं तुमने नंदनन्दन को देखा है। हे मालती, मैं पूछती हूँ क्या तूने उस शरीर के चंदन की सुगन्ध पाई है।......मृग-मृगी, द्रुम-वेलि, वन के सारस और पक्षियों में किसी ने भी तो नहीं बताया।......अच्छा तुलसी तुम्हीं बताओ, तुम

सहचरण की भावना

---

२३ वही; वही: ८० अध्या०

तो सब जानती हो. वह घनश्याम कहाँ है ? हे मृगी, तू ही मया कर के मुझसे कह..... हे हंस तुम्हीं फिर बताओ।[२४] यह प्रसंग जैसा कहा गया है भागवत के अनुसरण पर है: परन्तु सूर ने इसको सहज वातावरण प्रदान किया है जो पदों की भावात्मकता से एक रस हो जाता है। यहाँ गोपियों का बार-बार उपालम्भ देना—

"मृग मृगिनी द्रुम बन सारस खग काहू नहीं बतायो री।"

स्थिति को अधिक सहज रूप से सामने रखता है, और 'गोद पसार' कर प्रकृति के रूपों 'मया' की याचना करना अधिक स्वाभाविक भाव-स्थिति उत्पन्न कर देता है।

अन्य प्रसंगों में प्रकृति-साहचर्य

§७—रास तथा विहार आदि प्रसंगों के अन्य प्रकृति-रूपों की विवेचना या तो आध्यात्मिक साधना के अन्तर्गत की जा चुकी है या उद्दीपन-विभाव के साथ की जायगी। परन्तु यहाँ इन पद-गीतियों के समस्त विस्तार में प्रकृति के प्रति साहचर्य भावना का जो स्वच्छंद रूप मिलता है उसका उल्लेख कर देना आवश्यक है। अभी रास के प्रसंग में इसका उल्लेख किया भी गया है। रास और विहार संयोग के अन्तर्गत हैं। परन्तु प्रकृति के प्रति हमारी सहानुभूति उत्सुक वियोग के क्षणों में ही उससे अधिक निकट का संबन्ध स्थापित करती है। गोपी विरह में प्रकृति उद्दीपन के रूप में तो प्रस्तुत हुई ही है, परन्तु इसी प्रसंग में गोपियाँ अधिक संवेदनशील होकर उससे निकटता का अनुभव करती हैं। इस क्षेत्र में सूर की संवेदना गोपियों के माध्यम से अधिक व्यक्त तथा सहज हो सकी है। सूर की गोपियाँ प्रकृति को भी अपनी व्यथा में भावमग्न पाती हैं। उनके सामने यमुना भी उनके समान विरह-व्यथा से व्याकुल प्रवाहित है और इस माध्यम से वे अपनी मनःस्थिति का प्रतिबिंब प्रकृति पर छाया देखती हैं—

"दिखिअति कालिंदी अतिकारी।
अहो पथिक कहियौ उन हरिसों भई विरह ज्वर जारी।
मन पर्यंक ते परा धरणि धुकि तरंग तलफ नित भारी।
तट बारू उपचार चूर जल परी प्रसेद पनारी।
विगलित कच कुच कास कुलिन पर पंकजु काजल सारी।
मनमें भ्रमर ते भ्रमत फिरत है दिशि दिशि दीन दुखारी।
निशि दिन चकई वादि वकत है प्रेम मनोहर हारी।
सूरदास प्रभु जोई यमुन गति सोइ गति भई हमारी।"[२५]

इस प्रकृति-रूप में गोपी की भावना का तादात्म्य स्थापित हुआ है। इसमें बाह्य आरोपों का आधार लिया गया है और यह भारतीय काव्य की अपनी प्रवृत्ति है। इस ओर संकेत किया जा चुका है कि भारतीय साहित्य में भाव-व्यंजना को बाह्य अनुभावों के आधार पर. व्यक्त करने की प्रवृत्ति रही है। इस कारण कवि की भावना को इसी आधार पर अधिक उचित रूप से समझा जा सकता है। अन्यथा कवि के प्रति अन्याय होना सम्भव है, जैसा कि कुछ आलोचकों ने किया भी है। इसी प्रकार का सहानुभूति पूर्ण वातावरण सूर बादल को लेकर उपस्थित करते हैं। गोपियाँ उसके प्रति अपना सौहार्द्र स्थापित करती हुई परदेशी कृष्ण को उपालम्भ देती हैं और इस स्थिति में जैसे वे अपनी सहानुभूति को निकट संबन्ध में पाती हैं — 'ये बादल भी बरसने के लिए आ गए, हे नंदनन्दन, देखो तो सही! ये अपनी अवधि को समझकर ही आकाश में गरज घुमड़कर छा गए हैं। हे सखि, कहते हैं ये तो देव लोक के वासी हैं और फिर दूसरे के सेवक भी हैं। फिर भी ये चातक और पपीहा की व्यथा को समझकर उतनी दूर से धाए हैं और देखो इन्होंने तृणों को हरा कर दिया है। लताओं को हर्षित कर दिया है और मृतक दादुरों को जीवन दान किया है। सघन नीड़ में पक्षियों को

२५ वही; वही; पद २७२८

अपनी मनःस्थिति में प्रकृति के साथ स्थान-स्थान पर अपने को भी मिला दिया है—

"छाँड़न नेहु नाहिं मैं जान्यो लै गुण प्रगट नए।
नूतन कदम तमाल बकुल वट परसत जनम गए।
मुज भरि मिलनि उडत उदास ह्वै गत स्वारथ समए।
भटकत फिरत पातद्रुम वेलिन कुसुम करञ्ज भए॥
सूर विमुख पद अंबुज छाँड़े विषय निमिष वर छुए॥"३०

अपनी आत्मविस्मृति स्थिति में गोपियों पुष्पों के साथ प्रत्यक्ष रूप से अपनी बात भी कहने लगती हैं। इस प्रसंग में एक स्थल पर गोपियों अपने मन की झुंझलाहट को इसी प्रकार व्यक्त किया है—

"मधुकर कहा कारे की जाति।
ज्यो जल मीन कमल मधुपन को छिन नहिं प्रीति खटाति।
कोकिल कपट कुटिल वायस छलि फिरि नहि वह बन जाति॥"३१

इन उदाहरणों में जो प्रतारणा का आरोप किया गया है वह भी सहज निकटता को ही व्यंजित करता है। यह समस्त आक्रोश और उपालंभ इसी भाव को लेकर चला है।

ग—इस प्रकार के प्रकृति-रूप अन्य कवियों में नहीं मिलते हैं। इन स्थलों पर प्रकृति का केवल उद्दीपन रूप सामने आ सका है। कदाचित् सूर के अनुकरण पर तुलसी ने 'गीतावली' में राम के घोड़ों के माध्यम से कौशिल्या की व्यथा को व्यक्त किया है। कौशिल्या कहती हैं—

"आली ! हौं इन्हहिं बुझावौं कैसे ?
लेत हिये भरि पति को हित, मातु हेतु सुत जैसे।

वार बार हिनहिनात हेरि उत, जो बोलै कोउ द्वारे।
अंग लगाइ लिए बारे तें. करुनामय सुत प्यारे।
लोचन सजल सदा सोवत से, खान-पान बिसराए।
चितवत चौंकि नाम सुनि, सोचत राम सुरति उर लाए।"[32]

परन्तु इस अनुकरण में भी तुलसी की व्यंजना अत्यंत भावपूर्ण और चित्रमय है। इसमें पशुओं की मानव के साथ सहानुभूति को व्यक्त किया गया है और साथ ही उनके अनुभावों का सजीव चित्रण भी हुआ है। घोड़े आदि पशु मानवीय सम्पर्क में वियोग का अनुभव करते देखे जाते हैं; यह प्रतिदिन के जीवन का सत्य है जिसके माध्यम से कवि ने भाव-तादात्मय स्थापित किया है।

§८—भक्त कवियों के पदों में वियोग और संयोग के साथ जन-प्रचलित ऋतु के परिवर्तित दृश्यों का आश्रय भी लिया गया है।

ऋतु संबन्धी काव्य-रूप

हम कह चुके हैं कि संस्कृत काव्य में ऋतुओं का वर्णन रूढ़िगत हो चुका था। भक्त कवियों ने इस परम्परा के साथ जन-गीतियों के उन्मुक्त वातावरण का भी आश्रय लिया है। इनकी प्रमुख प्रवृत्ति प्रकृति-रूपों को उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत लेने की रही है। पद-गीतियों में इनको अलग काव्य-रूप भी नहीं मिला है, अन्य वर्णनों के अन्तर्गत ही सम्मिलित किए गए हैं। आगे चलकर रीति-कालीन परम्परा में इन वर्णनों ने एक निश्चित रूप ग्रहण किया है। इन वर्णनों में ऋतुओं तथा मासों का क्रम भी स्थापित नहीं हुआ है और जो ऋतु अथवा मास अधिक प्रभावशील है उसी को प्रमुख रूप से ग्रहण किया गया है। इन ऋतुओं में पावस और वसंत की प्रमुखता है। सूर तथा अन्य कवियों ने इन्हीं का वर्णन किया है। इस काल में ऋतु-वर्णन की

---

३२ गीता०; तुलसी : अयो०, पद ८६ पद ८७ में भी इसी भाव को दूसरे प्रकार से व्यक्त किया गया है।

हरहरात घहरात प्रबल अति, गोपी ग्वाल भए औरे गति।"[३५]
इसी प्रकार प्रभाती के प्रसंग में गोपाल कृष्ण को जगाते हुए कवियों ने प्रातःकाल का चित्र व्यापक रेखाओं में उपस्थित किया है। इन चित्रों साधारण चित्रण शैली का माना जा सकता है। सूर गोपाल लाल जगा रहे हैं—'गोपाल जागिए, ग्वाल द्वार पर खड़े हैं......रात्रि का अंधकार तो मिट चुका है; चन्द्रमा मलीन हो चुका है; सूर्य्य किरण के प्रवाह में तारा-समूह अदृश्य हो चुका है। कमलों का समूह पुष्पित हो गया है; पुष्प वृन्दों पर भ्रमर समूह गुंजार रहा है और कुमुदिनी मलीन हो चुकी है।'[३६] नन्ददास भी इसी प्रकार दृश्यों का, आधार लेते हुए प्रभाती गा रहे हैं—'चकई की वाणी सुन कर चिड़िया चुहचुहाने लगी; यशोदा कहती हैं मेरे लाल जागो। रवि किरण के प्रवाह को समझ कर कुमुदिनी संकुचित हो गई, कमलिनी विकसित हो गई; और गोपियाँ दधि मथ रही हैं।' वस्तुतः प्रभाती आदि का रूप साम्प्रदायिक विधानों में भगवान् के दिन भर के लीला संबन्धी पदों के आधार पर चला है। पहले कवियों ने कुछ अपने निरीक्षण तथा अधिकांश में साहित्यिक परम्पराओं से प्रकृति का आधार प्रस्तुत भी किया है; परन्तु बाद में इन लीलाओं के साथ शृंगार और क्रियाओं का उल्लेख ही बढ़ता गया। लीला प्रसंग में गोचारण लीला में एक सीमा तक पशु चारण काव्य की भावना मिलती है। यह प्रसंग अत्यंत संक्षेप लिया गया है, अधिकतर उसमें रूप आदि का वर्णन है। परन्तु गायों के प्रति सहानुभूति का वातावरण और ग्वालबालों की क्रीड़ाशीलता तथा उनका उल्लास इस प्रसंग की

है। परन्तु मुक्तक छंद अपने प्रवाह में कलात्मक होता है, वह कुछ रुक-रुक ठहरकर चलता है। ऐसी स्थिति में उसमें भावों को चित्रमय, कलामय करने की अधिक प्रवृत्ति होती है। हिन्दी मध्ययुग के मुक्तक काव्य में यह प्रवृत्ति बढ़कर ऊहात्मक कथन की सीमा तक पहुँच गई है। फिर पद में भावों के केन्द्र-बिन्दु से आरम्भ करके समस्त भाव-धारा को उसीके चारों ओर प्रगुम्फित कर देते हैं जबकि मुक्तक छंद में किसी प्रसंग, किसी घटना या भाव स्थिति को ही कलात्मक ढंग से प्रारम्भ करके, अन्त में उसीके चरम क्षण में छोड़ देते हैं। मुक्तक छंदों की इस गठन में उनके अलकृत और चमत्कृत प्रयोग का इतिहास छिपा है। मुक्तक छंदों में कवित्त और सवैया के साथ बरवै तथा दोहा भी स्वीकृत रहे हैं, परन्तु इनका प्रयोग पूर्व का है। इन दोनों छंदों का प्रयोग काव्य-शास्त्र के ग्रंथों में हुआ है या उपदेश आदि के लिए। कवित्त और सवैया का प्रयोग मुक्तकों के रूप में भक्ति काल के तथा रीति-काल के स्वतंत्र कवियों के द्वारा किया गया है। ये कवि एक ओर भक्ति-काव्य के प्रभाव में हैं और उनकी परम्परा से प्रेरणा ग्रहण करते हैं; दूसरी ओर रीतिकालीन साहित्यिक रूढ़ियों से भी प्रभावित हैं। दूसरी परम्परा के अनुसरण से इनमें चमत्कार की आलंकारिक भावना अधिक पाई गई है।

कवि ठाकुर वे पिय दूर बसें तन मैन मरोर मरोरती सी।
यह पीर न पावति आवति है फिर पापिनी पावस फेरती सी।"[38]

इस वर्णन में पावस की उमड़ती घटा के सम पर व्यथा की व्यंजना की गई है। ठाकुर के दूसरे प्रकृति वर्णन में भावात्मक व्यंजना को अनुभावों के रूप में दृश्य के समक्ष रखने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। बादल की उमड़न तथा दामिनि के चमक के साथ पिकी की पुकार और रिमझिम वर्षा स्वतः ही—'रटैं प्यारी परदेश पापी प्रान तरसतु हैं' के द्वारा समस्त भाव व्यंजना को प्रस्तुत कर देती है।[39] चित्रण शैली की दृष्टि से इन समस्त वर्णनों में उल्लेखात्मक तथा व्यापक संश्लिष्ट योजना मात्र है। इन कवियों की उन्मुक्त प्रेम-भावना में मानवीय संबन्ध ही प्रधान है, इसलिए प्रकृति को विशेष स्थान नहीं मिल सका है। कहीं किसी स्थल पर ही सहानुभूति पूर्ण संबन्ध में प्रकृति आ सकी है। रीति परम्परा के प्रभाव के कारण भी यह रूप अधिक नहीं आ सका है। एक दो स्थलों पर रसखान और घनानन्द की प्रेम भावना के प्रेम प्रसार में गोकुल तथा वहाँ की प्रकृति के प्रति आत्मीयता की भावना व्यक्त हुई है। रसखान ब्रज-भूमि के प्रति अत्यधिक आत्मीयता प्रकट करते हैं—

"मानस हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाव के ग्वारन।
जो पशु हों तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।

---

३८ शतक; ठाकुर : छं० ५०

३९ वही; वही : छं० ५२—

"दौरि दौरि दमकि दमकि दुर दामिनि यों दुन्द देत दहूँ दिसान दरसतु है।
घूमि घूमि घहरि घहरि गन घरत घेरि घेरि घेरि घोर घना सोर सरसत है।
ठाकुर कहत पिक पीकि पीकि पीकों रटै प्यारी परदेस पापी प्रान तरसतु है।
झूमि झूमि झुकि झुकि झर्रानि झमकि झरी रिमझिमि रस बरसतु है।"

पाहन हौं तो वही गिरि को जो धरयो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।।"४०

अपने प्रिय को लेकर रसखान की यह आकाँक्षा ब्रज के 'गिरि, धेनु, खग और कदम्ब' से निकट संबन्ध स्थापित करने के लिए आकुल है। प्रकृति के प्रति सहानुभूति तथा उसके सहचरण की आत्मीयता को लेकर बोधा की विरहिणी आत्मा कोकिल को उपालम्भ देती है— 'रसालों के वन में बैठी हुई री कोयल, तू आधीरात में अज्ञात स्थान से रस के समान प्रचारती है। तू नाहक ही विरहिणी नारियों के पीछे पड़ी है और उन्हें लूकों से जलाती है।' इस उक्ति पर रीति-कालीन प्रभाव प्रत्यक्ष है। यह उपालंभ अधिक सहज हो जाता है, जब बोधा की विरहिणी कोकिल से कहती है—

"कूक न मारु कोइलिया करि करि तेह।
लागि जात विरहिन के दूबरि देह॥"

पर इसमें उक्ति का वैचित्र्य न हो, ऐसा नहीं है। साथ ही कवि प्रकृति से भाव-साम्य स्थापित करके उसके माध्यम से वियोग लक्षित करता है—

"लीने संग भ्रमरिए भरम वियोग।
रोवत फिरत भँवरवा करिकै सोग॥"४१

स्वाभोक्ति के माध्यम से यह व्यंजना सुन्दर है, पर ऐसे स्थल इन कवियों में कम हैं।

सकी है। अधिकांश कवियों ने कृष्ण भक्त-कवियों के अनुसरण पर प्रसंगों को चुना है परन्तु इन्होंने अलंकृत तथा चमत्कृत शैली रीति के कवियों की अपनाई है।[४२] इन सब में ऋतु अथवा स्थानों का वर्णन उल्लेखों में हुआ है और उनमें भी चमत्कार की भावना ही अधिक है। साथ ही भावात्मकता के स्थान पर क्रीड़ा-कौतुक हास-विलास का समावेश अधिक हुआ है। यमुना-पुलिन को कवि इस प्रकार उपस्थित करता है—

"जमुना पुलिन माह नलिन सुगंध लै लै,
सीतल समीर धरी वहैं चहुँ ओर तैं।
फूलो है विचित्र कुंज गुंजत मधुप पुंज;
कुसमित सेज प्रिया पीय चित चोर तैं॥
हास परिहास रस दंदन प्रणय वस,
सुघराई बैन सैन नैनन की कोर तैं।
राधिका रमण प्रीति छिनु-छिनु नई रीति;
बौवें मनोहर मीत वेलें नेहजार तैं॥[४३]

इस वर्णन में प्रकृति का उल्लेख तो परम्परा पालन मात्र है, उसका केन्द्र तो विलास है। यह प्रवृत्ति इन कवियों के सभी काव्य रूपों में पाई जाती है।

§ ११—भक्ति-काव्य में विहार के अन्तर्गत वसंत, झूला तथा हिंडोला आदि का उल्लेख किया गया है। इनका वर्णन मुक्तक काव्यों में स्वतंत्र रूप से मिल जाता है, पर इनमें इनकी काव्य-रूप परम्परा

---

४२ ऐसे कुछ काव्य-रूपों के उदाहरण के लिए, राधारमण रससागर; मनोहरदास : जलकेलिपचीसी, प्रियदास : प्रीति पावस; आनंदघन का भी उल्लेख किया जा सकता है।

४३ राधारमण ०; मनो० :

अधिक नहीं मिलती।[४१] वर्णन की दृष्टि से इनमें भी वही प्रवृत्ति पाई जाती है। इन मुक्तक काव्यों में ऋतु-वर्णनों तथा बारहमासों के रूप अधिक पाए जाते हैं। इनमें प्रकृति अधिकतर उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रयुक्त हुई है। शैली के विचार से चमत्कार की प्रवृत्ति अधिक है तथा क्रिया-व्यापारों की योजना अधिक की गई है। यह तो इनकी मुख्य विचार-धारा की बात है, वैसे कुछ स्थलों पर सुन्दर चित्र-रूपों की उद्भावना भी हो सकी है। इनमें भावात्मक सामञ्जस्य बन पड़ा है। प्रारम्भ में कहा गया है कि बारहमासा की परम्परा का मूल जन-गीतियों की उन्मुक्त भावना में है। इन गीतियों की भाव-धारा में वियोगिनी की व्यथा के साथ परिवर्तित होते काल का रूप और उनकी वियोग की प्रतीक्षा मिलकर आई थी। प्रत्येक मास की प्रमुख रूप-रेखा के आधार वह अपने प्रिय को याद कर लेती है और उसके लिए विकल हो उठती है। प्रकृति में व्यतीत होते काल और परिवर्तित होते

बारहमासों की उन्मुक्त भावना

प्रसार है। आगे चलकर इस परम्परा में प्रकृति की समस्त भावना रूढ़िवादी उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत जड़ बनती गई। हम देख चुके हैं कि बारहमासों को विद्यापति, सूफ़ी कवियों तथा अन्य प्रेमी कवियों ने भी अपनाया है। भक्त कवियों ने परम्परा रूप से इसको नहीं अपनाया है। लेकिन नन्ददास के बारहमास से प्रकट होता है कि यह परिपाटी बराबर चलती रही है।[४५]

मुक्तकों में इसका रूप

क—मुक्तक काव्यों में बारहमासों के अन्तर्गत, जैसा कहा गया है प्रकृति का रूढ़िवादी रूप अधिक है, पर कुछ स्थल ऐसे अवश्य हैं जिनमें भावों के सम पर उसे उपस्थित किया गया है। कवि राधा और कृष्ण के माध्यम से नायक-नायिक प्रसंग में चैत मास से वर्णन आरम्भ करता है—'चारो ओर वृक्षों पर लताएँ सुशोभित हैं; पुष्प सुगन्धित हैं, पवन अतिशय मंद-गति से प्रवाहित है। मधुप मत्त मकरंद पीता है और कुंजों में गुंजार करता है। तोता मैना मधुर स्वर करते हैं; कोकिला कोलाहल करती है, वनों में मोर नाचते हैं। प्रिय, ऐसे समय विदेश की चरचा सपने में भी भूलकर नहीं करनी चाहिए।'[४६] इस वर्णन के अन्तिम उल्लेख से समस्त वातावरण भावात्मक हो गया है। अन्यत्र जन-गीतियों की भाँति काल से संबन्धित प्रमुख रूप या विशेषता का उल्लेख करके प्रकृति के सामने विरह-व्यथा आदि को प्रस्तुत किया गया है—

"लगत असाढ़ गाढ़ मुहि परी, बिरह अगिन अंतर पर जरी।
ज्यों ज्यों पवनु चलतु चहु वोरनि, त्यों त्यों जरी जाति झकझोरन।"

फिर

"जेठ लागै उठे हू ते अंबर उमड़े घरी,
घरी भरि प्यारी कल क्यू हू न परत है।

---

४५ पद शैली में बारामासा; पंचन कुँवरि का उल्लखित है।

४६ बारमासी; [illegible]

वृष के रथ वृष शशि बैठे भान तपै,
मेरे प्रान कंप ऐसो सीत की अरति है।"४७

इनमें प्रथम में कुछ उन्मुक्त भावना है; परन्तु जेठ के वर्णन में उक्ति चमत्कार ही अधिक है। कुछ वर्णनों में केवल विरह के शारीरिक अनुभावों तथा क्रिया-व्यापारों का उल्लेख हुआ है जिनका उल्लेख उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आया है। इनमें भी किसी में विरह-दशा का संकेत किया गया है—

"यह जेठ तपि तपि तपन तापन पंथ पथिका थकावई।
एक जरों पिय के विरह दूजे लपट अंग लपटावई।
यह दसा मेरी हाय पिय सों कौन जाय सुनावई।
उन रसिक रास रसाल हरि बिन धीर वीर न आवई।"४८

आमुख में संकेत किया गया है, इस युग को समझने के लिए भारतीय आदर्श-भावना के साथ उसकी रूपात्मक रूढ़ि (Formalism) को समझना आवश्यक है। यही कारण है कि इन बारहमासों की उन्मुक्त भावना के साथ भी प्रकृति को निश्चित रूप में ही ग्रहण किया गया है। वस्तुतः यह अन्य रूपों के विषय में भी सत्य है।

इन बारहमासों में मासों को प्रस्तुत करने की प्रमुखतः तीन रीतियाँ हैं। एक में वर्णन चैत से आरम्भ होता है, दूसरी में असाढ़ से और तीसरी में अवसर के अनुसार। भारत में दो ऋतुएँ प्रमुख हैं जिनमें नवचेतना का प्रवाह मनुष्य में होता है: वर्षा तथा वसंत दोनों का आगमन भावोद्दीपक है। इस कारण दो प्रकार से वर्णन आरम्भ होते हैं। कथा के अनुसार चलनेवाले बारहमासों और ऋतु-वर्णनों का आरम्भ उसी के अनुसार होता है।[४९] संतों ने भी बारहमासों का प्रयोग अपनी प्रेम-व्यंजना तथा उपदेश-पद्धति के लिए किया है।

ख—इनके अतिरिक्त काल परिवर्तन से संबन्धित दूसरा रूप ऋतु-वर्णनों का है। अन्य काव्य-रूपों में ऋतु-वर्णनों का उल्लेख किया गया है। परन्तु मुक्तक-काव्यों के अन्तर्गत ऋतु-वर्णन की एक परम्परा है। इसको संस्कृत के ऋतु-काव्यों के समान मान सकते हैं। बारहमासों से भी अधिक इनकी प्रवृत्ति मानवीय क्रिया-विलासों को अपनाने की है और इनमें वैचित्र्य का रूप भी अधिक है। इसके अन्तर्गत आए हुए प्रकृति-रूपों का उल्लेख अगले प्रकरण में किया गया है। वर्णना शैली की दृष्टि से इनमें भी व्यापक संकेतों को अपनाया गया है जिसका कारण अभी

ऋतु-वर्णन काव्य

---

४९ चैत से, बारा०; वल० : बारा; पच० (पदों में)। आसाढ़ से, बारा०; देवी०; बारा०; सुन्दर (ग्वालियर) : बारह०; रघु० : श्री राधा-कृष्ण की बारहमासिका; जवाहर। प्रसंग के अनुसार, पद्मावत में नागमती का बारहमासा; जायसी : रामचन्द्र की बारहमासी; छेदालाल (कार्तिक)

बताया जा चुका है।[५०]

§ १२—मुक्तकों से संबन्धित रूपों की विवेचना समाप्त करने के पूर्व दो काव्य-रूपों का संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक है। पहला नदियों की वन्दना संबन्धी रूप परम्परा है जिसमें अधिकतर गंगा तथा यमुना का माहात्म्य कथन है।

कुछ अन्य रूप

इनके बीचबीच में उल्लेख आ गए हैं। इनमें भी यमुना का महत्त्व अधिक है जिसका कारण प्रत्यक्ष है।[५१] इसके अतिरिक्त पक्षियों को लेकर काव्य लिखने की परम्परा रही है। तुलसी की दोहावली के अन्तर्गत

दूसरा 'पक्षी विलास' और भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें पक्षियों की स्वाभाविक विशेषता का संकेत दिया गया है। सुरखाब के विषय में कवि का कथन है—

"लक्ष लक्ष पक्षीन को नहिं उड़िबे की ताव।
भुव लोकहु ध्रुव लोक पर फरकत पर सुरखाव॥"

पर कवि का ध्यान प्रमुख विशेषता को लेकर उक्ति देने की ओर अधिक रहा है। इस विशेषता के उल्लेख के साथ भाव-व्यञ्जना भी की गई है—

"लेखत पुष्ट तिहीरन तेखन देखत दुष्टन के उग्दागे।
भूपर में फरके पर ऊपर हु तनहूँ मनहूँ अनुरागे॥
भाव भर ध्रुवलोक लौं धावत चाह भरे अगवाउ के लागे।
पंछिन के उड़िबे को उमंग को ताव नहीं सुरखाव के आगे॥"[५३]

इन परिचयात्मक वर्णनों में कवि ने काव्यात्मक सहानुभूति का वातावरण प्रस्तुत किया है।

रीति-काव्य की परम्परा

§१३— मध्ययुग के उत्तरार्ध में रीति परम्परा का विकास हो चुका था और रीति ग्रंथों का प्रणयन भी आरम्भ हो गया था। हम पहले कह चुके हैं कि हिन्दी साहित्य के रीति-ग्रंथों में विवेचना से अधिक उदाहरण जुटाने की प्रवृत्ति रही है, इस कारण इन ग्रंथों में काव्य का रूप अधिक है। रीति-काव्यों की परम्परा में अलंकारों और उक्ति चमत्कार को अधिक स्थान मिल सका है, यद्यपि रस-सिद्धान्त को मानने वाले कवि हुए हैं। इन काव्यों में मुक्तक छंदों का अधिकतर प्रयोग है और इनमें उक्ति का निर्वाह अच्छा होता है। रस के प्रसंग को लेकर इन कवियों में आदर्श के

काव्य-शास्त्र के कवि

५३ पक्षी-विलास (हि०); वही

स्थान पर रूपात्मक रूढ़िवाद ही अधिक है। इस परम्परा में दो प्रकार के काव्य मिलते हैं। एक प्रकार के काव्यों में शास्त्रीय उल्लेखों के साथ उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इनमें विवेचना का रूप स्पष्ट तथा विकसित नहीं है, केवल उदाहरण के भाग पर कवि अपना ध्यान केन्द्रित रखता है। दूसरे काव्यों में विवेचना का रूप नहीं है, इनमें रस और अलंकार को लेकर स्वतंत्र प्रयोग किया गया है। मुक्तक काव्यों से इनका भेद यही है कि इनमें काव्य शास्त्र के आदर्श तथा उसकी रूढ़ियों का पालन अधिक है। वस्तुतः इन दोनों रूपों में काव्य प्रवृत्तियों को लेकर भेद नहीं है। शास्त्रीय काव्यों में कुछ रस पर लिखे गए हैं, जिनमें प्रकृति का उल्लेख उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत किया गया है। रस-निरूपण प्रसंग में शृंगार के उद्दीपन-विभाव में वन, उपवन तथा ऋतुओं का उल्लेख हुआ है।[५४] इन वर्णनों में कहीं कहीं चित्रण में आरोपात्मक क्रियाशीलता से भाव-व्यञ्जना की गई है जो भावों की प्रकृतिगत छाया के रूप में स्वीकार की जा सकती है। सैय्यद गुलामनबी वसंत का उल्लेख करते हैं—

"कहँ लावत विगसन कुसुम, कहुँ डोलन है वाइ।
कहूँ विछावति चाँदनी, मधुरितु दासी आइ॥
सरवर माहि अन्हाइ अरु, वाग वाग विरमाइ।
मंद मंद आवत पवन; राजहंस के भाइ॥"[५५]

इसमें प्रकृति की क्रियाशीलता में मानवीय आरोपों से उद्दीपन का वातावरण प्रस्तुत किया गया है, परन्तु इसमें प्राचीन कवियों से ग्रहीत सरल चित्र है। देव की प्रतिभा अधिकतर मानवीय भावों और

---

५४ रसिक-प्रिया; केशवदास : रसराज; मतिराम : भाव-विलास; देव; काव्यनिर्णय; भिखारीदास : रस-प्रबोध; सैय्यद गुलाम नबी : हिततरंगिनी; कृपाराम : जगद्विनोद; पद्माकर

५५ रस-प्रबोध; गुला० : पृ० ८३, दो० ६४६, ६५०

संचारियों की योजना में प्रकट होती है, परन्तु प्रकृति के परम्परा प्राप्त रूप में भी इन्होंने कुछ स्थलों पर भाव-व्यञ्जना सन्निहित की है। इस सीमा पर उसमें उद्दीपन का रूप प्रत्यक्ष नहीं है—

"मुनि के धुनि चातक मोरनि की चहु ओरनि कोकिल कूकनि सों।
अनुराग भरे हरि बागन में सखि रागत राग अचूकनि सों॥
कवि देव घटा उनई जु नई बन भूमि भई दल दूकनि सों।
रंगराति हरी हहराती लता झुकि जाती समीर के झूकनि सों॥"[५६]

इस वर्षा के वर्णन मे यथार्थ की चित्रमयता है; साथ ही प्रकृति में जो क्रिया और गति द्वारा भावोल्लास व्यंजित किया गया है वह 'अनुराग भरी वेणु' के साथ मानवीय भावों को अपने में छिपाए है। परन्तु इन कवियों के अधिकांश चित्रण उद्दीपन के अन्तर्गत ही आते हैं। नायिका के वर्णनों में प्रोषितपतिका, उत्कंठिता तथा अभिसारिका नायिकाओं के प्रसंग में प्रकृति के उद्दीपन-रूप को अधिक अवसर मिला है। इन रूपों की विवेचना अगले प्रकरण विभाजन के साथ की जायगी। इनमें प्रकृति का चित्रण अधिक उल्लेखनीय हुआ है। मतिराम की नायिका को अपने प्रिय के वियोग में प्रकृति केवल उद्दीपन का कारण है—

"चंद के उदोत होत नैन-कंज तपे कंत,
छायो परदेस देव दाहनि दगतु है।
कहा करों ? मेरी वीर ! उठी है अधिक पीर;
सुरभी समीर सीरो तीर सो लगतु है॥"[५७]

इसमें प्रकृति का उल्लेख केवल नाम मात्र को कर दिया गया है। अभिसारिकाओ के प्रसंग में उक्ति के लिए कवियों ने प्रकृति और नायिकाओं के सम-रूप दिखाने का प्रयास किया है। परन्तु इसमें

---

५६ भाव-विलास; देव : प्रथ०

५७ रसराज; मतिराम : छं० ११४

ऊहात्मक वैचित्र्य से अधिक कुछ नहीं है। मतिराम कृष्णाभिसारिका का अँधेरी रात के साथ वर्णन करते हैं—

"उमड़ि-घुमड़ि दिग-मंडल-मंडि रहे,
झूमि-झूमि बादर कुहू की निसिकारी मैं।
अंगनि मैं कीनो मृगमद अंगराग तैसो,
आनन ओ ढाय लीनो स्याम रंग सारी मैं ॥"[५८]

प्रकृति को यहाँ पृष्ठभूमि के रूप में माना जा सकता, परन्तु न तो इसमें किसी स्थिति का रूप प्रत्यक्ष है और न किसी भाव की व्यञ्जना ही निहित है। इन वर्णनों से इन कवियों ने परम्परा के साथ चमत्कार मात्र उत्पन्न किया है।

§ १४—रीति परम्परा के स्वतंत्र कवियों में से बिहारी तथा सेनापति ही प्रमुख हैं जिनके काव्य में प्रकृति का उल्लेखनीय प्रयोग हुआ। अन्य कवियों में किसी ने प्रकृति को किसी भी सीमा तक स्वतंत्र रूप नहीं दिया है। इनके रूढ़िगत उद्दीपन रूपों का उल्लेख प्रसंग के अन्तर्गत आवश्यकता के अनुसार किया जायगा। इन दोनों कवियों के ग्रंथ लक्षण-ग्रंथ नहीं हैं, फिर भी अपनी प्रवृत्ति में ये कवि रीति परम्परा में आते हैं। उद्दीपन विभाव में आने वाले प्रकृति के विभिन्न रूपों के अतिरिक्त इन कवियों में कुछ स्वाभाविक चित्र हैं। इस दृष्टि से इस परम्परा में इनका महत्त्व अधिक है। बिहारी ने उक्ति-वैचित्र्य के निर्वाह के साथ ग्रीष्म का स्वाभाविक चित्र उपस्थित किया है—

बिहारी के संक्षिप्त चित्र

"कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ ॥"

अगला पावस का वर्णन भी अपनी अत्युक्ति में अंधकार के साथ घनी घटाओं का संकेत देता है, यद्यपि इसमें कवि का ध्यान अपनी उक्ति

५८ वही; वही : छं० १९७

निर्वाह की ओर है—

"पावस निसि अँधियार में, रह्यो भेद नहिं आन।
राति द्यौस जान्यो परत, लखि चकई चकवान॥"

वस्तुतः इन कवियों का आदर्श तो अंलकार का निर्वाह है अथवा रस के अंगों की योजना है। इस कारण इनमे प्रकृति के नितान्त यथार्थ तथा स्वाभाविक चित्र की आशा नहीं की जा सकती। कुछ दोहों में प्रकृति पर मानवीय क्रीड़ाओं के आरोप से भाव व्यंजना की गई है। इस चित्र मे इसी प्रकार चैत्र मास का वातावरण उपस्थित हुआ है—

"छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झूमत झपत, भौंर भौंर मधुगंध॥"

इस चित्र मे उपवन, लताकुंज तथा भ्रमर-गुञ्जार की संक्षिप्त योजना में भी एक रूप है और साथ ही भाव व्यंजना भी है। दक्षिण पवन का चित्र बड़ी सजीव कल्पना में बिहारी ने उपस्थित किया है। पवन का प्रवाह मानवीय भावों के आरोप के साथ व्यंजक हो गया है—

"चुवत सेद मकरंद कन तरु तरु तर विरमाय।
आवत दच्छिन देस ते, थक्यो बटोही वाय॥"

इस थके बटोही के रूपक से पवन का चित्र भावमय हो उठा है। नायक रूप में पवन की कल्पना अनेक संस्कृत तथा हिन्दी कवियों ने की है, परन्तु श्रांत पथिक का यह चित्र अधिक स्वाभाविक और सुन्दर है। एक स्थल पर बिहारी ने प्रकृति के प्रति मानवीय सहानुभूति को व्यक्त किया है। स्मृति का आधार पर प्रकृति के पूर्व सुखद सहचरण की भावना इस दोहे में व्यक्त होती है—

"सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥"[५१]

---

५१ सतसई; बिहारी : दो० ५६८, ५६०, ५६५, ११, ५०२। इसी प्रकार पवन का हाथी के रूप में वर्णन भी चित्रमय है—

§ १५—प्रकृति वर्णन की दृष्टि से रीति परम्परा में सेनापति का विशेष स्थान है। हम देख चुके हैं कि मध्ययुग में प्रकृति-चित्रण को स्वतंत्र स्थान नहीं मिला है। सेनापति का प्रकृति वर्णन ऋतु-वर्णन परम्परा के अन्तर्गत ही है: परन्तु इन्होंने कुछ स्थलों पर प्रकृति का स्वतंत्र रूप उपस्थित किया है। लेकिन ये वर्णन नितान्त स्वतंत्र नहीं हैं, इनके अन्दर भी उद्दीपन के संकेत छिपे हुए हैं। वस्तुतः ऋतु संबन्धी वर्णनों की सीमा विस्तृत है। इसके अन्तर्गत स्वतंत्र काल-परिवर्तन के रूपों से लेकर ऋतु संबन्धी सामन्ती आयोजनों तक का वर्णन रहता है। परन्तु इनकी समस्त भाव-धारा में शृंगार की भावना का आधार रहता है, उसके आलंबन और आश्रय कभी प्रत्यक्ष रहते हैं और कभी अप्रत्यक्ष। सेनापति इस सीमा में ही रहे हैं। इनके वर्णनों में जो स्वतंत्र चित्र लगते हैं, उनमें शृंगार की भावना का आधार बहुत हलका है और कुछ में आलंबन तथा आश्रय अपरोक्ष में हैं। सेनापति में कवित्व प्रतिभा के साथ प्रकृति का निरीक्षण भी है। इन्होंने प्रकृति के रूपों को यथार्थ रंग-रूपों में उपस्थित किया है। फिर भी सेनापति अलंकारवादी कवि हैं, कविता का चरम उक्ति-वैचित्र्य में मानते हैं। उनके कुछ चित्रों की रमणीयता का कारण यही है कि इन स्थलों पर उक्ति से यथार्थ तथा कला का सामञ्जस्य हो सका है। इसी प्रवृत्ति के कारण सेनापति में प्रकृति के प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं है: इनकी प्रकृति में भाव व्यंजना के स्थल भी बहुत कम हैं। इस क्षेत्र में अन्य रीति परम्परा के कवि इनमे आगे हैं। इन्होंने ऋतु-वर्णन में श्लेष का निर्वाह किया है और ऐश्वर्य्यशालियों के ऋतु संबन्धी आयोजनों तथा आमोद-प्रमोद का वर्णन किया है। यह सब इसी प्रवृत्ति का परिचायक

सेनापति

रनित भृङ्ग घंटावली, झरत दान मधुनीर।
मंद मंद आवत चल्यो, कुंजर कुंज समीर ॥५९०॥

है। फिर भी सेनापति ने प्रकृति को उसके यथार्थ रूप में देखा है और उसके कुछ कला पूर्ण चित्र उपस्थित किए हैं।

क—सेनापति ने यथार्थ चित्रों को दो प्रकार से उपस्थित किया है। एक प्रकार के चित्रों में प्रकृति संबन्धी रूप-रंगों को अधिक व्यक्त किया गया है और दूसरे में प्रकृति की प्रभावशीलता को अधिक भावगम्य बनाया गया है। शरद ऋतु का वर्णन कवि उसके दृश्यों की व्यापक संश्लिष्टता के आधार पर उपस्थित करता है—'पावस ऋतु के समाप्त होने पर जैसे अवकाश मिल गया; शशि की शोभा रमणीय हो गई है और ज्योत्स्ना का प्रकाश छा गया है; आकाश निर्मल है; कमल विकसित हो रहे हैं: काँस चारो ओर फूले हुए हैं; हंसों को मन भावनी प्रसन्नता है, पृथ्वी पर धूल का नाम नहीं है; हल्दी जैसे रंगवाले जड़हन धान शोभित हैं, हाथी मस्त हैं और खंजन का कष्ट दूर हो गया है। यह शरद ऋतु तो सभी को सुख देने आई है।'[६०] इस वर्णन में एक दृश्य नहीं है, केवल व्यापक योजना है, साथ ही 'को मिलावै हरि पीय को' के द्वारा उद्दीपन की पृष्ठभूमि का संकेत भी है। वर्षा का प्रभाव भारतीय जीवन पर अधिक है। सेनापति इस ऋतु से, विशेष कर इसके अंधकार से, अधिक आकर्षित हैं। वर्षा में भारतीय आकाश में मेघों की निविड़ सघनता और बिजली का चंचल प्रकाश ही अधिक प्रमुख है; कवि इन्हीं का चित्र उपस्थित करता है—

यथार्थ वर्णन

"गगन-अँगन घनाघन तें सघन तम,
सेनापति नैंक हू न नैंन मटकत हैं।
दीप की दमक, जीगनीन की झमक छाँड़ि,
चपला चमक और सौं न अटत हैं।

---

६० कवित्त-रत्नाकर; सेनापति : तं० तरंग, छं० ३७

रवि गयौ दवि भानौं ससि सोऊ धसि गयौ,
तारे तोरि डारे से न कहूँ फटकत हैं।
मानौं महा तिमिर तैं भूलि परी वाट तातैं
रवि ससि तारे कहूँ भूले भटकत हैं॥"[६१]

इस घने अंधकार ने रवि, शशि, तारे सभी को आच्छादित कर लिया है। इसी प्रकार एक और भी चित्र कवि अंधकार को लेकर उपस्थित करता है—'यह भादौं आ गया। सघन श्याम-वर्ण के मेघ वर्षा करते हैं। इन घुमड़ती घटाओं में रवि अदृश्य हो गया है, अंजन के समान तिमिर आवृत्त हो रहा है। चपला चमक कर अपने प्रकाश से नेत्रों को चौंधा देती है, उसके वाद तो कुछ और भी नहीं दिखाई देता, मानों अंधा कर देती है। आकाश के प्रसार में काजल से अधिक घना काला अंधकार छाया हुआ है और घन घुमड़ घुमड़ कर घोर गर्जन करते हैं।[६२] इस चित्र में यथार्थ वर्णना का रूप अधिक प्रत्यक्ष और भाव गम्य है। इसमें भी उद्दीपन का संकेत—'सेनापति जादो-पति विना क्यों विहात है' के द्वारा निहित किया गया है, परन्तु वर्णना के प्रत्यक्ष के सामने उसकी ओर ध्यान नहीं जाता। ग्रीष्म ऋतु में सेनापति ने प्रभाव का अधिक समावेश किया है। वस्तुतः ग्रीष्म के वातावरण में उसका प्रभाव अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठता है—'वृप राशि पर सूर्य सहस्रों किरणों से अत्यधिक संतप्त होता है जैसे ज्वालाओं के समूह की वर्षा करता हो। पृथ्वी नाच उठती है· ताप के कारण जगत् जल उठता है। पथिक और पक्षी किसी शीतल छाया में विश्राम करते हैं। दोपहर के ढलने पर ऐसी उमस होती है कि पत्ता तक नहीं हिलता; ऐसा लगता है पवन किसी शीतल स्थान पर क्षण भर के लिए

६१ वही; वही : वही, छं० २९
६२ वही; वही : वही, छं० ३३

ठहर कर घाम को व्यतीत कर रही है।[63] सारा चित्र यथार्थ का रूप प्रभावात्मक ढंग से प्रस्तुत करता है, साथ ही कवि की कल्पना ने उसे और भी व्यंजक कर दिया है। यहाँ कवि की उक्ति सुन्दर कलात्मक रूप धारण करती है। इसी के साथ कवि ग्रीष्म का व्यापक वर्णन भी करता है—

"सेनापति ऊँचे दिनकर के चलति लुवैं,
नद नदी कुवैं कोपि डारत सुखाइ कै।
चलत पवन मुरझात उपवन वन,
लाग्यो है तपन डार्यौ भूतलौ नचाइ कै।
भीषम तपत रितु ग्रीषम सकुचि तातैं,
सीरक छिपा है तहखानन में जाइ कै।
मानों सीतकाल सीत लता के जमाइवे कौं,
राखे हैं विरंचि बीच धरा में धराइ कै॥"[64]

इसमें उल्लेखों के आधार पर ऋतु का रूप ग्रहण कराया गया है; साथ ही इसकी उत्प्रेक्षा में उक्ति ही अधिक है पहले जैसा सौन्दर्य कम है।

कलात्मक चित्रण

ख—सेनापति ने कुछ वर्णनों में अधिक कलात्मक शैली अपनाई है। ऊपर के चित्रों को उत्प्रेक्षाओं द्वारा व्यंजक बनाया गया है; परन्तु अगले चित्रों में रूप को अधिक चित्रात्मक करने के लिए अलंकारों का आश्रय ग्रहण किया गया है। सेनापति शरद-कालीन आकाश और उसमें दौड़ते हुए बादलों का वर्णन इसी प्रकार करते हैं—'आकाश मंडल में श्वेत मेघों के खंड फैले हुए हैं मानों स्फटिक पर्वत की शृंखलाएँ फैली हों। वे आकाश में उमड़ घुमड़ कर क्षण में तेज़ बूंदों से पृथ्वी को छिड़क

६३ वही; वही : वही, छं० ११
६४ वही; वही : वही, छं० १२

देते हैं।' और उन बादलों की उमड़न घुमड़न के विषय में क
शब्द-चित्र ही प्रस्तुत करता है—

"पूरब कौं भाजत हैं, रजत से राजत हैं,
गग गग गाजत गगन घन क्वांर के।"[६५]

वर्षा का वर्णन भी कवि इसी शैली में करता है—'सावन के नव ज
उमड़ आए हैं, वे जल से आपूरित चारो दिशाओं में घुमड़ने लगे
उनकी सरस लगने वाली शोभा किसी प्रकार भी वर्णन नहीं की जा
लगता है काजल के पहाड़ ही ढो कर लाए गए हैं। आक
घनाच्छादित हो रहा है और सघन अंधकार छाया हुआ है।
दिखाई ही नहीं पड़ता है, मानों खो गया है। भगवान् जो चार म
सोते रहते हैं, वह जान पड़ता है निशा के भ्रम से ही।'[६६] इस वर
में उत्प्रेक्षाओं से चित्र को अधिक प्रत्यक्ष किया गया है।

ग—सेनापति की अलंकार संबन्धी प्रवृत्ति ऋतु-वर्णनों में
प्रत्यक्ष हुई है। वैसे तो उनके सभी वर्णनों में उक्ति और चमत
का योग है, लेकिन ऊपर के वर्णनों में वे रूप
भाव के सहायक होकर चित्र को अधिक प्रत्यक्ष
व्यक्त करते हैं। परन्तु बहुत से वर्णनों में कवि
श्लेष के द्वारा ऋतुओं का वर्णन किया है और उन वर्णनों में वे
चमत्कार है। इन वर्णनों में कवि ने यह स्वीकार भी किया है—

आलंकारिक वैचित्र्य

"दारुन तरनि तरैं नदी सुख पावैं सब,
सीरी घनछाँह चाहिबोई चित धर्यौ है।
देखौ चतुराई सेनापति कविताई की जु,
ग्रीषम विषम बरषा की सम कर्यौ है।"[६७]

---

६५ वही; वही : वही, छं० २८

६६ वही; वही : वही, छं० ३१

६७ वही; वही , तरंग, छं० ५३

इनके अतिरिक्त अतिशयोक्ति और अत्युक्तियों का आश्रय भी लिया गया है। एक स्थान पर जाड़े की रात्रि के छोटे होने के विषय में कवि कल्पना करता है—

"सीत तैं सहस-कर सहस-चरन ह्वै कै,
ऐसे जाति भाजि तम आवत है घेरि कै।
जौ लौं कोक कोकी कौं मिलत तौ लौं होति राति,
कोक अधबीच ही तैं आवत है फिरि कै।"[६८]

और सेनापति की यह प्रमुख प्रवृत्ति है, ऐसा कहा जा चुका है।

भाव-व्यंजना

घ—अपनी इसी भावना के कारण सेनापति प्रकृति से निकट का संवन्ध नहीं उपस्थित कर सके। प्रकृति उनके लिए केवल वर्णन का विषय है या विशुद्ध उद्दीपन की प्रेरक है। ऐसे स्थल भी कम हैं जहाँ कवि ने प्रकृति के माध्यम से भाव-साम्य की व्यंजना की हो। एक स्थल पर प्रकृति के चित्र से मानवीय भावोल्लास का साम्य प्रस्तुत किया गया है—

"फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन वन,
फूलि रहे तारे मानों मोती अनगन हैं।
तिमिर हरन भयो सेत है वरन सब
मानहु जगत छीर-सागर मगन है।"[६९]

इस चित्र के सम पर कवि ने कहा है 'सुहाति सुखी जीवन के गन हैं'। और इस प्रकार इस वर्णन में प्रकृति की भावमग्नता मानवीय सुख की व्यंजक हो उठी है। सेनापति ने अधिकतर सामन्ती तथा ऐश्वर्य-पूर्ण वातावरण ही प्रस्तुत किया है, इस कारण इनके काव्य में मानव और प्रकृति दोनों ही के संबन्ध में उन्मुक्त वातावरण का निर्माण नहीं हो सका है। साथ ही ऋतु-वर्णनों में आमोद-प्रमोद का

---

६८ वही; वही ' ती० तरंग, छं० ५१

६९ वही; वही, वही, छं० ४०

वर्णन विस्तार से करने का अवसर मिला है। एक स्थल पर साधारण जीवन का चित्र कवि ने बहुत स्वाभाविक उपस्थित किया है। इसमें अलाव तापते हुए लोगों का वर्णन किया गया है और कवि की प्रौढ़ोक्ति ने इसे और भी व्यंजक बना दिया है—

"सीत कौं प्रबल सेनापति कोपि चढ्यौ दल,
निबल अनल गयौ सूर सियराइ कै।
हिम के समीर तेई बरसैं बिषम नीर,
रही है गरम भौन कोनन मैं जाइ कै।
धूम नैंन बहैं लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिए सौं लगाइ रहैं नैंक सुलगाइ कै।
मानौं भीत जानि महा सीत तैं पसारि पानि,
छतियाँ की छाँह राख्यौ पाउक छिपाइ कै॥"[७०]

सेनापति ने अन्य अनेक प्रकार से प्रकृति-रूपों का प्रयोग है जिनका उल्लेख अगले प्रकरण में किया गया है।

---

[७०] वही; वही, वही, छं० ४५

अष्टम प्रकरण

उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति

§१—प्रथम प्रकरण में संस्कृत काव्याचार्यों के प्रकृति संबन्धी संकीर्ण मत की ओर संकेत किया गया है और यह भी कहा गया है कि शास्त्रीय दृष्टि से हिन्दी साहित्य में इसी का अनुसरण हुआ।[1] परन्तु जैसा उल्लेख किया गया था काव्य में प्रकृति विषयक यह शास्त्रियों का मत व्यापक अर्थ में ठीक है। काव्य में उपस्थित होने की स्थिति में प्रकृति का प्रत्येक रूप मानवीय भावों से प्रभावित होकर ही आता है। फिर

आलंबन और उद्दीपन का रूप

---

१ संस्कृत आचार्यों के अनुकरण पर केशव ने कविप्रिया में प्रकृति वर्णन के लिए विभिन्न वस्तुओं को गिनाया है। सरिता, वाटिका, आश्रम, सरोवर तथा ऋतुओं आदि के विषय में इसी प्रकार वस्तुओं को गिनाया गया है। सरोवर-वर्णन की सूची इस प्रकार है—

ऐसी परिस्थिति में काव्य में प्रकृति-रूप मानवीय भावों की स्थायी स्थितियों के माध्यम से ग्रहण किया जा सकेगा। इस व्याख्या के अनुसार माना जा सकता है कि प्रकृति काव्य में उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आती है, क्योंकि वह अपनी समस्त भावशीलता और प्रभावशीलता मानव से ग्रहण करती है। परन्तु इस प्रकार आलंबन भी उद्दीपन माना जा सकता है। कोई भी आलंबन आश्रय की स्थायी भाव-स्थिति पर हो तो क्रियाशील होता है। इस प्रकृति संबन्धी भ्रम का एक कारण है। यह कहा जा सकता है कि मानवीय भावस्थिति के सामाजिक धरातल पर हम अपने ही संबन्धों में देख और समझ पाते हैं। इस लिए इस सीमा पर मानवीय स्थायी भावों का आलंबन सामाजिक संबन्धों में माना जाता है। अद्भुत तथा भयानक रसों में प्रकृति को परम्परा ने भी आलंबन माना है, क्योंकि इन रसों का संबन्ध सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। इसलिए यह स्थिति शृङ्गार तथा शांत रसों को लेकर है। प्रथम भाग में मनोभावों के विकास में प्रकृति तथा समाज का क्या योग रहा है इसपर विचार किया गया है। हम देख चुके हैं कि सौन्दर्य्यानुभूति जो काव्य का आधार है प्रकृति से संबन्धित है, यद्यपि उसमें अनेक सामाजिक भाव-स्थितियों का योग हो चुका है। इस प्रकार प्रकृति सौन्दर्य्य भाव का आलंबन है, परन्तु इस स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि सम्पूर्ण भाव-स्थिति प्रकृति को लेकर है। स्थायी भावों में अनेक विषमताएँ आ चुकी हैं जिनको एक प्रकार से समझना सम्भव नहीं है। शृंगार रस में रति स्थायी भाव का आलंबन प्रत्यक्ष रूप से नायक-नायिका हो सकते हैं, पर इस भाव का रूप केवल मांसल शारीरिकता के आधार पर नहीं है, उसमें अनेक स्थितियों की स्वीकृति है। जिस प्रकार भाव-

केन्द्र में प्रमुख रूप से आने के कारण किसी वस्तु या व्यक्ति को आलंबन स्वीकार किया जाता है, उसी प्रमुखता की दृष्टि से प्रकृति का आलंबन स्वीकार किया जा सकता है। इसी विचार से प्रकृति को सौन्दर्य तथा शांत के आलंबन-रूप में स्वीकार किया गया था।

क—हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में प्रकृति के स्वतंत्र आलंबन रूप को स्थान नहीं मिल सका। पिछले प्रकरणों में इस पर विचार किया गया है। परन्तु यह भी देखा गया है कि प्रमुखता न मिलने पर भी प्रकृति मानवीय भावों से सम स्थापित कर सकी है। वस्तुतः जब प्रकृति मानवीय भावों के समानान्तर भावात्मक व्यंजना अथवा सहचरण के आधार पर प्रस्तुत की जाती है, उस समय उसको विशुद्ध उद्दीपन के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। वैसे प्रकृति को लेकर भाव-प्रक्रिया का आधार मानव है। आलंबन की स्थिति में, व्यक्ति अपनी मनः स्थिति का आरोप प्रकृति पर करके उसे इस रूप में स्वीकार करता है, जबकि उद्दीपन में आलंबन प्रत्यक्ष रूप से दूसरा व्यक्ति रहता है। ऊपर की स्थिति मध्य में मानी जा सकती है। आश्रय का आलंबन परोक्ष में है और प्रकृति के माध्यम से भाव व्यंजना की जाती है। इस सीमा पर भी प्रकृति पर आश्रय की भाव-स्थिति का आरोप होता है पर वह किसी अन्य आलंबन की संभावना को लेकर। प्रकृति के प्रति साहचर्य की भावना भी मानवीय संबन्ध का आरोप है, परन्तु उसमें सहानुभूति की निकटता के कारण प्रकृति आश्रय से सीधे ही संबन्धित है। इसी कारण 'आध्यात्मिक साधना' तथा 'विभिन्न काव्य-रूपों' की विवेचना के अन्तर्गत प्रकृति पर अप्रत्यक्ष आलंबन का आरोप, उसके माध्यम से भाव-व्यंजना तथा उसके प्रति सहचरण की भावना को लिया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में विशुद्ध उद्दीपन की दृष्टि से प्रकृति पर विचार करना है। हम कह चुके हैं कि मध्ययुग के साहित्य में जन-गीतियों की स्वच्छंद प्रवृत्ति को स्थान मिल सका है और साहित्यिक परम्पराओं को भी अपनाया

विभाजन की सीमा

गया है। संस्कृत साहित्य में उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति का रूप रूढ़िवादी हो चुका था। इस कारण मध्ययुग के काव्य की सभी परम्पराओं में उद्दीपन की विभिन्न प्रवृत्तियाँ फैली हुई हैं।

उद्दीपन की सीमा

§ २ —मध्ययुग के काव्य ने जन-जीवन से प्रेरणा ग्रहण की है और वह जन-भावना के अभिव्यक्त रूप लोक-गीतिओं तथा कथाओं से प्रभावित भी हुआ है। लोक-जीवन से प्रकृति का रूप ऐसा हिला मिला रहता है कि वहाँ जीवन और प्रकृति में विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती है। जन-गायक अपने भावोच्छ्वासों को, अपने को, प्रमुख मानकर अभिव्यक्ति की भाषा में गाता है; पर वह अपने वातावरण को, अपने चारों ओर फैली हुई प्रकृति को अलग नहीं कर पाता है। वह अपनी सामाजिक अनुभूतियों को अपने चारों ओर की वातावरण बनकर फैली हुई, प्रकृति के साथ ही प्राप्त करता है। और जब वह उन्हें अभिव्यक्त करता है, तब भी वह प्रकृति के रूप को अलग नहीं कर पाता। लोक-गीतिकार अपनी दुःख सुखमयी भावनाओं से अलग प्रकृति को कोई रूप नहीं दे पाता और न अपनी भावनाओं को बिना प्रकृति का आश्रय लिए व्यक्त ही कर पाता है। इसी स्पष्ट विभाजक रेखा के अभाव में इन गीतियों की भावधारा में प्रकृति का रूप मिलकर उद्दीप्त करता जान पड़ता है। वस्तुतः चेतनशील प्रकृति की गति के साथ मानव अपनी भाव स्थिति में सम प्राप्त करता है और इस सीमा में प्रकृति शांत तथा सौन्दर्य भाव का आलंबन आरोप के माध्यम से मानी गई है। यही सम जब किसी निश्चित भाव-स्थिति से समता या विरोध उपस्थित करता है, उस समय उसको प्रभावित करता है और प्रकृति की यह स्थिति उद्दीपन की सीमा है। प्रकृति के विभिन्न दृश्यों और उनकी परिवर्तित होती स्थितियों में जो संचलन तथा गति का भाव छिपा है वही सम, विषम होकर भावों को उद्दीप्त करता है। यही कारण है कि लोक गीतियों में अधिकतर ऋतुओं के आधार पर भावाभिव्यक्ति हुई है।

क—इस सीमा पर प्रकृति तथा जीवन समान आधार पर अभि-व्यक्त होते हैं। जीवन की भावात्मकता और प्रकृति पर उसी का प्रति-बिंबित अथवा प्रतिघटित रूप साथ-साथ उपस्थित होते हैं। इस सीमा पर मानवीय भावों और प्रकृति के जीवन से संबन्धित भावों में विरोध भी सम्भव

जीवन और प्रकृति का सम-तल

। जीवन की सुखमयी स्थिति में प्रकृति की कठोरता तथा उससे संबन्धित कष्टों की भावना से सुरक्षा का विचार उसे अधिक बढ़ाता । इसी प्रकार प्रकृति में प्रकट होता हुआ उल्लास जीवन की वेदना को तीव्र ही करता है। परन्तु प्रकृति का उल्लास या अवसाद उसका अपना तो कुछ है नहीं। यदि मानव जीवन की भावमयता ही प्रकृति पर प्रसरित है, तो ऐसा क्यों होता है? लेकिन प्रथम भाग के द्वितीय प्रकरण में हम कह चुके हैं कि प्रकृति को भावों से युक्त करने वाला मन ही है। इस कारण यह विरोध प्रकृति और जीवन का न होकर जीवन की अपनी ही दो विभिन्न स्थितियों का है। एक वर्तमान स्थिति जिसका अनुभव वह अपने चेतन मन से कर रहा है और दूसरी किसी परोक्षकाल से संबन्धित है जिसको उसका अवचेतन मन प्रकृति पर चुपचाप छा देता है। मन का यह विभाजन उद्दीपन के अगले रूप में अधिक प्रत्यक्ष होता है। इस स्थिति में प्रकृति और जीवन लगभग समान तल पर होते हैं। इन्हीं में किंचित भेद पड़ जाने से दो रूपों का विकास होता है।

(i) एक स्थिति में भाव आधार रूप में उपस्थित होता है। भाव की स्थिति संयोग-वियोग की दुःख-सुखमयी भावना होती है। और इसका आधार होता है संयोग, साम्य अथवा स्मृति का रूप। इन भावों की पृष्ठभूमि रूप में उपस्थित होने पर प्रकृति का रूप अनेक प्रकार से इन्हीं

भाव के आधार पर प्रकृति

भावनाओं की व्यंजना करता हुआ उपस्थित होता है। प्रकृति का यह चित्र भावों के रंग से रंजित होता है। इस स्थिति में मानवीय भाव

की एक ही स्थिति रहती है, क्योंकि जीवन और प्रकृति में भावों का आधार समान है। जिस प्रकार अनेक व्यभिचारियों से तथा अनुभावों से स्थायी भावों की स्थिति व्यक्त होती है; उसी प्रकार उनके आधार पर प्रकृति की भावात्मकता व्यंजित होती है। प्रकृतिवादी की दृष्टि से इस प्रकृति-रूप में कवि उसके समक्ष अपनी स्थिति को, अपने भावों को उसी के माध्यम से समझता और व्यक्त करता है। इन क्षणों में वह अपने को विस्मृत कर देता है।

प्रकृति का आधार

(१) इसी की दूसरी स्थिति में प्रकृति केवल आधार रूप से प्रस्तुत रहती है और प्रमुखतः भावों को अभिव्यक्त किया जाता है। प्रकृति के इन उल्लेखों में वर्तमान संयोग या वियोग की स्थिति के प्रति तीव्र व्यंजना छिपी रहती है और इसी के आधार पर भावों का अभिव्यक्तीकरण होता है। इस स्थिति के समान प्रकृतिवादी की वह दृष्टि है जिसमें कवि उस के समक्ष उससे प्रभाव ग्रहण करता हुआ भी अपनी भाव-स्थिति को अधिक सामने रखता है। और हम उद्दीपन रूप और आलम्बन-रूप में प्रकृति का यही भेद मान कर चले हैं। स्थिति समान है लेकिन एक में प्रकृति किसी प्रत्यक्ष (वह स्मृति में या परोक्ष में भी हो सकता है) आलंबन के माध्यम को लेकर भाव-स्थिति से संबन्ध स्थापित करती है। जब कि दूसरी प्रकृतिवादी दृष्टि से प्रकृति ही प्रत्यक्ष आलंबन रहती है और उसपर आश्रय की भाव स्थिति का आरोप

प्रवृत्ति भावों को अनुभावों के माध्यम से व्यक्त करने की ओर अधिक होती गई है। ऐसा संस्कृत के महाकाव्यों में देखा जा सकता है; बाद के काव्यों में अनुभावों को प्रमुखता दी गई है। जहाँ तक प्रकृति-वर्णनों के माध्यम से भाव व्यंजना का प्रश्न है, इस सीमा पर भावों की स्थिति, कभी कभी किसी विशेष आलंबन को न स्वीकार कर व्यापक लगती है। इस रूप में अपनी व्यापक सीमाओं में भाव को व्यक्त करती हुई भी प्रकृति प्रत्यक्ष तथा व्यक्त लगने लगती है। परन्तु इस रूप में भाव व्यंजना का रूप अनुभावों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है, जबकि ऊपर के रूप में भावों की व्यंजना मात्र रहती थी। इसी रूप के दूसरे पक्ष में प्रकृति की हलकी उल्लेखात्मक पृष्ठ-भूमि पर भावों को व्यक्त किया जाता है: और इसमें भी अनुभावों का आश्रय ही अधिक लिया गया है। हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रकृतिवादी आलंबन रूप प्रकृति को लेकर अपनी भाव-व्यंजना करता है; और इसको अनुभावों के माध्यम से भी उपस्थित कर सकते हैं। पर उस समय हम भाव या अनुभाव आश्रय की मनःस्थिति से रूप पाकर व्यक्तिगत नहीं रह जाते, और इस सीमा पर प्रकृति अधिक प्रत्यक्ष रहती है। इसी भेद के कारण प्रकृतिवादी सीमा में भावों और अनुभावों को प्रधानता देकर उपस्थित होने वाले प्रकृति-चित्रों में प्रकृति ही प्रमुख लगती है, जबकि अन्य कवियों में भावों को पृष्ठ-भूमि में रख कर उपस्थित हुए प्रकृति चित्रों में भी मानवीय दृष्टि-बिन्दु सामने आ जाता है। इसका कारण यह भी है कि इन कवियों ने प्रकृति-रूपों के माध्यम से शृंगार की रति भावना की व्यंजना की है जो सामाजिकों का दृढ़मूल स्थायी-भाव है।

ग—अभी तक उद्दीपन के अन्तर्गत जिन प्रकृति-रूपों की बात कही गई है उनमें जीवन और प्रकृति एक दूसरे से प्रभावित होकर भी अपने अस्तित्व से अलग हैं। परन्तु जिस मानवीय जीवन तथा भावनाओं के आधार पर यह

आरोपवाद

व्यंजना होती है, उसी का प्रत्यक्ष आरोप भी किया जाता है। और इस आरोपवाद के मूल में भी यही भावना सन्निहित है। प्रकृति पर यह आरोप उद्दीपन की सीमा में माना जा सकता है। यहाँ फिर हम आलंबन रूप प्रकृति से भेद कर सकते हैं। प्रकृतिवादी कवि आरोप के रूप में ही प्रकृति को जीवन व्यापार में संलग्न पाता है। उद्दीपन-विभाव में आरोप सामाजिक-स्थायी भाव की दृष्टि से किया जाता है, जब कि प्रकृतिवादी का आरोप व्यापक रूप में अपनी मानसिक चेतना से संबन्धित है; और बाद में प्रत्यक्ष सामाजिक आधार के अभाव में उसकी अभिव्यक्ति का रूप व्यक्तिगत सीमाओं में अलग हो जाता है। मानवीय भावों की प्रधानता में प्रकृति का आरोप रूपात्मक तथा संकुचित होकर व्यक्तिगत सीमाओं में अधिक बंधा रहता है। और इस कारण सामाजिक सबन्ध और भाव ही प्रत्यक्ष रहता है, प्रकृति गौण हो जाती है। इस आरोप में भावों तथा अनुभावों के साथ शारीरिक आरोप भी सम्मिलित है, जिसे मानवीकरण कहा गया है। रीति-परम्परा की अलंकारवादी प्रवृत्ति के फल-स्वरूप अन्य आरोपों का आश्रय भी प्रकृति-वर्णनों में लिया गया है। वस्तुतः प्रकृति के रूप जिस प्रकार अलग अलग विभाजित किए गए हैं, उस प्रकार उनकी स्थिति नहीं रहती। ये रूप अनेक प्रकार से मिल जुल कर उपस्थित होते हैं। इन समस्त रूपों को यहाँ गिनाना सम्भव नहीं है। आगे की विवेचना में मध्ययुग के काव्य विस्तार में प्रकृति के उद्दीपन विभाव में आने वाले रूपों पर विचार किया जायगा।

राजस्थानी काव्य

की दृष्टि से राजस्थानी काव्यों को यहाँ लेना उचित है, यद्यपि 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' अपनी परम्परा में 'ढोला मारुरा दूहा' से भिन्न है। ऋतु प्रकृति के परिवर्तित रूपों को लेकर उपस्थित होती है। इन परिवर्तनों में मानवीय भावों को प्रकृति से साम्य तथा विरोध की स्थितियाँ प्राप्त करने का अधिक अवसर रहता है। यही कारण है कि लोक गायक ऋतुओं से अधिक प्रेरणा ग्रहण करता है। जन गीतियों के प्रभाव के कारण हिन्दी मध्ययुग के काव्य में ऋतुओं के दृश्यों से उद्दीपन का कार्य अधिक लिया गया है। युग की प्रवृत्तियाँ तथा युग के काव्य-रूपों के अध्ययन से यह सिद्ध है कि मध्ययुग के काव्य में रति स्थायी भाव की ही प्रमुखता है। इस युग का समस्त काव्य मानवीय रति-भावना को लेकर ही चला है। इस कारण प्रकृति का रूप मानवीय भावों के आधार पर ही अधिक उपस्थित हुआ है। उद्दीपन की मूल भावना जन गीतियों से विकसित हुई है, इसलिए यहाँ जन गीति कथा काव्य से आरम्भ करना अधिक उचित होगा।

१८—संयोग की स्थिति में प्रकृति की क्रियाशीलता सुन्दर और आकर्षक लगती है और वह मानवीय रति संयोग के समानान्तर भी जान पड़ती है। इसी भाव-स्थिति में मालवणी ढोला से कहती है, इस प्रकृति के उल्लासमय वातावरण को छोड़ कर कौन विदेश जाना चाहेगा—'पिउ पिउ पपीहा कर रहा है कोयल सुरंगा शब्द कर रहा है। हे प्रिय, ऐसी ऋतु में प्रवास में रहने से क्या सुख मिलेगा।' इसमें प्रकृति का उल्लास वियोग की दुःखद स्मृति के विरोध में वर्तमान भाव (रति) के उद्दीपन रूप में है। जन-गीति की स्वच्छंद भावना में प्रकृति का कष्टप्रद रूप सामने यथार्थ में संयोग सुख की आकाँक्षा को अधिक तीव्र करता है—'जिन दिनों जाड़ा कड़ाके का पड़ता है, तिलों की फलियाँ फटने लगती हैं तथा कुंझ पक्षी करुण शब्द करता है उन दिनों कोई पाहुन होकर कहीं जाता है।' इस कथा गीति में प्रकृति केवल मानवीय भावों का

ढोला मारूरा दूहा

अनुसरण ही नहीं करती; उसके सहानुभूति के विस्तार में प्रकृति अपनी वस्तु-स्थिति के यथार्थ रूप में उपस्थित होती है। यहाँ कुंभ पक्षी का शब्द संयोगिनी नायिका सुन रही है और उसकी सहानुभूति के कारण प्रकृति का रूप उसे वियोग की स्मृति दिलाता है। लोक-गीति की संयोगिनी भी वियोग की व्यथा से परिचित है; और तभी वह प्रकृति के आन्दोलन तथा उसकी उमड़न के प्रभाव को जानती है—'चारों ओर घने बादल छाए हैं; आकाश में बिजली चमक रही है। ऐसी हरियाली की ऋतु तभी भली लगती है जब घर में सम्पत्ति और प्रिय पास हो।'[२] वस्तुतः गीत के वातावरण में गायिका अपने संयोग-सुख और अपनी वियोग-वेदना दोनों से परिचित है। साथ ही सहानुभूति के वातावरण में उसको प्रकृति अपनी सहचरी लगती है। इस कारण प्रकृति के दोनों रूपों को वह स्वाभाविक भाव-स्थिति में ग्रहण कर लेती है। केवल संयोग तथा वियोग की परिवर्तित स्थितियों में वह उन रूपों से पूर्व सम्पर्क के आधार पर भिन्न प्रभाव प्राप्त करती है। प्रकृति में उल्लास छाया हुआ है और विरहिणी अपने उल्लास से वंचित है; मारवणी इसी प्रकार विकल हो उठी है—'हे प्रिय, वर्षा ऋतु आ गई, मोर बोलने लगे। हे कंत, तू घर आ। यौवन आन्दोलित है।' विरहिणी मारवणी प्रकृति के आनन्दोल्लास को अपनी वेदना के विरोध में पाकर विह्वल हो उठी है। वह संयोग के सुख की स्थिति को स्मरण कराने वाली प्रकृति ही तो कष्टकर हो गई है—'पावस के बरसते ही पर्वतों पर मोर उल्लास में भर उठे। वर्षा ऋतु ने तरुवरों को पत्ते दिए; और वियोगिनियों को पतियों की याद सालने लगी।' विरहिणी अपनी अव्यक्त भावना का आरोप करके जैसे विकल है—'बादल बादल में एक एक करके बिजलियों की चहल-पहल हो रही है। मैं भी नेत्रों में

२ ढोला मारू रा दूहा, सं० [illegible]

काजल की रेखा लगाकर अपने प्रियतम से कब मिलूँगी।'[३] इस गीति की प्रमुख प्रवृत्ति तो यही है पर इसमें अन्य उद्दीपन संबन्धी रूप भी मिल जाते हैं। मारवणी प्रकृति के माध्यम से अपने भावों की उद्दीप्त स्थिति को व्यक्त करती है। इस चित्र में प्रकृति की सम-स्थिति का रूप भी सन्निहित है—'आज उत्तर का पवन प्रवाहित होना शुरू हो गया—प्रवासी को जाते देख प्रेमियों का हृदय फट जायगा। वह स्थल को जलाकर और आक को झुलसाकर कुमारियों का गात भस्म कर देगा।'[४] इस अभिव्यक्ति में 'हृदय फटने' तथा 'गात भस्माने' की बात व्यथा को व्यक्त करती है, पर साथ ही इसमें प्रकृति का रूप भी समानान्तर प्रस्तुत है।' इस व्यथा-गीति पर साहित्यिक प्रभाव भी है, इस कारण प्रकृति के एक उद्दीपक-रूप में आरोप की भावना भी है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जनगीतिकार आरोप करता ही नहीं है, पर आरोप का ऐसा रूपात्मक चित्र उनमें कम ही होता है—'बादलों की घटाएँ सेना है, बिजली तलवार है और वर्षा की बूंदें बाणों की तरह लगती हैं। हे प्रियतम, ऐसी वर्षा ऋतु में प्यारे बिना कहो कैसे जिया जाय।'[५]

§ ४—गुजराती परम्परा में आनेवाला गणपति कृत 'माधवानल काम-कन्दला प्रबन्ध' भाषा की दृष्टि से राजस्थानी काव्यों के निकट है। साथ ही लोक कथा-गीति के रूप में होने के कारण भी इसका यहीं उल्लेख करना उचित होगा। उद्दीपन-विभाव की दृष्टि से इसमें लोक-गीति का वातावरण है जिस की ओर 'ढोला मारूरा दूहा' में संकेत किया गया है। वैशाख में विरहणी को प्रकृति उद्दीप्त करती है—

माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध

---

३ वही : सं० ३८, ३९, ४४

४ वही : सं० २८९

५ वही : सं० २५५

"विरह हुताशनि हूँ दही, सही करूं छंइ राख।
तेह्वा महि तुँ तापवइ, वारू भई वैशाख ॥"[६]

इस ऋतु का समस्त वातावरण उसके मन को विकल करता है, उसकी विरहाग्नि में सभी कुछ दाहक है। पृथ्वी संतप्त हो उठी है, मलायचल से आने वाला पवन तेज़ झोंकों में आकुल कर देता है। इसी प्रकार शरदकालीन चन्द्रिका भी वियोगिनी के लिए विष के समान है। उसका समस्त सौन्दर्य और उल्लास उसके लिए दाहक है।[७] एक स्थल पर विरहिणी आरोप के आधार पर प्रकृति के उद्दीपन-रूप को प्रस्तुत करती है—

"हेमागिरियी हाथिणी, आवइ पवन पराणि।
ऊँमाड़ी ऊपरि चढ़ी, मारइ मन्मथ वाण ॥"[८]

माधव के विरह प्रसंग के बारहमासा में ऋतु संबन्धी आमोद का वर्णन भी विरह के विरोध में प्रस्तुत किया गया है। परन्तु यह आमोद जन जीवन के उन्मुक्त उल्लास से अधिक संबन्धित है। कवि फाग का उल्लेख इस प्रकार करता है—

"फागुण केरां फागरां, फिरि फिरि गाइ फाग।
चंग वजावइ चंगररि, आलवइ पंचम राग ॥"[९]

इस प्रकार इस गीति की प्रवृत्ति स्वच्छन्द है।

§ ५—पिछले प्रकरण में देख चुके हैं कि 'वेलि किसन रुकमणी

री' परम्परा के अनुसार इन उल्लिखित काव्यों से अलग है। परन्तु इन काव्यों का संबन्ध एक ही स्थान से होने के कारण कथा गीति तथा कलात्मक कथा-काव्य की भाव-धाराओं का भेद स्पष्ट हो सकेगा। अपनी

वेलि क्रिसन रुकमणी री

नी प्रवृत्तियों के कारण इनमें प्रकृति के उद्दीपन संबन्धी प्रयोगों में भेद है। कलात्मक काव्य होने के कारण 'वेलि क्रिसन' में स्वच्छंद चना का अभाव है। काव्य-रूपों के प्रसंग में देखा गया है कि इसमें कृति और मानवीय भावों में सामञ्जस्य नहीं स्थापित हो सका है। छ स्थलों पर क्रिया-व्यापारों के माध्यम से प्रकृति मानवीय जीवन का केत देकर उसे उद्दास करती है—

"नैरन्ति प्रसरि निरधण गिरि नीझर
धणी भजै धार पयोधर।
झाले बाइ किया तरु झंवर
लवली दहन कि लू लहर।"[10]

समें पवन का वृक्षों को झंखाड़ करने तथा लू से लताओं के झुलसने जीवन से प्रकृति का विरोध व्यक्त होता है जो स्वयं उद्दीपक है। हीं प्रकृति में यह व्यंजना न करके केवल अलंकार से मानवीय जीवन । सन्निहित किया है। जिसका संकेत रति-भाव के आधार पर कृति को उद्दीपन-विभाव में उपस्थित कर देता है—'गर्जन सहित घन रस गया। हरियाली रहित पृथ्वी में स्थान-स्थान पर जल भर गया है; से प्रथम सम्मिलन में रमणी स्त्री के वस्त्र उतर जाने पर आभूषण ोभा पाते हैं।' यह प्रयोग आरोप के रूप में ही माना जा सकता । आलंकारिक आरोप के द्वारा भावों को व्यक्त किया गया है जो ापक रति स्थायी-भाव में प्रकृति को उद्दीपन के अनुरूप करता है— ाचनों द्वारा बखान किया गया है ऐसी शरद ऋतु के आने पर वर्षा

१० वेलि क्रिसन रुकमणी री; पृथ्वीराज : सं० १९१

ऋतु चली गई, जल-निर्मल होकर नीची भूमि में जा रहा है—रति समय लज्जा स्त्री के नेत्रों में जा रहती है।'[११] इस प्रकार हम देखते हैं गीति काव्य में जो प्रकृति और जीवन के उन्मुक्त भाव का विषय था इस काव्य में अलंकार तथा कल्पना का क्षेत्र हो गया है। इस काव्य में प्रकृति को पृष्ठ-भूमि में रखकर मानवीय क्रिया-व्यापारों की योजना करने की प्रवृत्ति भी है—'सूर्य्य ने उदय होकर संयोगिनी स्त्री के वस्त्र, मंथन-दंड, कुमुदिनी की शोभा को मुक्त से बन्धन में कर दिया; घर, हाट, ताल, भ्रमर और गोशालाओं को बन्धन से मुक्त कर दिया।'[१२] इसमें उल्लेखों से आलंकारिक चमत्कार मात्र प्रकट किया है जो 'संयोगनी' के साथ वर्णन को उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत करते हैं। दूसरे वर्णन में केवल मानवीय विलास-क्रीड़ाओं का उल्लेख किया गया है—

"श्री खंड पंक कुमकुमों सलिल सरि
दलि मुगना आहरण दुति।
जल क्रीड़ा क्रीड़न्ति जगपति
जेठ मास एही जुगति।"[१३]

यह संस्कृत साहित्य के अनुसरण पर सामन्ती वातावरण का प्रभाव है। आलंकारिक प्रवृत्ति आरोपवाद को अधिक बढ़ाती है। पृथ्वीराज ने वसंत और मलयानिल के प्रसंग में लम्बे रूपक बाँधे हैं और अन्यत्र भी ऐसे प्रयोग अधिक किए हैं। वसंत के वर्णन में ऋतुराज के आरोप के साथ समस्त ऐश्वर्य्य विलास को भी प्रस्तुत किया है। पवन वर्णन के प्रसंग में कालिदास ने प्रारम्भ करके पति तथा सार्थी के आरोप किए गए हैं। पवन की कल्पना मेघ-दूत' ने ग्रहण की जान

पड़ती है; परन्तु यह पवन-दूत केवल उद्दीपक है, इसमें सहचरण की सहानुभूति का वातावरण नहीं मिलता। अपनी कलात्मकता के कारण इस सुन्दर चित्र में आरोप का माध्यम स्वीकार किया गया है - 'यह पवन दूत (कामदेव) नदी नदी तैरता हुआ, वृक्ष-वृक्ष फाँदता हुआ, लतिकाओं को गले लगाता हुआ दक्षिण से उत्तर दिशा को आता है, उसके पाँव आगे नहीं चलते।[१४] इस वर्णना में संश्लिष्ट योजना से आरोप को व्यक्त किया गया है, इस कारण चित्र सुन्दर है। आगे पवन की गति का वर्णन किया गया है—'केवड़ा, केतकी, कुंद पुष्पों की सुगन्ध का भारी बोझा कंधे पर उठाए हुए है, इसलिए गंधवाह पवन की चाल धीमी पड़ गई है, श्रमबिन्दु के रूप में वह निर्झर शीकरों को बहाता है।'[१५] इसमें आरोप कहीं प्रत्यक्ष नहीं हुआ है केवल क्रियाओं के माध्यम से व्यक्त किया गया है और इसलिए उद्दीपन की भावना भी व्यंजनात्मक है। आगे चल कर इस काव्य में आरोप का प्रत्यक्ष आधार बढ़ता गया है—'पुष्पासव का पान करता हुआ, वमन करता हुआ उन्मत्त नायक रूपी पवन पाँव ठीक स्थान पर नहीं रखता; अंग का आलिंगन दान देता हुआ पुष्पवती (रजस्वला) लताओं का स्पर्श करना नहीं छोड़ता है।'[१६] इस आरोप में मानवीकरण का उद्दीप्त रूप अधिक प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष आरोप का रूप कभी सुन्दर व्यंजना सन्निहित हो जाती है—'पृथ्वी रूपी पत्नी और मेघ रूपी पति मिले; उमड़ कर तटों को मिलाती हुई गंगा और यमुना का संगम-स्थान त्रिवेणी ही मानों बिखरी हुई फूलों से गुथी हुई वेणी बनी।' इसमें भी भावात्मक व्यंजना शारीरिक मानवीकरण के आधार पर ही अधिक हुई है और

---

१४ वही; वही : सं० २५९

१५ वही; वही : सं० २६०

१६ वही; वही : सं० २६२

क्रीड़ा विलास का रूप अधिक प्रमुख है। यह रूप का आरोप भी कभी मांसलता से अधिक संबन्धित न होकर सुन्दर लगता है—'काले-काले पर्वतों की श्रेणी मानों काजल की रेखा है, कटि में समुद्र ही मानों कटि की मेखला है······पृथ्वी ने अपने ललाट पर वीरबहूटी रूपी कुंकुम की बिन्दी लगाई है।'[१७]

सन्त-काव्य

६—सन्त साधकों ने अपनी प्रेम-साधना में विरहिणी के रूप में अपनी वियोग-व्यथा को व्यक्त किया है। कभी-कभी इसी प्रकार अपने मिलन उल्लास को भी संयोग सुख के रूप में उल्लसित किया है। ये दोनों स्थितियाँ शृंगार के

स्वच्छंद भावना

प्रकृति के भयानक रूप से यहाँ व्यथा का तीव्र होना दिखाया गया है। आगे सुन्दर विरोध का आधार भी ग्रहण करते हैं—

"दिस-दिस ते बादल उठे बोलत चातक मोर।
और सुन्दर चकित विरहनी चित्त रहै नहिं ठौर॥"[18]

इसी भावना को बुल्ला इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

"देखो पिया कालो घटा मो पे भारी।
सूनी सेज भयानक लागी मरा विरह की जारी॥"[19]

§ ७—प्रकृति के उद्दीपन-विभाव का दूसरा रूप जिसमें भावों की पृष्ठभूमि पर प्रकृति उपस्थित होती है, संतों मे मिलता है। इस सहज अभिव्यक्ति मे प्रकृति उन्हीं भावों को व्यक्त भी करती है जिनके आधार पर वह प्रस्तुत होती है। वियोग की पृष्ठ-भूमि पर सुन्दर की विरहिणी को प्रकृति में व्यापक उद्वेलन बिखरा हुआ जान पड़ता है जो अपने आप में कष्ट और वेदना छिपाए है—'मेरे प्रिय, तुम इतनी देर कहाँ भटक गए। वसंत ऋतु तो उस प्रकार व्यतीत हुई, अब वर्षा आ गई है। बादल चारो ओर उमड़ घुमड़ चले हैं, उनकी गरज तो सुनी ही नहीं जाती। दामिनी चमकती है हृदय पीड़ा से कांप जाता है, बूँदों की बौछार दुखदायी है।'[20] इस प्रकृति के रूप में वियोगिनी की वेदना और पीड़ा मिली हुई है। वस्तुतः इस चित्र में दो रूप मिले हुए हैं; वियोग की पृष्ठ-भूमि पर प्रकृति है और फिर उसके आधार पर वेदना का रूप है। इसी प्रकार धरनीदास की विरहिणी आत्मा को—

भावों के आधार पर प्रकृति

"पिय बिन नींद न आवै।

---

१८ ग्रंथा०; सुन्दर : विरह को अंग

१९ शब्दसागर; बुल्ला : प्रेम० १०

२० ग्रंथा०; सुन्द० : पद, राग म० ३

को सम अथवा विरोध पर रखकर अधिक विकल हो उठती है—'असाढ़ मास में...घेरती हुई घटा चारों ओर से छाती आती है; हे प्रिय, बचाओ मैं मदन से पीड़ित हूँ। दादुर मोर और कोकिला शब्द कर रहे हैं...बिजली गिरती है, शरीर में जैसे प्राण नहीं रुकते।...सावन में...मार्ग अंधकार से गम्भीर और अथाह हो उठा है, जी बावला होकर भ्रमता घूमता है संसार जहाँ तक दिखाई देता है जलमय हो उठा है, मेरी नौका तो बिना नाविक के थक चुकी है।...भादों में...बिजली चमकती है, घटा गरज कर त्रस्त करती है, विरह काल होकर जी को ग्रस्त करता है। मघा झकोर झकोर कर बरसता है, ओलती के समान मेरे दोनों नेत्र चूते हैं।'[२५] इसी प्रकार यह सारा बारहमासा प्रकृति और भावनाओं के सामञ्जस्य पर चलता है। इसमें प्रकृति का स्वाभाविक रूप भावों का आधार प्रदान करता है; और भावों की सहज स्थिति प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त करती है। साथ ही इसका सब से बड़ा सौन्दर्य यह है कि प्रकृति के क्रिया व्यापारों में भावों की व्यंजना सन्निहित है, जबकि वियोगिनी के भावों और अनुभावों के साथ प्रकृति से तद्रूपता भी स्थापित की गई है। बादल घिरते हैं तो विरहिणी कामपीड़ित है; अंधकार गम्भीर अथाह है तो उसका मन भ्रमता है और यदि मघा बरसता है तो उसके नेत्र चूते हैं। अन्य प्रेम कथा काव्यों में ऐसी उन्मुक्त स्थिति नहीं है। दुखहरनदास ने बारहमासा को संयोग के अन्तर्गत रखा है, इसलिए उसमें भी यह सहज भाव नहीं आ सका है। इसमें विलास तथा क्रीड़ा की बात ही अधिक है। उसमान और आलम के बारहमासों में प्रकृति पीछे पड़ जाती है और विरह की अवस्था का वर्णन ही प्रमुख हो गया है। इस विरह स्थिति का वर्णन भी भावस्थिति के रूप में न होकर अधिकतर क्रिया कलापों तथा पीड़ा संबन्धी अनुभावों के अत्युक्तिपूर्ण चित्रण से

२५ जाय० ग्रं०; पद०, नागमती-वियोग-खंड, दो० ४, ५, ६

हुए हैं। उसमान की वियोगनी प्रकृति के सामने अपने आप में अधिक व्यस्त है—'जेठ मास तपा ...इस मास में तो संसार ऐसा तपा कि पुतलियों के आँसू सूख गए। विरह छिपाए नहीं छिपता, सहस्र तेज होकर उनके शरीर को तपाता है।...असाढ़ मास में...श्वेत, पीत, श्याम बादल छाते हैं, वेरी बकों की पंक्ति दिखाई देती है, लोग अपने घरों को आते हैं, पक्षी वनों में घोंसला बनाते हैं। मेरा कन्त तो वैरागी है, मन्दिर छाकर क्या करूँगी।'[26] इस चित्र का वातावरण तो फिर भी स्वाभाविक है। आलम ने ऋतु के रूप को पृष्ठ भूमि में रखा है, उसके आधार पर भावों की बात कही है पर इनमें शारीरिक [illegible] का आधार में अधिक भावों तथा अनुभावों तक सीमित रहा गया है। यद्यपि इन वर्णनों में अत्युक्ति अधिक है—

"ऋतु पावस श्याम घटा उनई लखि के तन धीर धिरातु नहीं।
धुनि दादुर मोर पपीहन की लखि के छतिया चित्त थिरातु नहीं।
जब ते मनभावन ते बिछुरे तब ते हिय दाह सिरात नहीं।
हम कौन से पीर कहैं दिलकी दिलदार तो कोई लखात नहीं।"[27]

वस्तुतः आलम प्रेम कथा काव्य की परम्परा में होकर भी शैली की दृष्टि से रीति कालीन प्रवृत्ति के अधिक निकट हैं। इन्होंने कुछ स्थलों पर वियोग के आधार पर प्रकृति को उपस्थित किया है और ऐसे रूपों में भावों को उद्दीप्त करने की व्यंजना सन्निहित है—

"रटत मयूर मानो चातक चढ़ावे चोर,
घटा घहरात तैसी चपल छटा छई।
तैसी रैनि कारी वारि बुन्द झरलाइ,
झाप झिल्लिन की तान बाढ़त वही नई।"[28]

---

२६ चित्रा०; उस० : ३२ पाती-खंड, दो० ४४५, ४४६
२७ विरहवारीश (मा० कास०); आलम: २६ वीं तरंग
२८ वही; वही : २७वीं तरंग

का अधिक चित्रण है। यह रूप भी भाव-व्यंजक न होकर बाह्य आरोपों तथा अनुभावों को लेकर है। दुखहरनदास पूस की शीत का उल्लेख करके आलिंगन आदि का वर्णन करते हैं—

"दुइतन । कै देखी अस वे मोले लपटाइ।
रहो न अंतर प्रेम के बीच न रहा समाइ ॥"[३४]

परन्तु इनका अर्थ यह नहीं है कि इन्होंने प्रकृति और भावों का सामञ्जस्य प्रस्तुत ही नहीं किया है। श्रावण मास का वर्णन भावोल्लास के समानान्तर प्रस्तुत किया गया है—

"..................... । ओनई घटा बादर सब छावा।
बरसै लाग मेघ दिन राती। सीतल भइ धरनी की छाती।
हरी हरी पेखि चहुदवोरा। पपीहा पीव पीव लागै सोरा।"[३५]

इन कवियों में ऋतु-वर्णन के प्रसंगों में यह रूप अधिक मिलता है। दुखहरन ग्रीष्म के वर्णन में वेदना को व्यक्त करते हैं—'नेत्रों में प्रेम के घनघोर बादल उमड़ आए; मदन का ही बवंडर झकझोर रहा है. बगुलों की पंक्ति दुःख संतप्त हो गई है और कोकिल कुहुक कर विलाप करती है।' इसमें आरोप के माध्यम से प्रस्तुत प्रकृति में उद्दीप्त भाव-स्थिति व्यक्त की गई है। आगे चित्र के वर्णन में ही भाव-व्यंजना सन्निहित है—'बिजली चमकती है, बादल गरजता है; सेज पर अकेली विरहिणी अत्यंत भयभीत हो रही है। चारो ओर नदी नाले बढ़ गए हैं, विरह से उनका वार पार कुछ नहीं सूझता।'[३६] प्रकृति के रूप के साथ ही वियोग की स्थिति संकेत करके यह व्यंजना प्रस्तुत की गई है। 'नलदमन' काव्य में भी ऋतु-वर्णनों में इसी प्रकार प्रकृति और भावों की समानान्तरता उपस्थित की गई है—'ऋतु पावस में प्रेम

बढ़ गया है. सावन भादों में मेह बरसता है। स्त्री को चातक की बोली अच्छी लगती है। चातकों की वाणी को सुनकर मन को चैन होती है। कुहुक कुहुक कर कोकिल और तोते बोलते हैं। दोनों स्त्री-पुरुष सुनकर प्रसन्न हो रहे हैं।"[३७] इन काव्यों में आरोप की प्रवृत्ति कम है, क्योंकि इनका संबन्ध साहित्यिक परम्परा से अधिक नहीं है। दुखहरन एक स्थल पर रति उल्लास का आरोप करते हैं—

"जोबन बाहु जमुन औ गंगा। लहरी केलि रस उठे तरंगा।
नदी नार नीर सखी सहेली। इन्ह कहं सुठी बाढ़ति बेली।"[३८]

राम-काव्य

§ २—'रामचरितमानस' और 'रामचन्द्रिका दोनों काव्य राम-कथा से संबन्धित हैं। परम्परा की दृष्टि से अलग होकर भी प्रकृति के उद्दीपन-रूप की दृष्टि से इनमें समान प्रवृत्तियाँ हैं। कारण यह है कि दोनों के सामने साहित्यिक परम्पराओं का आदर्श रहा है। साहित्यक रूप में उद्दीपन में प्रकृति पर आरोप की प्रवृत्ति अधिक हो जाती है। कलात्मक प्रयोग से यह आरोप भाव-व्यंजक हो जाता है। परन्तु इस सीमा पर इन दोनों काव्यों में रूढ़ि का अधिक पालन है। इस कारण आरोप भी स्थूल और शारीरिक मानवीकरण के आधार पर अधिक हुआ है। प्रकृति का स्वतंत्र उद्दीपन-रूप इनमें नहीं मिलता। एक स्थल पर 'रामचरितमानस' में राम सीता के रूप-उपमानों में फैली प्रकृति के उल्लास के विरोध पर अपनी मनःस्थिति को उद्दीप्त पाते हैं। यह स्थल कलात्मक है: पर इसके मूल में भी आरोप की भावना है। राम को सीता की स्मृति की वेदना प्रकृति के विरोधी उल्लास में अधिक जान पड़ती है—

रामचरितमानस

३७ नल० : ऋतु-वर्णन
३८ पुहु०; दुख० : पुह० बा०र०।

"कुंद कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि आहि भामिनी।
वरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा।
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेक न संक सकुच मन माहीं।"

इसीके आगे स्वतंत्र प्रकृति भी उद्दीपन की प्रेरणा रखती है—'संग लाइ करनीं करि लेहीं। मानहुँ मोहि सिखावन देहीं।' पर इसका विस्तार अधिक नहीं है। इसके बाद कवि वसंत की प्रकृति-रूप योजना 'काम अनीक' के आरोप के आधार पर करता है। और इस आरोप में प्रकृति उद्दीपक ही है—'अनेक वृक्षों में लताएँ उलझी हुई हैं: मानों वे ही विविध वितान ताने गए हैं। कदली और ताल ही मानों श्रेष्ठ ध्वजाएँ हैं जो उनको देखकर मोहित न हो उसका मन धीर है। नाना प्रकार के वृक्ष फूले हैं, मानों अनेक धनुर्धारी अनेक रूपों में खड़े हैं।'[39] इसी प्रकार उत्प्रेक्षाओं से यह रूपक पूरा किया गया।

क—'रामचन्द्रिका' का कवि अपनी प्रवृत्ति में अलंकारवादी है। साथ ही इसमें साहित्यिक परम्परा का अनुसरण भी किया गया है।

रामचन्द्रिका

इस कारण आरोपों के माध्यम से ही प्रकृति को उद्दीपन के अन्तर्गत रखा गया है। ऐसे कुछ ही स्थान होंगे जहाँ प्रकृति मानवीय भावों के सम पर व्यंजनात्मक रूप में उपस्थित हुई हो अथवा जहाँ वह भावों के आधार पर उपस्थित की गई हो। एक स्थल पर लक्ष्मण के उल्लेख में प्रकृति का ऐसा रूप आया है जिसे व्यंजनात्मक रीति से भावोद्दीपन का रूप कहा जा सकता है—

"मिलि चक्किन चंदन वात वहै अति मोहत न्यायन ही मति को।
मृगमित्र विलोकत चित्त जरै लिये चन्द निशाचर पद्धति को।
प्रतिकूल शुकादिक होहिं सबै जिय जानै नहीं इनकी गति को।
दुख देत तड़ाग तुम्हैं न बनै कमलाकर है कमलापति को।"[40]

है, इस कारण इनकी भाव-धारा को कलात्मक आधार मिला है। फिर भी इन गीतियों की अभिव्यक्ति वस्तु-परक आश्रय पर हुई है; और इसलिए प्रेम और सौन्दर्य्य की भावात्मकता के स्थान पर इनमें यौवन का शारीरिक रूप ही प्रत्यक्ष हो जाता है। प्रकृति के उद्दीपन-रूप की दृष्टि से विद्यापति में लोक-गीतियों जैसी प्रवृत्ति मिलती है, परन्तु इन्हीं कारणों से प्रकृति तथा जीवन में भावों का प्रगुम्फन तीव्र हो उठता है। वसंत का दृश्य-जगत् अपने रूप में अधिक मादक है और उसके समानान्तर भावों का यौवन से आकुल चित्र है—

"मलय पवन वह। वसन्त विजय कह।
भमर करइ रोल। परिमल नहि ओल।
ऋतुपति रंग हेला। हृदय रभस मेला।
अनंक मंगल मेलि। कामिनि करथु केलि।
तरुन तरुनि सङ्गे। रहनि खपनि रङ्गे।"[४३]

आगे भावों के सम पर प्रकृति भावों को व्यंजित करती हुई उद्दीप्त करती है—'नवीन वृन्दावन में नए नए वृक्षों के समूह हैं, उन पर नए पुष्प विकसित हैं। नवीन वसंत के प्रसार में नव मलयानिल का संचरण हो रहा है और मस्त अलियों की गुञ्जार होती है। नवल किशोर विहार करते हैं, यमुना तट पर कुंजों की शोभा नवीन प्रेम से आह्लादित हो रही है।'[४४] विद्यापति में उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति के प्रयोग की यही व्यापक प्रवृत्ति है। इसके साथ प्रकृति के संकेत पर विरह की वेदना और यौवन की व्यथा का वर्णन भी प्रमुख हो उठता है—'हे सखी, हमारे दुःख की कोई सीमा नहीं है। इस भादों मास में बादल छाए हैं और मेरा मन्दिर सूना है। झूम कर बादल गरजते हैं, संसार को प्लावित करते हैं। कन्त तो

प्रवासी है, काम दारुण है, वह तीव्र बाणों-से मारता है।'[४५] यहाँ तो फिर भी प्रकृति सामने उपस्थित है, कुछ स्थलों पर केवल एक उल्लेख के आधार पर विरह की पीड़ा का उल्लेख किया जाता है—

"गगन गरजि घन घोर। हे सखि, कखन आओत वहु मोर।
उगलीन्ह पाचो बान। हे सखि, अवन बचत मोर प्राण।
करब कओन परकार। हे सखि, यौवन भेल उजियार॥"[४६]

और कभी तो ऋतु संबन्धी उल्लास ही सामने आता है, प्रकृति विस्मृत कर दी जाती है—

"नाचहु रे तरुनि तजहु लाज,
आएल वसन्त रितु वणिक राज।
केओ कुङ्कुम मरदाव अंग,
ककरहु मोतिआ भल भाज मान॥"

इसमें मानवीय उत्सव तथा उल्लास का रूप सामने आता है, अन्यत्र भी—

"मधुर युवतीगण सङ्ग,
मधुर मधुर रसरङ्ग।
मधुर मादव रसाल,
मधुर मधुर कर ताल॥"[४७]

क—विद्यापति में साहित्यिक कलात्मकता होने के कारण उल्लास आरोप के माध्यम से अधिक व्यक्त हुआ है। परन्तु इस आरोप में

आरोप से प्रेरणा

भावात्मक प्रेरणा अधिक है, स्थूल आकार से मधु-क्रीड़ाओं आदि के द्वारा उद्दीपन का कार्य्य नहीं लिया गया है। विद्यापति ने एक लंबा रूपक जन्म का बाँधा है और दूसरा राजा का दिया है। जन्म के रूपक में प्रकृति-रूप इस प्रकार

---

४५ वही; वही : पद ७२५

४६ वही; वही : पद ७०६

चलता है—

"माघ मास सिरि पञ्चमी जजाइवि,
नवल मास पञ्चमहु रुग्राइ।
अति घन पीड़ा दुख वड़ पाग्रोल,
वनसपती भेल, धाइ हे॥"

आगे इस चित्र में उल्लास इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

"जाचए जुवतिगण हरपित जनम,
लोल वाल मवाइ रे।
मधुर महारस मङ्गल गावए,
मानिनि मौन उड़ार रे॥"[४८]

ऋतुपति राज का रूपक तो प्रसिद्ध है और अनेक कवियों ने इसका प्रयोग किया है। इसमें ऋतु संवन्धी उमंग प्रकृति में प्रतिघटित की गई है—'ऋतुराज वसंत का आगमन हुआ।' माधवी लताओं में अलि समूह गुंजारता है। दिनकर की किरणों में उसका यौवन है और कुसम के केसर उसका स्वर्ण दण्ड है।'[४९] विद्यापति के उद्दीपन में प्रकृति-रूप वियोग में यौवन की विरह-पीड़ा को लेकर अधिक चलता है, जब कि संयोग में उल्लास का आन्दोलन ही अधिक है। इसका कारण है कि विद्यापति मुख्यतः लौकिक प्रेम तथा सौन्दर्य्य के कवि हैं जो यौवन में अपनी अभिव्यक्ति पाता है।

§ १४—प्रकृति के उद्दीपन-रूप को लेकर समस्त उन्मुक्त कवियों में समान भावना है। परन्तु मीरा की पद शैली ने गीति-

मीरा की उन्मुक्त उद्दीपक प्रकृति

भावना के कारण प्रकृति से उद्दीपन की प्रेरणा स्वाभाविक है और उसमें भाव-तादात्म्य स्थापित हो सका है। विद्यापति में भी यह भावना थी, परन्तु

साहित्यिक रूप होने के कारण उनके काव्य में अन्य रूप भी हैं। अन्य मुक्तक प्रेमी कवियों पर रीति-परम्परा का प्रभाव अधिक है, स्वतंत्र रूप से प्रकृति के चित्रों में पावस का प्रमुख स्थान रहा है। मीरा की विरहिणी आत्मा पावस के उल्लास को मनःस्थिति के विरोध में पाकर अधिक व्यग्र हो उठी है—

"पिया कब रे घर आवै।
दादुर मोर पपीहरा बोलै कोइल सबद सुणावै।
घुमँड घटा ऊलर होइ आई दामिनि दमक डरावै।।"[५०]

और दूसरी ओर संयोगिनी मीरा प्रकृति के पावस उल्लास से अपना सम स्थापित करके अधिक आनन्दमग्न हो उठती है—

"मेहा बरसिवो करे रे।
आज तो रमियो मेरे घरे रे।
नान्हीं नान्हीं बूँद मेघ घन बरसे।
सूखे सरवर भरे रे।
बहुत दिना पै प्रीतम पायो।
बिछुरन को मोहि डर रे।"[५१]

दुःख के बाद सुखातिरेक में दुःख की स्मृति भय बनकर रहती है. इसी स्वाभाविक स्थिति की ओर इसमें संकेत किया गया है।

अन्य कवि और रीति का प्रभाव

§ १५—जैसा कहा गया है मुक्तक के प्रेमी कवियों में प्रकृति का उद्दीपन-रूप भावों के समानान्तर तो है, पर रीति के प्रभाव से उसमें बाह्य आधारों का वर्णन ही अधिक है। ठाकुर कवि प्रकृति के विकास-विरोध में मानिनी की रति-भावना को उद्दीप्त करते हैं—'देखो, वन में वल्लरियों में किशलय और कुसुम आ गए हैं और प्रत्येक वन तथा

५० पदा०; मीरा : पद १५६

५१ वही; वही : पद १२८

उपवन सुन्दर शोभा से छविमान् हैं। और इस कोकिल की कूक सुन कर कैसी हूक होती है: ऐसे दुःख में कोई रात-दिन किस प्रकार व्यतीत करे। ऐसे समय तो श्याम को तरसाना नहीं चाहिए; तू अपने मन में विचार कर तो देख। ऐसे समय कोई मान करता है, आम पर मंजरी है और मंजरी के भौंर पर भ्रमर गुंजारता है, ऐसा सुहावना समय है।[५२] इन कवियों में कुछ रूप इस प्रकार के पाए जाते हैं जिनमें प्रकृति के आधार पर वियोग-व्यथा को अधिक व्यक्त किया जाता है—'पावस ऋतु में श्याम घटा को उमड़ी देखकर, मन में धैर्य्य तो बँधता नहीं फिर इन दादुर और मोरों के शब्द को सुनकर चित्त स्थिर नहीं हो पाता। जब से प्रिय से बिछोह हुआ, वियोगिनी के हृदय की ज्वाला कम नहीं होती। उसकी कौन-सी व्यथा या उल्लास का उल्लेख किया जाय, कोई सुननेवाला और सहानुभूति रखनेवाला भी नहीं दिखाई देता।'[५३] इस वर्णन में प्रकृति के विरोध में सहानुभूतिपूर्ण वातावरण से भाव-व्यंजना को उद्दीप्त रूप में उपस्थित करती है, यद्यपि कवि कहता यही है कि कोई सहानुभूति रखनेवाला नहीं मिलता। इसी के दूसरे रूप में भावों की पृष्ठ-भूमि पर प्रकृति उद्दीपक हो उठती है—

"बटपारन बैठि रसालन में यह कैलिया आइ खरे ररि है।
बन फूलि है पुञ्ज पलासन के तिन को लखि धीरज को धरि है।
कवि बोधा मनोज के आगनि सों बिरही तन तूल भयो जरि है।
पर कन्त नहीं बिरतन्त भट्ट अब कैधों बसन्त कहा करि है।"[५४]

इस प्रकार इन कवियों के मुक्तकों में उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति का रूप लोक-गीतियों की उन्मुक्त भावना तथा साहित्यिक परम्पराओं और रूपों की मध्य की स्थिति मानी जा सकती है।

पद काव्य

§ १६—भक्त कवियों के पद-काव्य में उद्दीपन की भावना का विकास विद्यापति के आधार पर माना जा सकता है। साधना संबन्धी प्रकरण में भगवान् की भावना को लेकर प्रकृति की प्रभावमयी स्थिति पर विचार किया गया है।

भाव सामञ्जस्य

वसंत और फाग को लेकर इन कवियों में प्रकृति का बहुत दूर तक भावों से सामञ्जस्य मिलता है। कुंभनदास वसंत का भावोद्दीपक रूप इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

"मधुप गुंजारत मिलित सत सुर भयो है हुलास
तन मन सब जंतहि।
मुदित रसिक जन उमगि भरे हैं न पावत
मनमथ सुख अंतहि।"[५५]

चतुर्भुजदास भी इसी प्रकार कहते हैं—

"फूली द्रुम वेली भाँति भाँति। नव वसंत सोभा कही न जात।
अंग अंग सुख विलसत सघन कुंज। छिनिछिनि उपजत आनंद पुंज।"[५६]

गोविन्ददास का प्रकृति उद्दीपन-रूप वसंत की इस भावना से भिन्न नहीं है—

"विहरत वन सरस वसंत स्याम। जुवती जूथ गावैं लीला अभिराम।
मुकलित सघन नूतन तमाल। जाई जुही चंपक गुलाल।
पारजात मंदार माल। लपटात मत्त मधुकरन जाल।"[५७]

इस प्रकार अनेक चित्र सभी कवियों में मिलते हैं। भक्त कवियों के इस प्रकृति-रूप में मानवीय भावों के समान उल्लास व्यक्त होता है। सूर ने इसको हिंडोला के प्रसंग में प्रस्तुत किया है, प्रकृति और जीवन

---

५५ श्रीपुष्टिमार्गीय पदसंग्रह (भा० २) : पृ० १

५६ वही : पृ० १५

५७ वही : पृ० १८

समानान्तर हैं केवल यहाँ शृंगार की भावना अधिक है—'हरि के साथ हिंडोला झूलो और प्रिय को भी झुलाओ। शरद और उसके बाद ग्रीष्म ऋतु बीत गई अब सुन्दर वर्षा ऋतु आई है। गोपियाँ कृष्ण के पैर छूकर कहती हैं, वन वन कोकिल शब्द करता है और दादुर शोर करते हैं। घन की घटाओं के बीच में बगुलों की पंक्ति आकाश में दिखाई देती है। इसी प्रकार विद्युत चमकती है, बादल घोर गरजन करते हैं, पपीहा रटता है और बीच बीच में मोर बोल उठता है।' इस लंबी चित्र योजना में जो उल्लास की उद्दीपन भावना है वह गोपियों के संयोग-शृगार के समानान्तर ही है—

"पहरि चुनि चुनि चीर चुहि चुहि चूनरी बहुरंग।
कटि नील लहँगा लाल चोली उजटि केसरि रंग॥"[५८]

समस्त हिंडोला प्रसंग में यही भावना है।

भावों के आधार पर प्रकृति

क—सूरदास के वसंत-वर्णन में भावों की पृष्ठ-भूमि पर प्रकृति का उद्दीपन-रूप उपस्थित किया गया है जिसमें उल्लास की भावना निहित है—'कोकिल वन में बोली, वन पुष्पित हो गए; मधुप भी गुंजारने लगे। प्रातःकाल वन्दीजनों की जय जयकार सुनकर मदन महीपति जागे। दव से जले हुए वृक्षों में दूने अंकुर निकल आए, मानों कामदेव ने प्रसन्न होकर याचकों को नाना-वस्त्र दान दिए। नवीन प्रीति के वातावरण में नववल्लरियाँ नव-पुष्पों से आच्छादित हुईं: जिनके सुरंगों पर नव-युवतियाँ प्रगट हुईं।'[५९] इसी प्रकार का एक दूसरा चित्र भी है—

भँवरा भँवरी भ्रमत संग।
यमुन करत नाना तरंग।"[६०]

उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति का यह रूप सूर में ही प्रमुखतः है, परन्तु अन्यत्र भी मिलता है। गोविंददास भावों का आधार ग्रहणकर प्रकृति को उपस्थित करते हैं—'हे कंत, नवीन शोभावाली अनुपम ऋतु वसंत आ गई, अत्यंत सघनता से जूही, कुंद और अन्य पुष्प फूल उठे हैं; वनराजि पुष्पित हो उठी है, उन पर मदरस के मतवाले भ्रमर दौड़ते घूमते हैं।'[६१] इसी प्रकार प्रकृति रूप कृष्णदास का भी है—

"प्यारी नवल नव नव केलि।
नवल विटप तमाल अरुभी मालती नव वेलि।
नव वसंत हसत द्रुमगन जरा जारे पेलि।
नवल वसंत विहंग कूजत मच्यों ठेला ठेलि।
तरणि तनया तट मनोहर मलय पवन सहेलि।
वकुल कुल मकरंद लंपट रहे अलिगन भेलि।"[६२]

इन रूपो में पृष्ठ-भूमि की भावना ही भावात्मक व्यंजना के रूप में सन्निहित हो जाती है, जैसा सूर के चित्र मे अधिक दूर तक हुआ है। और या क्रीड़ा-विलास आदि का अस्पष्ट आरोप हो जाता है जैसा इस चित्र में है।

आरोप का आधार

ख—सूर ने आरोप के आधार पर भी प्रकृति को उद्दीपन में रखा है। पत्र के रूप में वसंत की कल्पना में नवीनता है—

---

६० वही ' वही, पृ० २३८७
६१ श्री पुष्ट०, पृ० ६७—'कोकिल बोली वन वन फूल'
६२ वही : पृ० २४

"ऐसो पत्र पठायो ऋतु वसंत
तजहु मान मानिन तुरंत।
कागज नवदल अंबुज पात
देति कमल मसि भँवर सुगात।"[63]

वसंतराज, वसंत सेना आदि के रूपक साहित्यिक परम्परा से लिए गए हैं। मदन तथा वसंत के फाग खेलने की कल्पना में आरोप सुन्दर है—

"देखत नव व्रजनाथ आजु अति उपजतु है अनुराग।
मानहु मदन वसंत मिले दोउ खेलत फाग।
केकी काग कपोत और खग करत कुलाहल भारी।
मानहु लै लै नाउँ परस्पर देत दिवावत गारी।"[64]

इन सबके अतिरिक्त प्रकृति को परोक्ष में करके केवल विलास और उल्लास का वर्णन भी इनमें मिलता है—'हे सखी, यह वसंत ऋतु आ गई; मधुवन में भ्रमर गुंजारते हैं। ताली बजाकर स्त्रियाँ हँसती हैं; और केसर, चंदन तथा कस्तूरी आदि घिसी जाती है। वृज में खेल मचा हुआ है। कोई प्रातः सन्ध्या अथवा दोपहर नहीं मानता; नाना प्रकार के, मुरज, बीन, डफ तथा झाँझ आदि बाजे बजते हैं और गुलाल, अबीर आदि उड़ाया जाता है।[65] यहाँ क्रीड़ा-कौतुक की भावना सभी देशों में ऋतु के साथ अधिक होती गई है और रीति-काल की [illegible] तथा उक्ति-वैचित्र्य में तो इसको प्रमुख स्थान मिला है।

उद्दीपन-रूप को लेकर कोई प्रवृत्ति विषयक विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। इनमें इस रूप के अनेक भेद मिलते हैं और सभी कवि समान प्रवृत्तियों से प्रभावित हैं जो सामूहिक रूप में रीति परम्परा से संबन्धित हैं। यह एक सीमा तक कवि की अपनी काव्य-प्रतिभा और आदर्श-भावना से भी संबन्धित है। जिन कवियों की रसात्मक प्रवृत्ति अधिक है उन्होंने प्रकृति को जीवन के सामञ्जस्य पर, अथवा जीवन और प्रकृति में से किसी को पृष्ठ-भूमि में रख कर दूसरे को उस भावना से आन्दोलित या प्रभावित चित्रित किया है। जिन कवियों की प्रवृत्ति अलंकारों तथा उक्ति चमत्कार की ओर है उनमें प्रकृति का संकेत देकर या उल्लेख करके पीड़ा-जलन, विलास-क्रीड़ा का ऊहात्मक वर्णन ही प्रमुख है। इसके अतिरिक्त आरोप को लेकर भी यही भेद पाया जाता है। रसवादी कवियों ने भावात्मक व्यंजना प्रस्तुत करने वाले रूपकों का प्रयोग किया है, जबकि अलंकारवादी कवियों में चमत्कार की प्रेरणा से मानवीकरण करने की, आकार देने की प्रवृत्ति अधिक है। इन्होंने विचित्र आरोप भी प्रस्तुत किए हैं। परन्तु यह विभाजन जितना सिद्धान्त से संबन्धित है, उतना वास्तविक नहीं है। इस युग का काव्य सब मिला कर ऐसी रूपात्मक रूढ़िवादिता (फ़ार्मलिज़्म) से बँधा हुआ है कि सभी कवियों में समान परिपाटी का अनुसरण मिलता है। यह कहना कठिन है किस कवि में कौन प्रवृत्ति प्रमुख है। इसलिए यह विभाजन व्यापक रूप से ही लगता है।

समान प्रवृत्तियाँ

§ १८—स्वच्छंद भावना से संबन्धित प्रकृति का वह उद्दीपन-रूप है जिसमें प्रकृति मानवीय जीवन की दुःखसुखमयी स्थितियों तथा भावनाओं के समानान्तर उपस्थित होती है। और इस निकट की स्थिति से वह विरोध, संयोग, स्मृति के द्वारा भावों को व्यंजनात्मक रीति से

समानान्तर प्रकृति और जीवन

उद्दीप्त करती है। इसी के समान प्रकृति के वे चित्र हैं जिनमें मानवीय जीवन या भावना का उल्लेख प्रत्यक्ष तो नहीं रहता, परन्तु प्रकृति में भावात्मक क्रियाओं आदि से भाव-व्यंजना का रूप उपस्थित किया जाता है। इस प्रकृति रूप का उल्लेख विभिन्न काव्य-रूपों के अन्तर्गत किया गया है। यहाँ भेद स्पष्ट करने के लिए ठाकुर कवि का पावस-वर्णन प्रस्तुत किया जा सकता है—

"घन घहरान लागे अंग सहरान लागे,
        केकी कहरान लागे वन के बिलासी जे।
बोलि बोलि दादुर निरादार सों आठो जाम,
        ग्रीषम की देन लागे बहुर बिहासी जे।
ठाकुर कहत देखो पावस प्रबल आयो,
        उड़न दिखान लागे बगुल उदासी जे।
दाबे गे दबे से चारों ओरन छुए से बीर,
        बरस रहन लागे बदरा बिसासी जे।"[६६]

इस वर्णन में मानवीय व्यथा संबन्धी अनुभावों और भावों को प्रकृति पर प्रतिष्ठित करके व्यंजना की है, वैसे स्वतंत्र चित्र माना जा सकता है। यह एक प्रकार अप्रत्यक्ष आरोप है। इसी चित्र के साथ जब भाव स्थिति प्रत्यक्ष सामने लगती है उस समय प्रकृति और जीवन एक दूसरे को प्रभावित करता उपस्थित होता है। मतिराम की विरहिणी प्रकृति के पावस-विलास के समानान्तर विरोध की मनःस्थिति लेकर उपस्थित है—

"दुरवान को धावन मानों अनंग की तुंग ध्वजा फहरानें लगी।
नभ मंडल में छिति मंडल छ्वै छिन जोति छटा छहराने लगी।

६६. [illegible] ६७, इसी प्रकार गिरधर के वर्णन में [illegible] के [illegible] हुई है—

'मतिराम' समीर लगी लतिका विरही वनिता थहराने लगी।
परदेस में पीय नंदेस नहीं चहुँ ओर घटा घहराने लगी।"[६७]

यहाँ प्रकृति का आन्दोलन और वियोगिनी का अनंग पीड़ित होकर 'थहराना' साथ होता है। इस कलात्मक प्रयोग और उन्मुक्त वातावरण में स्पष्ट भेद है। मतिराम ने भावों को प्रकृति के समक्ष रखा है और फिर प्रकृति के माध्यम से व्यंजना द्वारा सामञ्जस्य भी उपस्थित किया है। फहराना, छहराना, घहराना आदि इसी भाव को व्यक्त करते हैं। सेनापति का वर्णन भी इसी प्रकार चलता है—'ऋतुराज वसंत के आगमन पर मन उल्लसित हो उठा है'। सौरभमयी सुन्दर मलय पवन प्रवाहित है। सरोवर का जल निर्मल होकर मंजन के योग्य है। मधुकर का समूह मंजुल गुंजार करता है; वियोगी इस ऋतु में व्याकुल है, योगी भी ध्यान नहीं रख पाते; और इसमें संयोगी विहार करते हैं। सघन वृक्ष शोभित हैं, अनेक कोकिल समूह बोलता है।[६८] इस प्रकृति और जीवन के समानान्तर चित्र में भाव-सामञ्जस्य उपस्थित नहीं हो सका है, इसका कारण है कवि का अलंकारवादी होना। परन्तु जहाँ प्रभावशीलता के साथ प्रकृति उपस्थित हो सकी है वहाँ यह स्थिति अधिक भावमय हुई है—

"तपै इत जेठ जग जात है जरनि जर्यो
तापकी तरनि मानों मरनि करत है।

"घहरि घहरि घेरि घेरि घोर घन आए
छाए घर घर धूमीले घने घूमि घूमि।
डारें जल धारें जोर जमत जमात करें
ललकारें बार बार व्योम जूमि जूमि।"

६७ पावस-शतक : २७

६८ कवित्त रत्नाकर; सेनापति : ती० तरं० छं० २

इतहिं असाढ़ उठै नूतन सघन घटा,
सीतल समीर हिय धीरज धरत है।
आधे अंग ज्वालन के जाल विकराल आधे
सीतल सुभग मोद हीतल भरत है।
सेनापति ग्रीषम तपत रितु भीषम है
मानो बड़वानल सौं वारिधि बरत है।[६१]

चमत्कृत तथा प्रेरक रूप

क—इसी रूप में कभी कवि प्रकृति का प्रभावोत्पादक रूप उपस्थित करता है, तब प्रकृति का उद्दीपन-रूप वस्तु-रूप में मन को प्रभावित करता हुआ उपस्थित होता है। यह रूप प्रकृति की पृष्ठ-भूमि पर अधिक उपस्थित होता है; परन्तु कभी कभी प्रकृति में भी प्रस्तुत होता है। इन सभी कवियों में चमत्कार की प्रवृत्ति विशेष है, इस कारण यह रूप ऊहात्मक ही अधिक हुआ है। पद्माकर ने वसंत की परम्परागत योजना में यही रूप प्रस्तुत किया है—

"पात बिन कीन्हें ऐसी भाँति गन बेलिन के,
परत न चीन्हे जे ये लरजत लुंज हैं।
कहै 'पद्माकर' बिसासी या बसन्त कैसो,
ऐसे उतपात गात गोपिन के भुंज हैं।
ऊधो यह सूधो सो सँदेसो कहि दीजो भले,
हरि सों हमारे ह्याँ न फूले बन कुंज हैं।

---

६१. वही; वही : वही, छं० १६, सेनापति का एक छंद इसी प्रकार का है जिसमें वर्षारम्भ के मध्य विरह-दशा व्यंजित की गई है—(पा० ४२)
"[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] सेज पर [illegible]।"

किंशुक गुलाब कचनारन औ अनारन की,
डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं।"[७०]

इसमें भावों के सम पर जो प्रकृति का उल्लेख हुआ है वह जैसे स्वयं प्रेरक तथा उद्दीपक है जो अत्युक्ति के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सेनापति भी जेठ की गरमी का वर्णन इसी उत्तेजक के अर्थ में करते हैं—

"गगन गरद धुँधि दसो दिसा रहीं रूँधि,
मानौं नभ भार की भस्म बरसत है।
बरनि बताई, छिति-व्योम की तताई जेठ,
आयो आततायी पुट-पाक सौं करत है।"[७१]

ख—सेनापति के विषय में कहा गया है कि इन्होंने प्रकृति को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार सेनापति ने प्रकृति के स्वाभाविक प्रभाव तथा उसकी प्रेरणा का भी उल्लेख किया है। ऋतु का प्रभाव मानव पर पड़ता है और उसको वह सुख-दुःख के रूप में ग्रहण करता है। अन्य कवियों ने इस शारीरिक सुख-दुःख को भावों की प्रेरणा के रूप में स्वीकार कर लिया है, परन्तु सेनापति उसके सहज प्रभाव से परिचित हैं और उसे उपस्थित भी करते हैं। पिछले प्रकरण में ग्रीष्म के प्रभाव का संकेत चित्रण के अन्तर्गत किया गया था। शीत-काल में प्रकृति के इस रूप की ओर कवि संकेत करता है—

स्वभाविक प्रभाव

"धायौ हिम दल हिम-भूधर तैं सेनापति,
अंग अंग जग थिर-जंगम ठिरत है।
पैयै न बताइ भाजि गई है तताई सीत,
आयौ आततायी छिति-अंबर घिरत है।"

---

७० पद्मा० पंचा० : जग०, ३८०

७१ कवि०; सेना० : ती० तरं०, छं० १५

इस प्रकृति के कष्टप्रद रूप के साथ कवि इसी भावना का आरोप सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए कर देता है—

"चित्र कैसो लिख्यो तेज दीन दिनकर भयौ,
अति सियराई गयौ घाम पतराइ के।
सेनापति मेरे जान सीत के सताए सूर,
राखे हैं सकोरि कर अवंर छपाइ कै।"[७२]

§ १६—जैसा प्रकरण के प्रारम्भ में कहा गया है कि उद्दीपन के रूपों में कभी भाव के संकेत पर प्रकृति उपस्थित होती है और कभी केवल प्रकृति के उल्लेख के आधार पर भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। इस स्थिति में व्यापक वियोग की भावना के अन्तर्गत प्रकृति का प्रमुख चित्र आलंबन के समान लगता है और इसी कारण इनका संकेत पहले के प्रकरण में किया गया है। परन्तु जिनमें वियोग की पृष्ठ-भूमि है, अथवा प्रिय-स्मृति के आधार पर प्रकृति-रूप उपस्थित होता है, उनमें उद्दीपन की भावना प्रत्यक्ष और गहरी हो जाती है।

भावात्मक पृष्ठ-भूमि पर प्रकृति

क—इस रूप में केवल व्यापक भावना के प्रत्यक्ष होने पर प्रकृति का चित्र उपस्थित होता है जिसमें उद्दीपन-व्यंजना उसी आधार पर ग्रहण की जाती है। पद्माकर में उल्लास की भावना व्यापक होकर प्रकृति-वर्णना के माध्यम से अधिक व्यक्त होती है और इसी कारण यह रूप उद्दीपन के अन्तर्गत है—

भाव का प्रसार

"द्वार में दिसान में दुनी में देस देसन में,
देखौ दीप दीपन में दीपत दिगन्त है।
बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में,
बनन में बागन में बगर्‌यो बसन्त है।"[७३]

सेनापति के इस वर्णन में आधार भावात्मक है—

"बरसत घन गरजत सघन, दामिनि दिपै अकास।
तपति हरी सफलो करी, सब जीवन की आस॥
सब जीवन की आस, पास नूतन तिन अनगन।
सोर करत पिक मोर, रटत चातक विहंग गन॥
गगन छिपे रवि चंद, हरप सेनापति सरसत।
उमगि चले नद नदी, सलिल पूरन सर बरसत॥"[७४]

भाव की स्थायी स्थिति के आधार पर प्रकृति के वातावरण का परिवर्तन विचित्र सी अनुभूति देता हुआ उपस्थित होता है, जिसका पद्माकर इस प्रकार वर्णन करते हैं—

"और भाँति कुंजन में गुंजरत भौंर भीर,
और डौर झौरन में वोरन के ह्वै गये।
औरै भाँति विहग समाज में अवाज होत,
ऐसो ऋतुराज के न आज दिन द्वै गये॥"[७५]

प्रत्यक्ष स्मृति

ख—पिछले रूपों में स्थायी-भाव की स्थिति के प्रत्यक्ष होते हुए भी आलंबन का रूप स्पष्ट नहीं था। इसमें भाव का व्यक्त आलंबन सामने आ जाता है। सेनापति की विरहिणी के सामने—'आवन कह्यौ है मन भावन' की प्रत्यक्ष भाव-स्थिति में आलंबन की स्मृति भी स्पष्ट है और इसी आधार पर पावस का दृश्य उसके सामने उत्तेजक हो उठता है—

"दामिनि दमक सुरचाप की चमक स्याम,
घटा की झमक अति घोर घनघोर तैं।
कोकिला कलापी कल कूजत हैं जित-तित,
सीकर ते सीतल समीर की झकोरतैं।

---

७४ का० ब०; सेना : तृ० तरं०, छं० ३५

७५ हजारा; पद्मा० : वसं०, छं १८

आयौ सखी सावन मदन सरसावन ल-
ग्यौ है बरसावन सलिल चहुँ ओर तैं ।''७६

मतिराम भी इसी प्रकार स्मृति के आधार पर प्रकृति को उद्दीपक-रूप में उपस्थित करते हैं। इस वियोगिनी को किसी प्रकार का आश्वासन नहीं है, उसे परदेशी प्रिय का संदेश भी नहीं मिला और पावस उमड़ा आ रहा है—

"धुरवान की धावन मानों अनंग की तुंग ध्वजा फहराने लगी।
नभ मंडल तें छिति मंडल छ्वै छिन जोति छटा छहराने लगीं॥
'मतिराम' समीर लगी लतिका बिरही बनिता थहराने लगीं।
परदेस में पीय संदेस नहीं चहुँ ओर घटा घहराने लगीं॥''७७

देव की वियोगिनी के लिए प्रकृति का आन्दोलन स्मृति को जाग्रत कर के आत्म-विस्मृत कर देने वाला है—

"बोलि उठो पपिहा कहूँ पीव सु देखिबे को सुनि के धुनि धाई।
मोर पुकारि उठे चहुँ ओर सुदेस घटा घिरि के चहुँ छाई॥
भूलि गई तिय को तनकी सुधि देखि उतै बन भूमि सुहाई।
सासनि सों भरि आयो गरो अँसुवान सों अँखियाँ भरि आई॥''७८

यह वर्णन कलात्मक और सुन्दर है प्रकृति की उमड़न का रूप वियोगिनी की स्मृति की उमड़न के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

अलंकृत प्रकृति

ग—अलंकारवादी चमत्कार ने प्रकृति को नितान्त अस्वाभाविक स्थिति तक पहुँचाया है। और यह प्रवृत्ति सभी रूपों में समान रूप से क्रियाशील रही है। पिछले विभाग में वस्तु-रूप प्रेरक प्रकृति को देखा गया है। इस रूप में यह प्रवृत्ति प्रकृति को अलंकरण रूप में प्रस्तुत करती है। इस रूप में कवियों

ने इसको वस्तु-रूप में प्रभाव डालने वाली स्वीकार किया है। वस्तुतः प्रकृति भावों को प्रभावित कर सकती है पर इन कवियों ने अत्युक्तियों के द्वारा इसका वर्णन किया है। दीनदयाल की वियोगिनी को पावस जैसे स्वयं पीड़ित कर रहा हो—

"चपला चमक लगै लूक ह्वै अचूक हिये,
कोकिल कुहूकि वरजोर कोरवान की।
कूक मुरवान की करजा टूक टूक करैं,
लागति है हूकि सुनि धुनि धुरवान की।"[७९]

इसी प्रकार श्रीपति की वियोगिनी के लिए प्रकृति का समस्त रूप उत्तेजक है—

"आवते गाढ़ असाढ़ के बादर मो तन में अति आग लगावते।
गावते चाह चढ़े पपिहा जनि मोसों अनंग सो वैर बँधावते।
धावते वारि भरे बदरा कवि श्रीपति जू हियरा डरपावते।
पावते मोहि न जीवते प्रीतम जो नहिं पावस में घर आवते।"[८०]

सेनापति की विरहिणी 'आसाढ़ के आते' ही ऐसी ही 'गाढ़' में पड़ गई है[८१]; और बिहारी की नायिका को उमड़ते बादलों का व्यापार इसी प्रकार दाहक लगता है—

---

७९ ग्रंथा०; दीन० : ऋतुवर्णन, छं० २११

८० पावस-शतक; छं० १२

८१ कवि०; सेना० : ती० तरं०, छं० २१

"सुनि घन घोर मोर कूकि उठे चहुँ ओर,
दादुर करत सोर भोर जामिनीन कौं।
काम धरे बाढ़ तरवारि तीर जम-दाढ़,
आवत असाढ़ परी गाढ़ बिरहीन कौं।

धुरवा होंहि न अलि इहै, धुआँ धरनि चहुँ कोद।
जारत आवत जगत को, पावस प्रथम पयोद ॥[२८]

व—प्रकृति को विभिन्न भावों के आधार पर उपस्थित किया गया है, उनमें रति के अन्तर्गत आशंका और अभिलाषा प्रमुख हैं। इसमें भी प्रकृति के उत्तेजक रूप की कल्पना ही निहित है। ऊपर श्रीपति के उदाहरण में आशंका की भावना थी। देव के इस प्रकृति-चित्र में अभिलाषा का आधार है—और इसमें प्रकृति से संवन्धात्मक निकटता की व्यंजना छिपी है—

आशंका और अभिलाषा

"आई रितु पावस न आये प्रान प्यारे यातें,
मेघन वरज आली गरजन लावें ना।
दादुर हटकि वकि वकि के न फोरें कान,
पिक न पटकि मांहि कुहुकि सतावें ना।
विरह विथा तें हौं तो व्याकुल भई हौं देव,
जुगुन चमकि चित चिनगी उठावें ना।
[illegible]

पहले उल्लेख किया है, भावों को अनुभावों अथवा अन्य स्थूल आधारों पर व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त पीड़ा कष्ट तथा आनन्दोल्लास को अधिक उपस्थित किया गया है। और इस रूढ़िवादिता की चरम परिणति में ऋतु आदि वर्णनों के अवसर पर राजा और रईसों के ऐश्वर्य-विलास का वर्णन ही प्रमुख हो उठा है। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भावात्मक व्यंजना संबन्धी भेदों की अधिक स्पष्ट रेखा इन तीनों प्रमुख रूपों में नहीं की जा सकती, जिनकी विवेचना की गई है।

क—संयोग और वियोग की स्थिति के अनुसार प्रकृति का उल्लेख मात्र करके विरह-व्यथा अथवा आनन्दोल्लास को प्रकट किया

व्यथा और उल्लास

जाता रहा है। इस काल में इसको अधिक रूढ़िवादी रूप मिला है। प्रकृति के संकेत पर भाव-व्यंजना अधिकतर इन कवियों ने सामञ्जस्य के आधार पर की है, क्योंकि उसमें उक्ति-निर्वाह के लिए अवसर रहता है। इस कवित्त में ग्रीष्म के आधार पर कवि पीड़ा का रूप उपस्थित करता है—

चलति उसास की झकोर घोर चहूँ ओर,
नहीं है समीर जोर मुधा कहैं लोग है।
शोचन की लहरैं न ठहरैं सकोचन ते,
रविकर हाय नहीं श्याम है धुसोग है।"[८४]

इसी प्रकार सेनापति पौष मास के वर्णन में व्यथा का उल्लेख ही अधिक करते हैं—

"बरसैं तुसार बहै सीतल समीर नीर,
कंपमान उर क्योंहू धीर न धरत है।
राति न सिराति बिथा बीतत न विरह की,
मदन अराति जोर जोबन करत है।"[८५]

---

८४ हज़ रा०; हाफ़ि० : गो०, छं० १८

८५ कवि०; सेना : तो० तर० छं० ४८

देव वियोग में व्यथा के अनुभावों का वर्णन प्रकृति को पृष्ठ-भूमि में रखकर करते हैं—

"साँसनि ही सों समीरु गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।
देव जियै मिलिबे ही की आस कि आसहू पास अकास रह्यो भरि।
जादिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि।"[८६]

इस चित्र में केवल अनुभावों का रूप सामने आता है। बिहारी पावस की घटा के माध्यम से नायिका के हाव-भाव का वर्णन आलंकारिक चमत्कार के साथ करते हैं—

"छिनकु चलति ठठकति छिनकु, भुज-प्रीतम गर डारि।
चढ़ी अटा देखति घटा, बिज्जुछटा-सी नारि।।"[८७]

इसमें लुप्तोपमा के द्वारा कवि ने प्रकृति का रूप भी समान चित्र में व्यंजित कर दिया है।

ख—रीति-काल के कवियों ने ऋतु-वर्णनों को दो प्रकार से अधिक अपनाया है। पहले तो इन्होंने प्रकृति को उत्तापक और उत्तेजक रूप में उद्दीपन माना है, जिसका उल्लेख किया गया है। और दूसरे ऋतु के अवसर पर विलास तथा ऐश्वर्य संबन्धी क्रिया-कलापों की योजना की गई है। इससे प्रकृति का कुछ भी संबन्ध नहीं रह जाता। जैसा कहा गया है वैचित्र्य की प्रवृत्ति इन सब रूपों के आधार में क्रियाशील रही है। इसके कारण देव और सेनापति जैसे कवियों में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है। देव की नायिका वसंत के भय से विहार नहीं करने जाती—

विलास और ऐश्वर्य

---

८६ भ.व०; देव : ३

८७ शत०; बि० : दो० ५६९

"देव कहै बिनकन्त बसन्त न जाउँ कहूँ घर बैठि रहौं री।
हूक दिये पिक कूक सुने बिष पुंज निकुंजनी गुंजत भौंरी ॥"[८८]

देव में फिर भी प्रकृति अपनी प्रभावशीलता के साथ उपस्थित है, परन्तु सेनापति ने विलास और ऐश्वर्य्य का अधिक वर्णन किया है। इनमें कहीं ग्रीष्म ऋतु में गरमी से बचने के उपायों का वर्णन है—

"सेनापति अतर गुलाब अरगजा साजि,
सार तार हार मोल लै लै धारियत हैं।
ग्रीषम के बासर बराइबे कौं सीरे सब,
राज-भाग काज साज यौं सम्हारियत हैं ॥

और कहीं ऐश्वर्य्यवानों के क्रिया-कलापों का उल्लेख किया जाता है—

"काम के प्रथम जाम, बिहरैं उसीर धाम,
साहिब सहित बाम घाम बितवत हैं।
नेक होत साँझ जाइ बैठत सभा के माँझ,
भूषन बसन फेरि और पहिरत हैं।"

कहीं ऐश्वर्य्य का वर्णन ही कवि करता है—

"सुन्दर बिराजैं राज-मंदिर सरस ताके,
बीच सुख-देनी सैनी सीरक उसीर की।
उछरैं सलिल जल-जत्र ह्वै बिमल उठैं,
सीतल सुगंध मंद लहर समीर की।"[८९]

इसी प्रकार अन्य ऋतुओं में भी विलास आदि का वर्णन चलता है। सेनापति के समान रीतिकालीन बाद के कवियों ने इस प्रकार के वर्णन अधिक किए हैं। पद्माकर तक के अन्य अनेक कवियों ने इन वर्णनों में अपना कौशल दिखाया है। पद्माकर भी इसी प्रकार वर्णन करते हैं—

---

८८ भाव०; देव : ३

८९ कवि०; सेना० : ती० तरं०, छं० १०, १४, १७ और १८ तरं० २०, ४३, ४८ भी हैं।

"अगर की धूप मृगमद को सुगन्ध वर,
वसन विशाल जाल अंग ढाँकियतु है।"[१०]

यहाँ अन्य कवियों के वर्णनों को प्रस्तुत करना व्यर्थ है, क्योंकि हमारे विषय से इस रूप का विशेष संबन्ध नहीं है।

§२१—प्रकृति को उद्दीपन-विभाव में प्रयुक्त करने का एक माध्यम आरोप कहा गया है। यह आलंकारिक प्रयोग है जिसमें उपमा रूपक अथवा उत्प्रेक्षाओं आदि का आश्रय लिया जाता है। अन्य रूपों के समान आरोप के क्षेत्र में भी रीति परम्परा के कवियों की प्रवृत्ति स्थूलता तथा वैचित्र्य की ओर अधिक है। जिन आरोपों में साम्य भाव-गम्य होता है, उनमें उद्दीपन-रूप सुन्दर है। देव प्रकृति पर नायिका का आरोप करते हैं—

आरोपवाद

"झिल्लिनि सों झहनाइ को किंकिनी बोले सुकी सुक सों सुखदैनी।
कोमल कुंज कपोत के पोत लों कूकि उठे पिकलौं पिक बैनी॥"[११]

इसमें ध्वनि के आधार पर आरोप किया गया है, अगले चित्र में रूपात्मक योजना है—

"नील पट तनु पै घटान सी घुमहि राखौं,
दन्त की चमक सों छटा सी बिचरति हैं।
हीरन की किरनै लगाइ राखे जुगुनूसी,
कोकिला पपीहा पिकबानी सों दरति हैं।"[१२]

कभी कवि पूरी परिस्थिति का रूपक प्रस्तुत करता है। दीनदयाल

---

१० हज़ा०; हाफ़ि० : देस०, छं० २ इसी प्रकार अन्य कवियों के शिर० १६, १५, १३, १८ (ग्वा०), ११, १० (ग्वा०); २०१ (दिवाकर); शरद ११ (नन्दराम); ८ (मंजु)

११ भ व०; देव : ४

१२ हज़ा०; हाफ़ि० : प.वस, ६

पावस पर ऐसा ही आरोप करते हैं—

"पावस मैं नीर दै न छोड़ै छन दामिनी हूँ,
कामिनि रसिक मनमोहन को क्यों तजे।
अचला पुरानी पुलकावली को आनी उर,
धाय रजवती सरि सिंध संग को तजैं।"[९३]

इसी प्रकार का आरोप सेनापति शरद के पक्ष में वियोगनि की स्थिति से करते हैं—

"परे तें तुसार भयो झार पतझार रहौ,
पीरी सब डार सो वियोगी सरसति है।
बोलत न पिक सोई मौन ह्वै रही है आस,
पास निरआस नैंन नीर बरसति है।"[९४]

इन आरोपों के अतिरिक्त वसंत का ऋतुराज के ऐश्वर्य्य में रूपक तथा बादलों का मस्त हाथी का रूपक आदि परम्परा गृहीत आरोपों का प्रयोग इन कवियों ने किया है। इन आरोपों में भी यही उद्दीपन का भाव है। सेनापति ऋतुराज का रूपक इस प्रकार आरम्भ करते हैं—

"बरन बरन तरु फूले उपवन बन,
सोई चतुरंग संग दल लहियत है।"[९५]

इनमें कोई नवीनता प्रकृति के प्रयोग को लेकर नहीं है। दीनदयाल भी इसी प्रकार कहते हैं—

"ललित लता के नव पल्लव पताके सजैं,
बजैं कोकिलान कै तु कलगान के निदान।"[९६]

---

९३ ग्रंथा०; दीन० ऋतु-वर्णन, छं० २१२

९४ कवि०; सेना० : ती तरं० छं० ५६

९५ वही; वही : वही, छं० १

९६ ग्रंथा०; दीन० : ऋतु० से

"अगर की धूप मृगमद को सुगन्ध वर,
वसन विशाल जाल अंग ढाँकियतु हैं।"[१०]

यहाँ अन्य कवियों के वर्णनों को प्रस्तुत करना व्यर्थ है, क्योंकि हमारे विषय से इस रूप का विशेष संबन्ध नहीं है।

§२१—प्रकृति को उद्दीपन-विभाव में प्रयुक्त करने का एक माध्यम आरोप कहा गया है। यह आलंकारिक प्रयोग है जिसमें उपमा रूपक अथवा उत्प्रेक्षाओं आदि का आश्रय लिया जाता है। अन्य रूपों के समान आरोप के क्षेत्र में भी रीति परम्परा के कवियों की प्रवृत्ति स्थूलता तथा वैचित्र्य की ओर अधिक है। जिन आरोपों में साम्य भाव-गम्य होता है, उनमें उद्दीपन-रूप सुन्दर है। देव प्रकृति पर नायिका का आरोप करते है—

आरोपवाद

"झिल्लिनि सों झहनाइ को किंकिनी बोले सुकी सुक सों सुखदेनी।
कोमल कुंज कपोत के पोत लों कूकि उठे पिकलौं पिक बैनी॥"[११]

इसमें ध्वनि के आधार पर आरोप किया गया है, अगले चित्र में रूपात्मक योजना है—

"नील पट तनु पै घटान सी घुमहि राखौं,
दन्त की चमक सों छटा सी बिचरति हैं।
हीरन की किरनै लगाइ राखे जुगुनूसी,
कोकिला पपीहा पिकबानी सों ढरति हैं।"[१२]

कभी कवि पूरी परिस्थिति का रूपक प्रस्तुत करता है। दीनदयाल

---

१० हज़ा०; हाफ़ि० : हेम०, छं० २ इसी प्रकार अन्य कवियों के शिर० २६, २५, १३, १८ (ग्वा०), ११, १० (ग्वा०); २०१ (दिवाकर); शरद ११ (नन्दराम); ८ (मंजु)

११ भ व०; देव : ४

१२ हज़ा०; हाफ़ि० : प.वस, ६

पावस पर ऐसा ही आरोप करते हैं—

"पावस में नीर दै न छोड़ै छन दामिनी हूँ,
कामिनि रसिक मनमोहन को क्यों तजैं।
अचला पुरानी पुलकावली को आनी उर,
धाय रजवती सरि सिंध संग को तजैं।"[१३]

इसी प्रकार का आरोप सेनापति शरद के पक्ष में वियोगनि की स्थिति से करते हैं—

"परे तें तुसार भयो झार पतझार रह्यो,
पीरी सब डार सो वियोगी सरसति है।
बोलत न पिक सोई मौन ह्वै रही है आस,
पास निरजास नैन नीर बरसति है।"[१४]

इन आरोपों के अतिरिक्त वसंत का ऋतुराज के ऐश्वर्य्य में रूपक तथा बादलों का मस्त हाथी का रूपक आदि परम्परा ग्रहीत आरोपों का प्रयोग इन कवियों ने किया है। इन आरोपों में भी वही उद्दीपन का भाव है। सेनापति ऋतुराज का रूपक इस प्रकार आरम्भ करते हैं—

"बरन बरन तरु फूले उपवन वन,
सोई चतुरंग संग दल लहियत है।"[१५]

इनमें कोई नवीनता प्रकृति के प्रयोग को लेकर नहीं है। दीनदयाल भी इसी प्रकार कहते हैं—

"ललित लता के नव पल्लव पताके सजैं,
बजैं कोकिलान कै सु कलगान के निसान।"[१६]

---

१३ ग्रंथा०; दास० ऋतु-वर्णन, छं० २१२

१४ कवि०; सेना० : ती तरं० छं० ५६

१५ वही; वही : वही, छं० १

१६ ग्रंथा०; दीन० : ऋतु० से

इन समस्त वर्णनों में ऐसी रूढ़िवादिता है कि प्रत्येक कवि लगभग समान चित्र उपस्थित करता है। भेद उनके प्रस्तुत करने के उक्ति-वैचित्र्य को लेकर है, इस कारण इस विषय में केवल प्रवृत्ति का संकेत कर देना पर्याप्त है।

नवम प्रकरण

उपमानों की योजना में प्रकृति

§ १—प्रथम भाग के अन्तिम प्रकरण में भाषा की व्यंजना-शक्ति में प्रकृति उपमानों के प्रयोग पर संक्षेप में विचार किया है। यहाँ व्यंजना का अर्थ ध्वनि से संबन्धित न मानकर व्यापक अर्थ में लेना उचित है। पिछली विवेचना में शब्द के ध्वनि बिंब और रूप-बिंब आदि पर विचार किया गया है। और साथ ही यह भी संकेत किया गया है कि प्रकृति का समस्त रूपात्मक सौन्दर्य मानवीय भाव-स्थितियों से संबन्धित है। यही कारण है कि काव्य के प्रस्तुत विषय को बोध-गम्य तथा भाव-गम्य कराने के लिए कवि जब अपनी भाषा में अप्रस्तुत का आश्रय लेता है तो उसे प्रकृति के अपार विस्तार की ओर जाना पड़ता है। इन अप्रस्तुत की योजना के माध्यम से जब कवि प्रस्तुत का वर्णन करता है तो वह आलंकारिक शैली कही जाती है। इस सीमा पर संलक्ष्य-

उपमान या अप्रस्तुत

क्रम-व्यंग्य की चिन्ता किए बिना ही अलंकारों को व्यापक व्यंजना के अर्थ में लिया जा सकता है। वस्तुतः जब तक अलंकारों में कल्पना की अतिरंजना, ऊहात्मक प्रयोग और उक्ति वैचित्र्य को प्रश्रय नहीं मिलता, वे प्रस्तुत को उसके रूप, क्रिया तथा भाव की विभिन्न स्थितियों के साथ अधिक प्रत्यक्ष और व्यक्त करते हैं। यही प्रकृति के अप्रस्तुत रूपों को यहाँ उपमान के रूप में स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत वर्ण्य विषय को जिस संयोग तथा साम्य की आदर्श-सादृश्य भावना के आधार पर अप्रस्तुत प्रकृति-रूपों से व्यंजनात्मक बनाया जाता है, उसे 'उपमान' शब्द से अधिक व्यक्त किया जा सकता है।

प्रकृति में स्थिति

क—इन अप्रस्तुत उपमानों की स्थिति प्रकृति का व्यापक विस्तार है। प्रथम भाव के चतुर्थ प्रकरण में प्रकृति के सौन्दर्य के विषय को स्पष्ट किया गया है। उसी के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रकृति-सौन्दर्य में मानवीय दृष्टि अपने जीवन के अनुरूप, क्रिया तथा भावों का संयोग स्थापित कर लेती है। इसके लिए कवि अथवा कलाकार को विशेष भावस्थिति की ही आवश्यकता नहीं है। साधारण व्यक्ति भी अपने मन की अवचेतन स्थिति में इन संयोगों को स्थापित कर लेता है। प्रकृति की दृश्यात्मक सीमा में रूप-रंगों की कल्पनाएँ सन्निहित हैं, साथ ही आकार-प्रकार का अनुपात भी विभिन्न प्रकार से फैला हुआ है। उनमें व्यापारों का अनेक परिस्थितियों में विस्तार है और उसकी चेतना और गति में मानवीय भावों की समानान्तरता है। इसके अतिरिक्त मानव ने अपने जीवन के सम्पर्क से प्रकृति के विभिन्न छायातपों को अपनी विषम भाव-स्थितियों के संयोग पर भी उपस्थित किया है। इन समस्त स्थितियों के विकास पर प्रथम भाग में विचार किया गया है। यही समस्त प्रकृति का प्रस्तुत उपमान की स्थिति है। प्रकृति के उपमान अपनी इस स्थिति में अनेक संयोगों में उपस्थित हैं जो मानवीय जीवन से सादृश्य रखते हैं। वस्तुतः इस क्षेत्र में साम्य का 'सादृश्य' अर्थ लिया जा सकता है।

ख—प्रकृति के संबन्ध में कवि की विशेष दृष्टि का उल्लेख भी किया गया है। इसी शक्ति से कवि प्रकृति सौन्दर्य की वस्तु-स्थितियों, क्रिया स्थितियों तथा भाव स्थितियों से परिचित है और अपने काव्य में इनका संयोग-सादृश्य के आधार पर प्रयुक्त भी करता है। जब प्रकृति अप्रस्तुत है उस समय प्रस्तुत वर्ण्य मानव की परिस्थिति तथा भावस्थिति होगी। कवि अपनी कल्पना से इन सादृश्य रूप प्रकृति उपमानों को प्रस्तुत करता है। लेकिन इस अभिव्यक्ति के व्यापार में कवि की कल्पना प्रधान है, इसलिए उपमानों का यह प्रदर्शन एक योजना के रूप में ही आता है। इस काल्पनिक अथवा कलात्मक योजना का अर्थ है प्रकृति-उपमानों को व्यंजक और प्रभावशील स्थिति में प्रस्तुत करना। परन्तु कवि उन उपमानों की योजना में आगे बढ़ता है, स्वतःसम्भावी आधार को अतिक्रमण कर अपनी प्रौढ़ोक्ति का आश्रय लेता है। परन्तु इस सीमा पर भी आलंकारिक प्रयोगों में उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक आदि में उपमानों की योजना सुन्दर और भाव व्यंजक हो सकती है। लेकिन जब कवि का वर्ण्य-विषय वैचित्र्य ही होगा, उसके लिए अलंकार ही प्रधान हो उठेगा तो उपमानों में कवि कल्पना का सादृश्य-धर्म उपस्थित नहीं हो सकेगा। वस्तुतः प्रकृति उपमानों की योजना का आदर्श सादृश्य है, इसी सीमा तक कवि तो अपनी अभिव्यक्ति में प्रकृति का साम्य और संयोग सौन्दर्य प्रदान करता है। जब कवि इन उपमानों को प्रकृति के वास्तविक सौन्दर्य से अलग करके अपनी विचित्र कल्पना में, कार्य-कारण शृंखला, हेतुओं और संबन्धों की योजना में प्रस्तुत करता है, उस समय उपमानों का सादृश्य भावना कुंठित हो जाती है। ऐसे प्रयोगों में उपमान का वाचक शब्द केवल वस्तु का संकेत करता है, किसी प्रकार बिंब नहीं ग्रहण करता। प्रकृति से अलग किए उपमान अपनी किसी भी योजना में काव्य के उत्कर्ष का कारण नहीं हो सकते।

§ २—प्रकृति से ग्रहीत उपमानों के मूल में निश्चय ही सादृश्य की भावना रही है। इन उपमानों का इतिहास मानव और प्रकृति के संबन्धों का इतिहास है। परन्तु जिस प्रकार काव्य में अन्य परम्पराएँ प्रमुख कवि के अनुसरण करने वाले कवियों में चलती रहती हैं, यही स्थिति इनके विषय में भी है। इस परम्परा के प्रवाह में प्रकृति के उपमान अपनी प्रस्तुत स्थिति के आधार से हटकर केवल अप्रस्तुत होते गये हैं। इस रुढ़िवाद में उपमानों की सादृश्य-भावना भी कम होती गई, क्योंकि उपमानों का प्रकृति के सीधा संवन्ध न रहकर रुढ़ि और परम्परा से हो गया। इनके साथ ही अलंकारों के वैचित्र्य-कल्पना संबन्धी विकास में ये उपमान अपने मूल स्थान में और भी दूर पड़ते गए। परिणाम स्वरूप उपमानों की योजना रूपात्मक और भावात्मक सौन्दर्य उपस्थित करने के स्थान पर एक रूपात्मक रुढ़ि (formal) का प्रयोग रह गई जिससे अधिक अंशों में ऊहा और वैचित्र्य की प्रवृत्ति को तोष मिलता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वाद के सभी कवि इन उपमानों का प्रयोग इसी परम्परा के अनुसार करते हैं। प्रकृति में स्थित सौन्दर्य्य रूपों का प्रसार तो सदा ही रहता है और कवि इन रूपों तथा स्थितियों के आधार पर नवीन कल्पनाएँ कर सकता है और करता भी है। परन्तु नवीन उपमानों की कल्पना अधिकतर प्रतिभा सम्पन्न कवियों ने भी नहीं की है; इसका भारतीय साहित्य में एक कारण रहा है। उपमानों की योजना के लिए तीन प्रमुख बातों की आवश्यकता है : कवि की अपनी प्रकृति संवन्धी कल्पना, युग विशेष की प्रकृति के सवन्ध की सीमा और पाठक की प्रकृति से संवन्धित मनःस्थिति। इन तीनों का उपमानों के प्रयोग के विषय में महत्त्व है। वस्तुतः इसी आधार पर भारतीय आदर्श ने प्रसिद्ध उपमानों को ही स्वीकृत किया है। और यही कारण है संस्कृत के विशाल साहित्य

उपमान और रूपात्मक रूढ़िवाद

में उपमानों की संख्या सीमित की गई है। परन्तु प्रसिद्ध उपमानों की योजना करने के लिए कवि स्वतंत्र रहे हैं। प्रतिभा सम्पन्न कवि अपनी स्वानुभूति के आधार पर इनका सुन्दर प्रयोग करता है; परन्तु अन्य कवि इन्हीं के माध्यम से विचित्र्य कल्पनाएँ प्रस्तुत करते हैं।

मध्ययुग की स्थिति

§ ३—इसी भाग के द्वितीय प्रकरण में कहा गया है कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के काव्य में स्वच्छंदवादी प्रवृत्तियों का योग हुआ है और साथ प्रतिक्रियात्मक शक्तियों ने इसके विकास का मार्ग अवरुद्ध किया है। इसी आधार पर हम इस युग के काव्य में प्रयुक्त उपमान-योजना पर विचार कर सकते हैं। जिस सीमा तक इस काव्य में उन्मुक्त वातावरण है, उस सीमा तक उपमानों की योजना के विषय में भी कवियों की प्रवृत्ति स्वतंत्र है और इस स्वतंत्रता का उपयोग भी कवियों ने दो प्रकार से किया है। जो कवि पूर्ण रूप से उन्मुक्त हैं, उनमें प्रकृति उपमानों की नई उद्भावना भी मिलती है, यद्यपि पूर्ण रूप से साहित्यिक प्रभाव से मुक्त काव्य हमारे सामने नहीं है। इस परम्परा में लोक कथा-गीतियों, प्रेम कथा-काव्यों तथा संत-काव्य को हम ले सकते हैं। पिछली विवेचनाओं में कहा गया है कि इनमें भी किसी न किसी प्रकार की रूढ़ियों का अनुसरण अवश्य है; इसका कारण इनमें साहित्दिक तथा साधनात्मक रूढ़ियों से संबन्धित उपमानों की योजना भी अधिक मिलती है। परन्तु इनके मध्य में स्वतंत्र उपमानों की योजनाओं को भी स्थान मिल सका है और परम्परागत उपमानों का प्रयोग भी नवीन उद्भावना के साथ किया गया है। इन काव्यों में लोक कथा-गीति 'ढोला मारूरा दूहा' का वातावरण सबसे अधिक मुक्त है। दूसरी प्रकार की स्वतंत्रता प्रचलित उपमानों की योजना को स्वानुभूति के आधार पर करने की है। इसका प्रयोग ऊपर की परम्पराओं में तो मिलता ही है, (वैष्णव) भक्त कवियों में भी पाया जाता है। इन वैष्णव कवियों पर साहित्यिक आदर्श का अधिक प्रभाव है, पर इनमें

सूर तथा तुलसी जैसे प्रतिभावान् कवियों ने अपनी स्वानुभूति मे उपमानों को प्रस्तुत किया है। लेकिन इनके काव्य में साहित्यिक परम्पराओं का भी रूप बहुत अधिक है। इस कारण समस्त काव्य में एक विरोधात्मक विचित्रता पाई जाती है। एक कवि के काव्य में ही कहीं सुन्दर स्वाभाविक प्रयोग हैं तो कहीं केवल रूढ़ि-पालन। परन्तु इनकी परिस्थिति को समझ लेने से यह प्रश्न सरल हो जाता है। इन परम्पराओं के अतिरिक्त उपमानों के प्रयोग के विषय में एक तीसरी परम्परा रीति संबंधी है। इस परम्परा में रूढ़ि का रूप अधिक प्रमुख है, साथ ही इसमें प्रकृति उपमानों को त्यागने की प्रवृत्ति भी बढ़ती गई है। संस्कृत काव्य के उपमानों संबन्धी रूढ़िवाद को प्रमुखतः केशव और पृथ्वीराज ने अपनाया है। अन्य रीति-काव्य के कवियों में एक परम्परा रसवादियों की है जिसने अधिकतर मानवीय भावों, अनुभावों और हावों में अपने को उलझाए रखा है। इनके लिए प्रकृति के उपमानों का प्रयोग अधिक महत्त्व नहीं रखता है, कारण यह है कि इन भावों के विषय में भी इनकी प्रवृत्ति स्वाभाविकता से अधिक चमत्कार की रही है। भावों की व्यंजना के स्थान पर इन कवियों में अनुभावों तथा हावों का अधिक आकर्षण है, इसलिए भाव-व्यंजना के लिए प्रकृति का प्रयोग यत्र-तत्र ही हुआ है। दूसरी परम्परा अलंकारवादियों की है और इनमें जैसा कहा गया है प्रमुख प्रवृत्ति उक्ति-वैचित्र्य की है। इसके कारण प्रकृति उपमानों का प्रयोग इन कवियों में अपनी सादृश्य-भावना से दूर पड़ गया है।

§४—वस्तुतः अप्रस्तुत के रूप में उपमानों का विषय अलंकार का है। मध्ययुग के काव्य के व्यापक विस्तार में इस विषय में अपने आप में पूर्ण काव्य का क्षेत्र है। संस्कृत काव्य के प्रयोगों से इसका तुलनात्मक अध्ययन तथा आलंकारिक प्रवृत्ति के विकास में इसका रूप प्रस्तुत करने के लिए अधिक खोज की आवश्यकता है। प्रस्तुत कार्य की सीमाओं में इस प्रकार की

विवेचन की सीमा

विवेचना के लिए न तो स्थान है और न वह आवश्यक ही है। इस कारण यहाँ उपमानों के विचार से विभाजित काव्यों के प्रकृति उपमानों की योजना का रूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस प्रस्तुतीकरण में इस बात का ध्यान रखा गया है कि काव्यगत उपमानों की विशेष प्रवृत्तियों का रूप स्पष्ट हो सके। साथ ही इस विवेचना के आधार पर उपमानों के प्रयोग की दृष्टि से विभिन्न काव्य-परम्पराओं का भेद भी स्पष्ट हो सकेगा।

स्वच्छंद उद्भावना

§ ५—जिन काव्यों में उपमानों के प्रयोग की दृष्टि से उन्मुक्त वातावरण मिला है, उनमें लोक कथा-गीति, प्रेम कथा-काव्य और संतों का काव्य आता है। लोक कथा गीति 'ढोला मारू' में वातावरण साहित्यिक आदर्शों से अधिक स्वतंत्र है इस कारण इसमें उपमानों के अधिक नवीन प्रयोग हुए हैं। प्रेम कथा-काव्यों में यहाँ जायसी के 'पद्मावत' को ही ले रहे हैं। जायसी इस परम्परा के प्रमुख कवि हैं, इस कारण इनके माध्यम से इसकी प्रवृत्ति का अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। जायसी का कथानक स्वच्छंद रहा है, परन्तु उन्होंने अनेक साहित्यिक आदेश तथा रूढ़ियों को स्वीकार किया है। प्रकृति के उपमानों की योजना के विषय में भी यह सत्य है। जायसी ने यदि उपमानों की उद्भावना मौलिक स्वच्छंद प्रवृत्ति से की है, तो उनके प्रयोगों का बड़ा भाग परम्परा से ग्रहीत है। इन प्रसिद्ध उपमानों की योजना में कवि ने अधिक सीमा तक अपने अनुभव से काम लिया है। लेकिन 'पद्मावत' में अनेक रूढ़िवादी प्रयोग हैं। संतों ने प्रेम तथा सत्यों का उल्लेख करने के लिए प्रकृति से उदाहरण तथा रूपक प्रस्तुत किए हैं। इन प्रयोगों में अनुभव के साथ कुछ स्थलों पर मौलिकता जान पड़ती है।

सामान्य प्रवृत्ति

इन काव्यों के उपमानों की विशेष प्रवृत्ति भावात्मक व्यञ्जना और

सत्यों के दृष्टान्तों को प्रस्तुत करने की है। इनमें रूपात्मक चित्र-मयता को स्थान नहीं मिल सका। संतों के विषय में रूप का कोई प्रसंग नहीं उठ सकता। प्रेमी कवियों की सौन्दर्य्य कल्पना में इसी बात की ओर संकेत किया गया है। इनमें रूपात्मक उपमानों का प्रयोग अधिकतर परम्परा ग्रहीत है और उनके माध्यम से भावात्मक व्यंजनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। 'ढोला मारूरा दूहा' के उपमानों के विषय में भी यही बात लागू है। इसमें उपमानों का प्रयोग रूपात्मक वस्तु, स्थिति अथवा परिस्थिति के लिए नहीं हुआ है। इस व्यापक प्रवृत्ति का एक कारण है। इन काव्यों के उन्मुक्त वातावरण में भावात्मक अभिव्यक्ति के अवसर अधिक हैं। लोक-गीति की अभिव्यक्ति में कहा गया है, वस्तु तथा स्थितियों का आधार सूक्ष्म रहता है। इसलिए इनमें किसी वस्तु-स्थिति को प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता कम पड़ती है। इनमें नायक तथा नायिका एक दूसरे के सामने इतने व्यस्त रहते हैं कि उनके रूप की स्थापना करने की आवश्यकता भी लोक-गीतिकार को नहीं होती। संतों का आराध्य अव्यक्त है, उनका संबन्ध भावात्मक है, उनके लिए वस्तु-स्थिति की सीमाएँ अमान्य हैं; फिर उनको भी उपमानों की रूपात्मक योजना की आवश्यकता नहीं हुई। प्रेम कथाकार की रूप-कल्पना के विषय में आध्यात्मिक साधना के प्रसंग में विस्तार से कहा गया है और वस्तु-स्थिति उत्पन्न करने के स्थलों पर भावात्मक व्यंजना प्रस्तुत करने की उनकी प्रवृत्ति आध्यात्मिकता के साथ ही लोक-भावना के अनुरूप है। इन्हीं कारणों से इन काव्यों के उपमानों की स्वच्छंद उद्भावना में भावात्मक व्यंजना ही अधिक हुई है।

§६—इस कथा गीति में, जैसा कहा गया है, रूपात्मक प्रकृति उपमानों का अभाव है। यदि एक दो स्थानों पर इस प्रकार के प्रयोग

ढोला मारूरा दूहा

किए गए हैं तो वे भी भावात्मक व्यंजना से संबन्धित हैं। वियोगिनी की वेणी को यदि नागिन

कहा गया है तो प्रिय को स्वाति जल मान कर भावात्मक संबन्ध की कल्पना करली गई है।[1] प्रेयसी के लिए मुरझाई कमलिनी और कुमुदिनी के रूपक देकर कवि रूप से अधिक भाव को व्यक्त करता है और सूर्य-चन्द्र से उनका संबन्ध स्थापित करने में यही भाव है। एक स्थल पर नायिका की गरदन की उपमा कूँज के बच्चे की लंबी गरदन से दी गई है, परन्तु इसमें प्रतीक्षा का कारण सन्निहित किया गया है।[2] रूप-वर्णन के प्रसंग में परम्परागत उपामानों का उल्लेख मात्र कर दिया गया है उसमें किसी प्रकार की चित्रात्मक योजना नहीं है।[3] स्वतन्त्र प्रवृत्ति के कारण इस काव्य में उपमानों की योजना सरल अलंकारों तक ही सीमित है। रूपक तथा उपमा का प्रयोग अधिक हुआ है, एक दो स्थलों पर उत्प्रेक्षा का प्रयोग मिलता है। इनके अतिरिक्त प्रेम आदि को व्यक्त करने के लिए प्रकृति से दृष्टान्त चुने गए हैं जो कभी कभी प्रतिवस्तूपमा तथा अर्थान्तरन्यास में प्रस्तुत हुए हैं।

क—यहाँ मौलिक से यह अर्थ नहीं लिया जा सकता है कि ऐसी कल्पना अन्यत्र नहीं मिलती है, क्योंकि जब तक समस्त काव्य सामने उपस्थित न हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसका अर्थ यह है कि साहित्यिक परम्परा में उनका प्रयोग प्रचलित नहीं रहा है, साथ ही वे लोक-गीति के वातावरण के उपयुक्त हैं। इनमें से कुछ का प्रयोग भावों के शारीरिक अनुभावों तथा अन्य आधारों को व्यक्त करने के लिए हुआ है। इस चित्र में मोर और कलियों से यौवन के विकास का रूप दिया गया है—

मौलिक उपमानों की कल्पना

---

१ ढ.मा० : दो० १२५

२ वही : दो० १२९, १३०, २०४

३ इन उपमानों की सूची इस प्रकार है—अधर; मूँगा : दाँत; हीरा,

"ढाढी, एक सँदेसड़उ ढोलइ लग्गि लइ जाइ।
जोबन-चाँपउ मउरियउ कली न चुट्टइ आइ॥"[4]

दूसरे स्थान पर कुंझों के शब्द से विरहिणी के नयनों में आँसुओं का सरोवर लहरा जाता है। इसमें सरोवर के माध्यम से उमड़ते अश्रुओं के साथ उच्छ्वसित हृदय का भाव भी है।[5] परन्तु इस काव्य में भावों को व्यक्त करने के लिए प्रकृति के अप्रस्तुत रूपों का अधिक प्रयोग हुआ है। राजस्थानी गायक ने कुरर पक्षी का विशेष नाम लिया है; उसके माध्यम से वह प्रेम और स्मरण को व्यंजित करता है—'कुंझ चुगती है और फिर अपने बच्चों की याद करती है, चुग चुग कर फिर याद करती है। इस प्रकार कुंझ अपने बच्चों को छोड़कर दूर रहते हुए उनको पालती है।' अगले चित्र में लुप्तोपमा से भाव व्यंजना की गई है—

'ढोला वलाव्यउ हे सखी झीणी ऊडइ खेह।
हियड़उ बादल छाइयउ नयण टबूकह मेह।"

इसमें वेदना का बादल है और अश्रु मेह हैं। एक स्थान पर प्रकृति संबन्धी क्रियाओं का आरोप भाव के साथ हुआ है—'जो मनोरथ

वर्ं : गति; हाथी, हंस : जंघ; कदली : दंत; हीरा, दाड़िम : नासिका; कीर : नेत्र; खंजन; कबूतर के समान लालिमा (डोरे) : भ्रकुटि; भ्रमर, वंक चन्द्र मस्तक; चन्द्रमा : मुख; चन्द्र, सूर्य (कान्ति) : रंग; कुंकुम, कुंभ के बच्चे का : वाणी; वीणा ध्वनि, कोकिल, द्राक्षा (मधुर बोल) : हस्त; कमल : पूर्ण आकार विलुब्ध सिंह : सरोवर में हंस; मौर कुम्हलाने का (भाव), केले का गूदा (कोमलता)

४ दो० १२० [हे ढाढी, एक सँदेसा ढोला तक ले जाओ—यौवन-रूपी चंपा मौर-युक्त हो गया है। तुम आकर कलियाँ क्यों नहीं चुनते]

५ वही : दो० ५४, और १२५ मे इसी प्रकार विरहिणी को कनेर को छड़ी के समान सूखी हुई बताया गया है।

सूखे थे वे पल्लवित होकर फल गए।'[६] इसी प्रकार दृष्टान्त आदि के माध्यम से प्रकृति भाव-स्थितियों का संकेत देती है—'फूलों में फलों के लगने पर और मेहों के पृथ्वी पर पड़ने पर प्रतीति होती है, उसी प्रकार हे परदेशी, तुम्हारे मिलन पर ही मैं पतियाऊँगी।' इसमें मिलन-प्रतीति के द्वारा विकलता की व्यंजना है। इसी प्रकार प्रेम-निर्वाह का दृष्टान्त है—'जिस प्रकार मेढ़क और सरोवर, एवं पृथ्वी तथा मेघ स्नेह निभाते हैं, उसी प्रकार हे प्यारे, चंपकवर्णा प्रेयसी के साथ स्नेह निभाइए।'[७]

ख—'ढोला मारूरा दूहा' में परम्परा के प्रसिद्ध उपमानों का प्रयोग भी स्वच्छंद भावना के साथ किया गया है, इसी कारण उनमें रूढ़ि के स्थान पर स्वाभाविकता अधिक है। कवि प्रसिद्धि के अनुसार चातक का प्रेम प्रख्यात है, पर कवि उत्प्रेक्षा देता है कि 'मारवणी ही मरकर चातक हो गई है और 'पिउ पिउ' पुकारती है।' एक स्थान पर मछली की अप्रस्तुत भावना कवि व्यक्त करता है—'ढाढियों ने रात्रि भर गाया और सुजान साल्ह कुमार ने सुना—छिछले पानी में तड़पती हुई मछली की तरह तड़पते हुए उसने प्रभात किया।' एक स्थल पर एकान्त प्रेम को प्रस्तुत किया गया है—'कुमुदिनी पानी में रहती है और चन्द्रमा आकाश में, परन्तु फिर भी जो जिसके मन में बसता है वह उसके पास रहता है।'[८]

परम्परा की सुन्दर उद्भावना

§७—प्रेम कथा-काव्य में जैसा कहा गया है उपमानों के स्वतंत्र तथा रूढ़िवादी दोनों रूप मिलते हैं। रूप-वर्णन के विषय में प्रयुक्त

---

६ : वही : दो० २०२, ३६०, ५३३

७ वही : दो० १७२, १६८

८ वही : दो० ३७, १३२, २०१

उपमानों की योजना का विस्तार आध्यात्मिक प्रसंग में किया गया है और उनकी प्रभावशीलता का भी उल्लेख हुआ है। इन काव्यों में भावव्यंजना के लिए उपमानों का अधिक प्रयोग हुआ है, या सत्य कथन के लिए दृष्टान्त, अर्थांतरन्यास आदि के रूप में। पहले प्रयोग में प्रकृति रूपों और स्थितियों में सन्निहित मानवीय भावों के समानान्तर भाव-व्यंजना का आश्रय लिया गया है और दूसरे में कार्य्य-करण तथा परिणाम आदि का आधार है। जायसी प्रेम समुद्र का रूपक प्रस्तुत करते हैं—

भ.व-व्यंजक उपमान

"परा सो प्रेम-समुद्र अपारा। लहरहिं लहर होइ विसँभारा।
विरह-भौंर होइ भाँवरि देइ। खिन खिन जीउ हिलोरा लेइ।"[९]

इसमें समुद्र, लहर, भँवर आदि की अप्रस्तुत-योजना से भावाभिव्यक्ति हुई है, इनमें रूपात्मक सादृश्य का कोई आधार नहीं है। अन्यत्र एक योजना व्यापक होने के कारण आध्यात्मिक प्रेम को प्रस्तुत करती है, परन्तु नेत्रों का कौड़िल्ला नामक पक्षी का रूपक मौलिक तथा स्वाभाविक है—

"सरग सीस धर धरती, हिया सो प्रेम-समुंद।
नैन कौड़िया होइ रहैं, लेइ लेइ उठहिं सो बुंद॥"[१०]

इसमें भावों की व्यंजना के लिए व्यंग्यार्थ का आश्रय लेना पड़ता है। नेत्र जो प्रेम के आलंबन से सौन्दर्य्य का रूप ग्रहण करते हैं यहाँ वे उसे हृदय के प्रेम में पाते है। नागमती-वियोग प्रसंग में वियोग और प्रेम को व्यक्त करने के लिए कवि ने सहज जीवन से सबन्धि उपमानों को लिया है—

---

९ ग्रंथ०; जायसी : पद०, ११ प्रेम-खंड, दो० १

१० वही : वही; : वही १३ राजा-गजपति-संवाद-खंड, दो० ४, इसी प्रकार 'विरिनि परेव.' का प्रयोग ३० नागमती-वियोग-खंड, दा, १३' में है।

"सरवर-हिया घटत निति जाई। टूक टूक होइ कै बिहराई।
बिहरत हिया करहु पिउ टेका। डीठि-दवगरा मेरवहु एका।
कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गएउ सुखाइ।
अबहुँ बेलि फिरि पलुहै, जौ पिउ सींचै आइ॥"[११]

इस रूपकात्मक योजना में सरोवर का घटना, उसका 'बिहराना', दँवगरा (प्रथम वर्षा) तथा पलहाना (नवांकुरित होना) आदि प्रकृति की क्रिया से संबन्धित उपमान है। इन स्वतंत्र उपमानों की योजना से कवि ने प्रेम, विरह, व्यथा तथा मिलनाकाँक्षा की व्यंजना एक साथ की है। एक स्थल पर जायसी यौवन के आन्दोलन को समुद्र के माध्यम से व्यक्त करते हैं—

"तोर जोबन जस समुद हिलोरा। देखि देखि जिउ बूड़े मोरा।"

इसमें विभावना के द्वारा अत्यंत आकर्षण की बात कही गई है। अन्य अनेक उत्प्रेक्षाओं का उल्लेख रूप-वर्णन के अन्तर्गत हुआ है जिनसे अनंत सौन्दर्य तथा प्रेम आदि व्यक्त किया गया है। यहाँ तो केवल इस बात को दिखाने का प्रयास किया गया है कि जायसी ने उपमानों की स्वतंत्र उद्भावना की है और इनमें उपमानों के क्षेत्र में उन्मुक्त वातावरण मिलता है।

दृष्टांत आदि

क—जायसी ने प्रेम तथा अन्य सत्यों के लिए प्रकृति से दृष्टान्त आदि प्रस्तुत किए हैं। इन प्रयोगों में रूप अथवा भाव का आधार तो नहीं रहता परन्तु प्रकृति की विभिन्न स्थितियों के संबन्ध की कल्पना होती है। इस कारण इनको भी उपमानों के अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है। इस क्षेत्र में जायसी में स्वतंत्र प्रवृत्ति मिलती है, यद्यपि परम्परा और साधना का प्रभाव इन कवियों पर पूर्णतः है। जायसी परम्परा प्रसिद्ध मीन और जल के प्रेम का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

---

११ वही, वही : वही. ३० नागमती-वियोग-खंड, दो० १४

"बसै मीन जल धरती, अंबा बसै अकास।
जौं पिरीत पै दुवौ महँ, अंत होहिं एक पास ॥"[१२]

एकान्त प्रेम को कमल और सरोवर के द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

"सुभर सरोवर हंस चल, घटतहि गए बिछोह।
कँवल न प्रीतम परिहरै, सूखि पंक बरु होय ॥"[१३]

इस प्रकार अन्य रूपों का उल्लेख, साधना के प्रसंग में किया गया है। जायसी तथा इस परम्परा के अन्य अनेक कवियों ने रूढ़िवादी रूपों का प्रयोग अधिक किया है, वरन इन पर फ़ारसी ऊहात्मक वैचित्र्य कल्पनाओं का प्रभाव रहा है। इसका प्रभाव इन कवियों पर इनकी स्वतंत्र प्रवृत्ति के कारण अधिक नहीं पड़ सका, परन्तु रीति कालीन कवियों ने इसे अधिक ग्रहण किया है।

संतों के प्रेम तथा सत्य संबन्धी उपमान

§ ८—संत साधकों पर किसी प्रकार का साहित्यिक प्रभाव नहीं था, और न इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति में किसी सीमा का प्रतिबन्ध स्वीकार किया है। फिर भी प्रचलित अनेक उपमानों को रूपकों, दृष्टान्तों और उपमाओं में इन्होंने ग्रहण किया है। इन सब का प्रयोग इन्होंने किसी परम्परा की रूढ़ि के रूप में न करके स्वतंत्र किया है। साधना संबन्धी विवेचना में इनका संकेत किया गया है। साथ ही इन सभी संतों ने लगभग एक प्रकार के उपमानों को लिया है। इस कारण यहाँ गिना देना ही पर्याप्त है। संतों ने प्रेम के लिए बादल, बेल, कुंभ पक्षी, पपीहा, मीन, सरिता, कमल, भ्रमर, सूर्य, चन्द्र, कुमुदिनी, कस्तूरी मृग, सागर, चातक, लहर, हंस आदि के विभिन्न प्रयोग किए हैं। सत्यों को प्रस्तुत करने के लिए कोयल, तारा-सूर्य, तरुवर-छाया, खजूर, हाथी, कौआ, बगुला-छीलर, पतंग

---

१२ वही; वही : वही १९ पद्मावती-सुआ-भेंट खंड, दो० ८

१३ वही; वही : वही, ३५ चित्तौर-आगमन-खंड दो० १०

आदि का उपयोग किया गया है। यह कोई विभाजन की रेखा नहीं है, केवल प्रमुख रूप से प्रयोग की बात है।

कलात्मक योजना

§ ६—वैष्णव भक्त कवियों की उपमान-योजना संबन्धी प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है। इन कवियों में कवित्व प्रतिभा के साथ प्रकृति सौन्दर्य-स्थितियों का निरीक्षण भी था। इन्होंने प्रकृति उपमानों की अनेक नवीन योजनाएँ प्रस्तुत की हैं, इससे इनकी कलात्मक प्रवृत्ति का पता चलता है। इन कवियों में प्रमुख विद्यापति, सूरदास तथा तुलसीदास माने जा सकते हैं क्यों बाद के कवियों में विशेष प्रतिभा नहीं है। साहित्यिक आदर्श इनके सामने हैं, परन्तु इन्होंने उपमानों की योजना अपनी प्रतिभा तथा अनुभूति के माध्यम से प्रस्तुत की है। परम्परा तथा रूढ़ि का रूप भी इनमें अधिक है, परन्तु इनकी प्रमुख प्रवृत्ति आदर्श कलात्मक योजना कही जा सकती है। रूप-वर्णन के संबन्ध में इन कवियों की उपमान योजनाओं पर विचार किया गया था। उसमें उत्प्रेक्षा के माध्यम से वस्तु-रूप तथा क्रीड़ात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पर विचार हुआ है। यहाँ इन तीनों कवियों के कुछ उदाहरण अन्य स्थलों से प्रस्तुत करना उचित होगा।

क—विद्यापति के सौन्दर्य तथा यौवन चित्रण के विषय में उपमानों का संकेत किया गया है। एक सौन्दर्य स्थिति कवि इस प्रकार व्यक्त करता है—'हथेली पर रखा हुआ मुख ऐसा लगता है जैसे अपने किशलय से कमल मिला हुआ है।' यह रूपात्मक स्थिति सौन्दर्य का उत्कृष्ट उदाहरण है।

विद्यापति

स्फुरित यौवन सौन्दर्य को कवि इस प्रकार प्रस्तुत करता है—'अंक में सोती हुई राधा का जब कृष्ण आलिंगन करते हैं तो लगता है मानों नवीन कमल पवन से आकुल होकर भ्रमर के पास हो।'

इस उत्प्रेक्षा में भी एक स्थिति का क्रीड़ात्मक चित्र प्रस्तुत है। व्यापार-स्थिति का इसी प्रकार दूसरा चित्र है—'नायिका नायक के पास नहीं-नहीं करती काँप उठती है, जिस प्रकार जल में भ्रमर के झकझोरने से कमल हिल जाता है।' कवि सौन्दर्य्यमय 'शरीर की झलक को बिजली तरंग का रूप देता है।[14] कवि भावात्मक व्यंजना के लिए भी उपमानों का आश्रय लेता है।—'उसके शरीर को देख कर मन कमल-पत्र हो गया, इसमें रूप सौन्दर्य्य से भावात्मक व्यंजना की गई है। कंप अनुभाव को प्रस्तुत करने के लिए कवि कहता है—'रस प्रसंग में वह काँप-काँप उठती है, मानों बाण से हरिणी काँप उठी हो।' प्रकृति उपमानों की सौन्दर्य्य योजना से प्रेम-व्यंजना करना इस प्रकार के काव्य का चरम है। हम देख चुके हैं कि इस क्षेत्र में प्रेम कथा-काव्य का नाम लिया जाता है: वैसे मध्ययुग की यह प्रवृत्ति नहीं है। विद्यापति भी एक स्थल पर कहते हैं—मन में कितने-कितने मनोरथ उठते हैं, मानों सिंधु में हिलोर उठती हों।'[15] विद्यापति दृष्टान्त स्वाभाविक ही देते हैं—'जिस प्रकार तेल का बिन्दु पानी पर फैलता जाता है उसी प्रकार तुम्हारा प्रेम है।' आगे फिर प्रेम विकास की बात कही गई है। 'यह प्रेम तरु बढ़ गया है इसका कारण कुछ भी नहीं है; शाखा पल्लव आदि होने पर कुसम होते हैं और उसकी सुगन्ध दशो दिशाओं में फैल जाती है।'[16]

ख—सूर की सौन्दर्य्योपासना में अनेक प्रकृति-उपमानों के प्रयोगों के विषय में विचार किया गया है। इस कारण विस्तार में जाना व्यर्थ है। इनकी प्रवृत्ति स्पष्ट है। एक स्थिति को कवि इस प्रकार प्रत्यक्ष करता है—

सूरदास

१४　पदा०; विद्या० : पद ६९२, २०९, १४८, ५५

१५　वही : वही पद ६१, १६५　२५७

१६　वही; वही : पद ७०४, ४३९

"रथते उतरि चक्रधरि कर प्रभु सुभट हि सम्मुख धाए।
ज्यों कंदर ते निकसि सिंह झुकि गज यूथनि पर धाए ॥"

दूसरी स्थिति की उद्भावना भी कवि इस प्रकार करता है—'धनुष के टूटने से राजा इस प्रकार छिप गए जैसे प्रातः तारागण विलीन हो जाते हैं।' सूर मन की अभिलाषा को तरंग के समान कहते हैं।[१७] एक स्थल पर सूर सुन्दर भाव-व्यंजना प्रस्तुत करते हैं—

"जीवन जन्म अल्प सपनों सौ,
समुझि देखि मन माहीं।
बादर छाँह धूम धौरहरा,
जैसे थिर न रहाहीं ॥"[१८]

सूर प्रकृति के माध्यम से सत्यों का कथन भी अच्छे ढंग से करते हैं—'समय पाकर वृक्ष फलता फूलता है; सरोवर भर जाता है और उमड़ता है, और फिर सूख जाता है, उसमें धूल उड़ने लगती है। द्वितीया चन्द्रमा इसी प्रकार बढ़ता बढ़ता पूर्ण हो जाता है और घटता-घटता अमावस्या हो जाता है। इस कारण संसार की संपदा तथा विपदा दोनों में किसी को विश्वास नहीं करना चाहिए।'[१९] सूर ने प्रेम के दृष्टान्त में प्रकृति के प्रचलित रूपों को प्रस्तुत किया है—

"भौरा भोगी बन भ्रमै मोद न मानै ताप।
सब कुसमनि मिलि रस करै कमल बँधावै आप ॥
सुनि परमित पिय प्रेम की चातक चितवन पारि।
घन आशा दुख सहै अन्त न यांचै वारि ॥
देखो करनी कमल की कीनो जल से हेत।
आशा तजो प्रेम न तजो सुख्यो सरदि समेत ॥

१७ सूरसागर, प्रथ० ६१, पद १५४; नव, पद २१, प्र०. प० २६,
१८ वही : प्र०, पद १९९
१९ वही : प्र०, पद १४५

मीन वियोग न सहि सकै नीर न पूछै बात।
सुभर सनेह कुरंग को श्रवनन राख्यो राग॥
धरि न सकत पग पछ्मनो सर सनमुख उर लाग।"[२०]

इसमें भ्रमर कमल चातक-स्वाति, सरोवर-कमल, मीन-जल तथ कुरंग-राग को प्रेम के उदाहरण में प्रस्तुत किया गया है। ये अप्रस्तु प्रसिद्ध हैं पर सूर ने इनको मानवीय जीवन के आरोप के साथ अधि व्यंजक बना दिया है।

ग—रूप-सौन्दर्य्य संबन्धी उपमानों की विवेचना साधना अन्तर्गत हुई है। सूर के समान उत्प्रेक्षाओं का आश्रय तुलसी ने लिया था। प्रौढ़ोक्ति का प्रयोग तुलसी ने अधि किया है। साथ ही उपमानों की योजना में तुल और सूर में एक भेद है। सूर ने गम्योत्प्रेक्षा का प्रयोग अधिक कि है और तुलसी ने वस्तु तथा फल संबन्धी उत्प्रेक्षाएँ अधिक की हैं वैसे दोनों में सभी प्रयोग मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त तुलसी व उपमान योजना को हम कलात्मक स्वीकार कर सकते हैं। उन्हों उपमानों को परम्परा से ग्रहण करके भी अपने अनुभव के आधा पर प्रयुक्त किया है। यह प्रवृत्ति की बात है। सांग रूपक बाँधने तुलसी सर्वश्रेष्ठ हैं. प्रकृति से संबन्धित रूपकों में राम-कथा औ मानस, राम-भक्ति तथा सुर सरिता के रूपक विस्तृत हैं। इसी प्रका आश्रम तथा शांत-रस के सागर का रूपक चित्रकूट के प्रसङ्ग में है—

तुलसीदास

आश्रम सागर सांत रस पूरन पावन पाथु।
सेन मनहुँ करुना सरित लिए जाहि रघुनाथ॥"[२१]

इसके आगे भी रूपक चलता है। इन रूपकों का निर्वाह सुन्दर लेकिन भाव, रूप तथा संबन्ध आदि का एक साथ प्रयोग किया गय

२० सूर० : भ्र०, पद २०५
२१ रामच०; तुलसी : अयो०, दो० २७५

है। तुलसी परिस्थिति के अनुरूप कल्पना सुन्दर करते हैं—

"लता भवन तै प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग विमल विधु जलद पटल विलगाइ॥"[२२]

इस उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त एक और भी परिस्थिति के अनुरूप है—

"उदित उदयगिरि मंच पर रघुवर बाल पतंग।
विकसे संत सरोज जनु हरषे लोचन भृंग॥"[२३]

वस्तु-स्थितियों के समान परिस्थितिगत भाव-स्थितियों को उपमान-योजना से तुलसी सफलता पूर्वक व्यक्त करते हैं। आह्लाद का भाव विभिन्न व्यक्तियों में दिखाने के लिए तुलसी इस प्रकार कहते हैं—

"सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जल स्वाती।
रामहि लखनु विलोकत कैसे। ससिहि चकोर किसोरकु जैसे।"[२४]

भावों को भी अनुभावों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है: तुलसी प्रौढ़ोक्ति सम्भव उत्प्रेक्षा से इसी प्रकार नेत्रों की व्यग्रता को प्रकट करते हैं—

"प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग जनु विधु मंडल डोल।"[२५]

कवि चकित होने के भाव को 'जनु सिसु मृगी सभीता' से व्यक्त करता है, व्यग्रता को 'विलोक मृग सावक नैनी' से प्रकट करता है।[२६] कहा गया है प्रकृति-रूपों के दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, अर्थान्तर्न्यास आदि के संबन्धात्मक प्रयोग से सत्य प्रस्तुत किए जाते हैं। इन

२२ वही; वही : बा०, दो० २३२
२३ वही; वह, वही. दो० २५४
२४ वही; वही, वही, दो० २६३
२५ वही; वही, वही, दो० २५८
२६ वही; वही, वही दो० २२९, २३२

प्रयोगो में संबन्ध तथा क्रम का ध्यान होता है। तुलसी ने इस प्रकार के कलात्मक प्रयोग किए हैं। दोहावली में प्रसिद्ध उपमान सुन्दर रूप में प्रयुक्त हुए हैं। महान-व्यक्ति छोटों को आश्रय देते हैं, इसके लिए प्रकृति से दृष्टान्त लिए गए हैं—

"बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं। गिरि निज सिरनि सदा तृन धरहीं।
जलधि अगाध मौलि वह फेनू। संतत धरनि धरत सिर रेनू।"[२७]

रूढ़िवादी प्रयोग

§ १०—यहाँ हम उपमानों के प्रयोग के विषय में केवल प्रमुख प्रवृत्ति के आधार पर विचार कर रहे हैं। यही कारण है कि केवल उल्लेख के रूप में संकेत किया गया है। रीति-कालीन परम्परा में उपमानों का प्रयोग रूढ़ि का केवल अनुसरण रह गया। प्रतिभा सम्पन्न कवियों में कुछ प्रयोग सुन्दर मिल सकते हैं, परन्तु इनके सामने से प्रकृति का रूप हटता गया है। इन्होंने उपमानों को केवल संबन्धात्मक शृंखला में समझा है और साथ ही इनके लिए उपमान केवल शब्द के रूप में रह गए, उनकी सजीवता का स्पन्दित स्वरूप सामने से हट गया। इस प्रकार की प्रवृत्ति भक्त कवियों में भी है। प्रमुख कवियों को छोड़कर अन्य कवियों ने अनुसरण मात्र किया है। इन समस्त परम्परा पालन करनेवाले कवियों के दो भेद किए जा सकते हैं। एक परम्परा में केशव और पृथ्वीराज आते हैं, जिन्होंने संस्कृत काव्य का अनुसरण किया है। दूसरी परम्परा में रीति काल के समस्त कवि हैं जिनके सामने मानवीय भावों का विषय रस के विभाजित भावों और अनुभावों तक सीमित हो गया है और स्थिति तथा परिस्थिति की कल्पनाएँ केवल अतिशयोक्ति, अत्युक्ति आदि अलंकारों के चमत्कार तक सीमित रह गईं।

क—केशव की 'राम चन्द्रिका' तथा पृथ्वीराज की 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' का उल्लेख किया गया है। इनमें उपमानों के विषय में प्रवृत्ति संस्कृत काव्य के अनुकरण की है। अनु-

संस्कृत का अनुसरण

सरण का अर्थ यह नहीं माना जा सकता है कि इन कवियों ने संस्कृत कवियों के प्रयोग सर्वत्र ले लिए हैं। वस्तुतः इसकी विवेचना तुलनात्मक आधार पर की जा सकती है। लेकिन यहाँ इसका अर्थ यह है कि संस्कृत में जिस प्रकार रूपात्मक सौन्दर्य का प्रमुख आधार है, उपमानों के विषय में इन कवियों की यही भावना मिलती है। जिस प्रकार इनके सामने संस्कृत का साहित्य था, उसी के अनुसार उपमानों के विभिन्न स्तर के प्रयोग इनमें मिलते हैं।

(i)—रसवादी होने के कारण इनमें उपमानों का प्रयोग भावों का ध्यान रखकर किया गया है। इस कारण प्रयोग सुन्दर हो सके हैं। कवि मुख पर यौवन की लाली के लिए

पृथ्वीराज

उत्प्रेक्षा देता है कि मानों सूर्योदय के समय पूर्व दिशा की लाली छा गई है। आगे शारीरिक विकास के लिए कवि रूपक प्रस्तुत करता है—'अवयव समूह ही पुष्पित होकर विमल वन है; नेत्र ही कमल दल हैं, सुहावना स्वर कोकिल का कंठ हैं; पुलक-रूपी पंखों को नई रीति में सँवार कर भौंह रूपी भ्रमर उड़ने लगता है।'[२८] युद्ध प्रसंग में वर्षा का लंबा रूपक है। आगे एक स्थल पर कवि ने लता की कल्पना सुन्दर की है—

"तिणि तालि तखी गलि स्यासा तेही
मिली भ्रमर भार जु नाहि।

वलि ऊभी थई घणा घाति वल
लता केलि अवलंब लहि।"[२९]

काव्य समाप्त करते समय वेलि का रूपक है। इनके अतिरिक्त, 'नगर-वासियों का कोलाहल, पूर्णिमा के चन्द्र-दर्शन से समुद्र का आन्दोलन', 'उड़ी हुई धूल में सूर्य ऐसा जान पड़ा जैसे वात-चक्र के शिखर पर पत्ता', 'मन्दिर के पार्श्व में सेना इस प्रकार लगती है मानों चन्द्रप्रभा मेरु पर्वत पर चारों ओर नक्षत्र माला' आदि अनेक प्रयोग पृथ्वीराज ने किए हैं।[३०]

केशव

(ii) पृथ्वीराज के विपरीत केशव अलंकारवादी हैं। इस कारण सामूहिक रूप से इनमें उपमानों का प्रयोग काल्पनिक चमत्कार के लिए हुआ है। अधिकांश स्थलों पर केशव ने वस्तु, परिस्थिति संवन्धी उपमान योजना में भाव और वातावरण का ध्यान नहीं रखा है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि केशव ने ऐसे प्रयोग किए ही नहीं। जनकपुर वरात के स्वागत के लिए उत्प्रेक्षा के द्वारा सागर तथा नदियों की कल्पना उचित है। इसी प्रकार सौन्दर्य्य को लेकर रूपक भी सुन्दर है—

"अति वदन शोभ सरसी सुरंग। तहँ कमल नैन नासा तरंग।
जनु युवती चित्त विभ्रम विलास। तेइ भ्रमर भँवत रसरूप आस।"

रावण के वश में पड़ी हुई सीता के विषय में संदेहात्मक उपमा भी सुन्दर है—'वह धूम समूह में अग्निशाखा है, या वादल में चन्द्रकला है, या वड़े ववडंर में कोई सुन्दर चित्र है। इसमें रावण की 'वगरूरे' से उपमा मौलिक जान पड़ती है। इसी प्रकार एक स्थल पर

---

२९ वही : वही : छं० १७७ [भ्रमरों के बोझ से पृथ्वी से मिली हुई लता कदली का सहारा पाकर बहुत से बल डालकर फिर खड़ी हो जाती है, उसी प्रकार उस समय, रुक्मिणी सखी के गले का सहारा लेकर उठ खड़ी हुई]

३० वही : वही : छं० १४१, ११५, १०६

उल्लेखों में सीता की उपमा स्वाभाविक है—

"भौंरनी ज्यों भ्रमत रहति बन वीथिकानि,
हंसनी ज्यों मृदुल मृणालिका चहति है।
हरिनी ज्यों हेरति न केशरि के काननहिं
केका सुनि व्याली ज्यों विलीन ही चहति है।"[३१]

नीचे की उपमा में उक्ति का वैचित्र्य अधिक है। सीता की अग्नि मग्न मूर्ति को लेकर जो सन्देहात्मक उपमानों की योजना हुई है, उनमें कहीं कहीं कोई सुन्दर कल्पना भी है। परन्तु प्रवृत्ति के अनुसार कवि ने योजना प्रस्तुत करने का ही प्रयास अधिक किया है। आगे की उत्प्रेक्षा में कल्पनात्मक चमत्कार है—'कोई नीलाम्बर धारण किए हुए स्त्री मन मोहती है, मानो बिजली ने मेघकान्ति को अपने शरीर पर धारण किया है। किसी स्त्री के शरीर पर बारीक साड़ी है, वह ऐसी शोभा देती है मानों कमलिनी सूर्य्य-किरण समूह को शरीर पर धारण किए हो।' आगे राम, सीता और लक्ष्मण को लेकर इसी प्रकार की उत्प्रेक्षा है—'मेघ मंदाकिनी चारु सौदामिनी रूप रूरे लसैं देहधारी मनो।' रामकी सेना के प्रस्थान के समय कवि उपमा प्रस्तुत करता है—'जब सेना उछल कर चलती है, पृथ्वी और आकाश सभी धूर से पूर्ण हो जाता है, मानो घन समूह से सशक्त होकर वर्षा आ गई है।......पाताल का पानी जहाँ तहाँ पृथ्वी के ऊपर आ जाता है और पृथ्वी पुरइन के पत्ते के समान काँपने लगती है।'[३२] इन थोड़े से प्रयोगों से केशव का प्रवृत्ति का अनुमान लग सकता है।

ख—प्रारम्भ में रीति-काल के कवियों की उपमान-योजना के विषय में उल्लेख किया गया है। इस काल में कवि नायक-नायिकाओं

---

३१ रामचन्द्रिका : केशव : छं० प्रका० ४, ५० या प्र० २०, चौ० प्र० २९

३२ वही : वही अ.ठ० प्र० १२, नवाँ ३५, चौ० प्र० ३७

के हाव-भाव, ऐश्वर्य्य-विलास के वर्णन में व्यस्त रहा है या अलंकारों के ग्रन्थ में उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयास करता रहा है। इन दोनों बातों से इनके प्रकृति संबन्धी प्रयोग पर प्रभाव पड़ा है।

रीति-काल की प्रमुख भावना

पिछले प्रकरणों में हम देख चुके हैं कि इन कवियों में प्रकृति का किसी प्रकार का सुन्दर रूप नहीं मिल सका है। उपमानों का प्रयोग प्रकृति सौन्दर्य्य से ही संबन्धित है, विना उसकी अनुभूति के उपमानों का प्रयोग सुन्दर नहीं हो सकता, उसमें कला के स्थान पर रूढ़ि आ जाती है। उपमानों के क्षेत्र में रीतिवादी कवियों में उनके प्रयोग की प्रवृत्ति भी कम हो गई है। पहले कवियों ने उपमानों की योजना की है, चाहे वह अनुसरण तथा परम्परा के अनुसार ही किया हो। पर इन कवियों में प्रयोगों की भी कमी दिखाई देती है। इसका कारण इस युग के काव्य में रस और अलंकार के उदाहरण प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति है। सेनापति जैसे प्रतिभावान कवियों ने अपनी कल्पना का प्रयोग श्लेष जुटाने में किया है।[33] इनमें उपमानों के सौन्दर्य्य बोध का रूपात्मक अथवा भावात्मक प्रयास कहाँ तक हो सकता है, यह प्रत्यक्ष ही है। इन समस्त कवियों में ऐसे स्थल कम हैं जिनमें उपमानों से भाव-व्यंजना के लिए सहायता ली गई हो। विहारी कहते हैं।

"रही मौन के कोन में सोन जुही सी फूलि।"[34]

---

३३ सेनापति ने कुछ श्लेष प्रकृति के आधार पर उपस्थित किए हैं—प्र० तरं० (११) राम तथा पूर्णचन्द; (१२) घनश्याम, तथा श्यामघन, (१३) नववारी और मदनवारी, (३१) वाला तथा नवग्रहमाल, (४२) गोपी वियोग तथा सागर, (५१) वर्षा तथा शिशिर, (५३) ग्रीष्म तथा वर्षा, (५५) रामकथा और गंगाधार, (७४) हरि, रवि, अरुण तथा तमी, (८४) वृजविरहिणी तथा दारुणी।

३४ सत०; विहारी : दो० ३२१

इसमें कवि का ध्यान कदाचित उल्लास या गर्व से अधिक यौवन के सौन्दर्य्य को व्यक्त करने की ओर है। इसी प्रकार मतिराम ने उत्कंठित नायिका के प्रतीक्षा तथा उत्सुकता में व्यग्र नेत्रों के लिए इस प्रकार की योजना की है—

"एक ओर मीन मनो एक ओर कंज-पुंज,
एक ओर खंजन चकोर एक ओर हैं।"

इसमें विभिन्न भाव-स्थितियों के लिए विभिन्न उपमानों का प्रयोग लगता है, और इस दृष्टि से यह प्रयोग बहुत सुन्दर माना जा सकता है। लेकिन ऊपर के वातावरण के अनुरूप उपमानों को जुटाने का प्रयास भी सम्भव हो सकता है, क्योंकि उस प्रकार के अन्य प्रयोग मतिराम अथवा किसी अन्य रीतिकालीन कवि में नहीं मिले हैं।[३५] इस विषय में बिहारी की एक विशेषता उल्लेखनीय है। अपनी आलंकारिक प्रवृत्ति में भी इनमें प्रकृति के रंग-प्रकाश का प्रयोग अच्छा है, यद्यपि संस्कृत कवि बाण तथा माघ की तुलना में नहीं ठहर सकते। एक पूर्णोपमा इस प्रकार है—

"सहज सेत पचतोरिया पहिरे अति छवि होत।
जल चादर के दीप लौं जगमगाति तन जोत॥"

इसी प्रकार एक उत्प्रेक्षा है—

---

३५ रसराज; मतिराम : छं० १९३—

"जमुना के तीर बहै सीतल समीर तहाँ,
मधुकर करत मधुर मंद सोर हैं।
कवि 'मतिराम' तहाँ छवि सौं छबीली बैठी,
अंगन तें फैलत सुगन्ध के झकोर हैं।
पीतम बिहारी के निहारिबे की बाट ऐसी,
चहुँ ओर दीरघ दृगन करी दौर हैं।"

"छप्यो छबीलो मुख लसै नीले आँचर चीर।
मनो कलानिधि झलमलै कालिंदी के तीर॥"

एक और भी वस्तूत्प्रेक्षा है—

"सखि सोहत गोपाल के उर गुंजन की माल।
बाहर लसति मनो पिये दावानल की ज्वाल॥"[३६]

इन सभी में कवि की कल्पना में रंग और प्रकाशों का सामञ्जस्य अच्छा है। इस प्रकार अनेक प्रयोग बिहारी में मिलते हैं। इनकी प्रवृत्ति इसमें प्रत्यक्ष है।

अलंकारों के प्रयोग में परम्परा के प्रचलित उपमानों को जमा भर दिया गया है। मतिराम मालोपमा का उदाहरण इस प्रकार देते हैं—

"रूप-जाल नंदलाल के परि करि बहुरि छुटैं न।
खंजरीट-मृग-मीन-से ब्रज वनितन के नैन॥"[३७]

यहाँ कवि को किसी प्रस्तुत को सामने प्रत्यक्ष करना नहीं है, वरन् मालोपमा देनी है और इसलिए इन उपमानों का संबन्ध नैन से अधिक रूप-जाल से है। इस माध्यम से इसमें किसी भाव का संकेत मिल भी जाता है, परन्तु पद्माकर की मालोपमा का प्रमुख उद्देश्य अपने आप में पूर्ण है—

"घन से तम से तार से, अंजन की अनुहारि।
अलि से मावस से बाला तेरे बार॥"[३८]

---

३६ सत० : बिहारी : दो० १२१, ११९, ६ इनके अतिरिक्त दो० ११३ में रंग के साथ कोमलता का भाव है।

"पग पग मग अगमन परति, चरन अरुन दुति झूल।
ठौर ठौर लखियत उठे, दुपहरिया से फूल॥"

३७ ललित ललाम; मतिराम : छं० ५०

३८ पद्माभरण, पद्माकर : छं० २३

इसके अतिरिक्त जब कवि अन्य अलंकारों में उपमानों को प्रस्तुत करता है, तब उसका ध्येय चमत्कार प्रदर्शन अधिक रहता है। प्रेम-पयोनिधि का रूपक अनेक कवियों ने कहा है, परन्तु पद्माकर की उक्ति ने उसको विचित्र बताया है—

"नैनन ही की घलाघल कै घन घावन कों कछु तेल नहीं है।
प्रीति पयोनिधि में धँसि कै हँसि कै चढ़िवो हँस खेल नहीं है ॥"[३९]

मुस्कान को सरद-चाँदनी कहना सुन्दर उक्ति है, इनमें भावात्मक सादृश्य है, पर मतिराम की उक्ति ने उसे विचित्र कर दिया है—

"सरद-चंद की चाँदनी, जाहि डार क्नि मोहि।
वा मुख की मुसक्यानि सी, क्यों हूँ कहौं न तोहि ॥"[४०]

इसी प्रकार देव भी मुख और नेत्रों के लिए सौन्दर्य बोध के स्थान पर वैचित्र्य कल्पना का आश्रय लेते हैं—

"कवि देव कहै कहिए जुग जो जलजात रहे जलजात में व्वै।
न सुने तवौ काहू कहूँ कबहू कि मयंक के अङ्क में पंकज द्वै ॥"[४१]

× × ×

मध्ययुग की इन समस्त उपमान-योजना संबन्धी प्रवृत्तियों के अतिरिक्त दो बातों का उल्लेख कर देना आवश्यक है। इस युग में उपदेशों के लिए प्रकृति से दृष्टान्त आदि की व्यापक प्रवृत्ति रही है। इसका मूल भारतीय साहित्य की व्यापक परम्परा में है। तुलसी, कबीर, रहीम, गिरधर, दीनदयाल आदि कवियों ने प्रमुखतः इनका प्रयोग किया है। इनमें अन्योक्ति, समासोक्ति का आश्रय भी लिया गया है। दूसरी उल्लेखनीय बात, प्रकृति से संबन्धी क्रिया-पदों का मानवीय

---

३९ जगद्विनंद; वही : छं० ३५३

४० दोहा०; मति० दो० ३२१

४१ भाव०; देव : २

संबन्धों में प्रयोग है।[४२] इस युग में सरसाना, चमकना, महकना, डहडहाना, लहलहाना, पियराना, ललाना, भीजना, चमकना, झिलमिलाना, मुरझाना, दमकना आदि अनेक प्रकृति—क्रियायों का प्रयोग मानवीय भावों तथा अनुभावों के विषय में हुआ है। इनका प्रयोग वाद के रीति-कालीन कवियो तक में बराबर मिलता है।

प्रमुख सहायक पुस्तकें

प्रथम भाग

प्रथम प्रकरण

१. ऐन आउट लाइन ऑव इन्डियन फ़िलासफी; हिरियन्ना।
२. इन्डियन फ़िलासफ़ी; एस० राधाकृष्णन्।
३. नेचुर्लिज़्म ऐन्ड एग्नास्टिसिज़्म; जेम्स वार्ड (१८६६ ई०)।
४. परसेप्शन ऑव फ़िज़िक्स एन्ड रियल्टी; सी० डी० ब्राड (१६०५ ई०)।
५. माइन्ड ऐन्ड इट्स प्लेस इन नेचर; सी० डी० ब्राड।
६. माइन्ड एन्ड मैटर; स्टाउट (१६३१ ई०)।
७. हिस्ट्री ऑव इन्डियन फ़िलासफ़ी; दास गुप्ता।
८. हिस्ट्री ऑव योरोपियन फ़िलासफी; फाल्कन वर्ग।
६. एवोल्यूशन आव रिलिजन; केअर्ड।

द्वितीय प्रकरण

१. एक्सपीरियन्स ऑव नेचर; जे० डिवी (१६२६ ई०)।
२. दि कलर सेंस; कार्लग्रास (१८७६ ई०)।
३. थियरी ऑव माइथालोजी; स्पेंस (१६२१ ई०)।
४. नेचर, इन्डिविजुअल ऐन्ड दि वर्ल्ड; जे० र्‌वाएस।
५. दि प्ले ऑव मैन; कार्ल ग्रास (१६०१ ई०)।
६. मैटफ़िज़िक्स ऑव नेचर; सी० रीड (१६०५ ई०)।
७. दि वर्ल्ड ऐन्ड दि इन्डिविजुअल; जे० र्‌वाएस (१६१२ ई०)।
८. स्पेस, टाइम एन्ड डियटी; अलेकज़ेन्डर

तृतीय प्रकरण

१. दि एमोशन एन्ड दि विल; ए० बेन (१८६५) ।
२. एनालिटिक साइकॉलजी; जी० एफ़० स्टाउट ।
३. दि क्रिएटिव माइन्ड; हेन्री बर्गसां ।
४. जेनरल साइकॉलजी; गिलीलेन्ड, मार्गन, स्लीव्स (१६३० ई
५. दि प्रिन्सपिल्स ऑव साइकॉलजी; डब्लू-जेम्स ।
६. ए मैनुअल ऑव साइकॉलजी; जी० एफ़० स्टाउट (१६२६
७. साइकॉलजी ऑव इमोशंनस्; रिबोट (१६११ ई०)

चतुर्थ प्रकरण

१. दि एसेन्स ऑव एस्थिटिक; क्रोशे (१६११ ई०)
२. एस्थिटिक्: क्रोशे (डुग्लोस एन्सली द्वारा अनुवादित १६२
३. एस्थिटिक इक्सपीरियन्स ऐन्ड इट्स प्रीसपोज़िशनस्'
सी० नाइम (१६४२ ई०)
४. एस्थिटिक प्रिन्सपिल; आर० मार्शल (१६२० ई०)
५. ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑव मार्डन एस्थिटिक्स; अर्ल ऑव
वेल (१६३३ ई०)
६. टाइप्स ऑव एस्थिटिक् जजमेंट; ई० एम वर्टलेट (१६३
७. दि थियरी ऑव ब्यूटी: केरिट (१६२३ ई०)
८. दि फ़िलासफ़ी ऑव फाइन आर्ट; हेगल (१६२० ई०)
६. दि फ़िलासफ़ी ऑव दि ब्यूटीफुल; डब्लू० ए० नाइट (१६
१०. फ़िलासफ़ीज़ ऑव ब्यूटी, केरिट (१६३१ ई०)
११. ब्यूटी एन्ड अदर फ़ार्म्स ऑव वेल्यू; एस० अलेक
(१६२७ ई०)
१२. माडर्न पेंटर्स; रस्किन
१३. साइकोलाजिकल एस्थिटिक्स; ग्रान्ट एलन (१८८७ ई०)
१४. दि सेन्स ऑव ब्यूटी; सन्टायन (१८६६ ई०)

१५. ए स्टडी इन कान्टस् एस्थिटिक्स; डन्हम (१९३४ ई०)
१६. ए हिस्ट्री ऑव एस्थिटिक्स; वोसांकेट (१९३४ ई०)

पंचम प्रकरण

१. आक्सफ़र्ड लेक्चेर्स ऑन पोएट्री : ब्रेडले
२. ए डिफ़ेन्स ऑव पोइट्री; पी० वी० शेली
३. ए प्रिफ़ेस टु दि लिरिकल बैलेड्स; वर्ड्सवर्थ
४. फ्रेंच प्ले इन लन्डन: मैथ्यू आर्नल्ड
५. लेक्चर्स आन इंगलिश पोएट्स; डब्लू० हेज़लिट
६. दि हीरो ऐज़ ए पोएट: कार्लाइल

द्वितीय-भाग

१. दि आइडिया ऑव दि होली; रोडल्फ ओटो
२. इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑव दि हिन्दू डॉक्ट्रिन; रेना ग्यूनॉन (१९४५)
३. इनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलजिन एन्ड एथिक्स (गॉड्स,हिंदू)
४. ए कॉस्ट्रकटिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फ़िलासफ़ी; आर० डी० रानाडे (१९२६)
५. ट्रान्सफ़ारमेशन ऑव नेचर; कुमार स्वामी (१९२४)
६. दि निर्गुण स्कूल ऑव हिन्दी पोइट्री; पी० डी० बड़थ्वाल (१९३१)
७. नेचुरल ऐन्ड सुपरनेचुरल; जान ओमन (१९२७)
८. नेचुरलिज़्म इन इंगलिश पोइट्री: स्टप्फोर्ड ब्रोक (१९२४)
९. दि भक्ति कल्ट इन एन्शेन्ट इन्डिया; भागवत कुमार शास्त्री
१०. मिस्टीसिज्म; इवीलेन अन्डरहिल (१९२६)
११. वर्शिप ऑव नेचर; जे० जी० फ्रेज़र
१२. दि सिक्स सिस्टम ऑव इन्डियन फिलासफी; मैक्स मुलर

१३. दि सोल इन नेचर: हान क्रिशचियन
१४. हिंदू गॉडस ऐन्ड हीरोज़; लियोनल डी० बार्नेट (१६२२)
१५. हिंदू-मिस्टीसिज़्म, महेन्द्रनाथ सरकार (१६३४)

संस्कृत काव्य-शास्त्र

१. संस्कृत पोइटिक्स; एस० के० डे
२. अलंकारसूत्र; वामन
३. काव्य प्रकाश, मम्मट (भं० ओ० सि०)
४. काव्य मीमांसा; राजशेखर (गायकवाड़ ओरि० सि०)
५. काव्यादर्श; दण्डी
६. काव्यानुशासन; हेमचन्द्र (काव्य माला)
७. काव्यानुशासनवृत्ति; वाग्भट्ट (काव्य०)
८. काव्यालंकार; रुद्रट (काव्य माला)
९. नाट्य-शास्त्र; भरत
१०. प्रताप रुद्रयशोभूषण; विद्यानाथ (बाम्बे संस्कृत प्राकृत सिरीज़)
११. रसार्णव; श्रीगशिङ्ग भूपाल (अ० सं० ग्र०)
१२. वक्रोक्ति जीवित; कुन्तल (क० ओ० सि०)
१३. साहित्य दर्पण (खे० श्री०)

मध्ययुग के अध्ययन के आधारभूत प्रमुख ग्रन्थ—

१. इन्द्रावती; नूरमोहम्मद (ना० प्र० स०)
२. कबीर ग्रंथावली; सं० श्यामसुन्दर दास (ना० प्र० स०)
३. कवित्त-रत्नाकर सेनापति; सं० उमाशंकर शुक्ल (हिंदी परिषद प्रयाग विश्वविद्यालय)
४. कीर्तन संग्रह, (अहमदाबाद, लल्लूभाइ छगनलाल देसाई)
५. चित्रावली; उसमान, सं० जगन्मोहन वर्मा (ना० प्र० स).
६. जायसी ग्रंथावली; सं० रामचन्द्र शुक्ल (ना० प्र० स०)
७. ढोला मारूरा दूहा; (ना० प्र० स०)

८. तुलसी रचनावली, सं० बजरंग (बनारस; सीताराम प्रेस)
९. नंददास ग्रंथावली, सं० उमाशंकर शुक्ल (प्रयाग, विश्व०)
१०. नल दमन काव्य: (पांडुलिपि, ना० प्र० स०)
११. पद्माकर-पंचामृत, सं० नंददुलारे वाजपेयी (रामरतन पुस्तक भवन, काशी)
१२. पावस-शतक, सं० हरिश्चन्द्र (खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर)
१३. पुष्टिमार्गीय पद संग्रह (बंबई; जगदीश्वर प्रेस)
१४. बिहारी सतसई: सं० बेनीपुरी
१५. बीजक, कबीरदास: पाखंड खंडिनी टीका (खे०श्री०)
१६. मतिराम-ग्रंथावली, सं० कृष्णबिहारी मिश्र (गंगा पुस्तक माला)
१७. मीरापदावली; सं० विष्णुकुमारी
१८. रसिक प्रिया; केशव, सरदारकृत टीका (खे० श्री०)
१९. रामचन्द्रिका; केशव; सं० लाला भगवानदीन (काशी, साहित्य-सेवा सदन) और टीका० जानकी प्रसाद (खे० श्री०)
२०. राम-चरितमानस (गीताप्रेस)
२१. विद्यापति पदावली; सं० नगेन्द्रनाथ गुप्त (इ० प्रे०)
२२- वेलि क्रिसन रुकमणी री; पृथ्वीराज (हि० ए० प्रयाग)
२३. सुन्दर-ग्रंथावली
२४. सुन्दरी-तिलक; सं० हरिश्चन्द्र (खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर)
२५. सूरसागर (बंबई, खेमराज प्रेस)
२६. हज़ारा; हाफ़िज ख़ाँ (लखनऊ; नवलकिशोर प्रेस)

प्रमुख पारिभाषिक शब्द

	अ	
अभ्यन्तरित	—	Transferred
अनुकरणात्मक	—	Imitative
अन्तर्वेदन	—	Organic Sensation
अन्तः सहानुभूति	—	Empathy
अभावात्मक तत्त्व	—	Non-Being
अभिव्यक्तिवाद	—	Expressionism
	आ	
आइडिया	—	Platonic idea
आत्म-तल्लीनता	—	Repture
आत्म-हीन भाव	—	Inferiority complex
आत्मानुकरण	—	Self-imitation
आह्लाद	—	Ecstasy
	इ	
इन्द्रिय वेदन	—	Sensation
इन्द्रियातीत	—	Transcendental
	क	
कल्पन, कल्पना	—	Imagination
काल	—	Time
क्रीड़ात्मक अनुकरण	—	Playful imitation
केन्द्रीकरण	—	Centralization
	ग	
गमन	—	Motion
	च	
चिकीर्षा	—	Volition

ङ:

ज	
जीवन-यापन	Preservation of Life
त	
तत्त्ववाद	Metaphysics
तोप	Pleasure
द	
दर्शन	Philosophy
दिक्	Space
न	
नैसर्गिक वरण	Natural selection
प	
पर प्रत्यक्ष	Concept
परम तत्व	Ultimate reality
परम सत्य	Absolute reality
परावर	Transcendent
परिणाम वाद	Principle of causality
पीड़ा	Pain
पोषण	Nutrition
प्रकृतिवाद	Naturalism
प्रतिविंब	Reflection
प्रतिभास	Phenomenon
प्रत्यक्ष बोध	Percept
प्रभावात्मक	Impressive
प्रयोगवाद	Empericism
प्रयोजनात्मक	Purposive
प्राथमिक	Primary

ब

बोध — Cognition

भ

भौतिक तत्त्व — Matter
भौतिक वाद — Materialism
भौतिक विज्ञान — Physical science

म

मन, मानस — Human mind
मनस — Minl
माध्यमिक — Secondary
मानवीकरण — Anthropomorphism

य

युक्तिवाद — Rationalism

र

राग — Conation
रूपात्मक रूढ़िवाद — Formalism

व

वंश विकसन — Propagation of Species
विकलन — Disintegration
विचार — Thought
विषमीकरण — Differentiation
विज्ञान — Idea
विज्ञानवाद — Idealism

श

शोषण — Absorption

स

संकलन — Integration

संवेदन — Feeling

संस्कारवाद — Classicism

सचेतन — Animated

सचेतन प्रक्रिया — Animated interaction

सर्जनात्मक विकास — Creative Evolution

सर्वेश्वरवाद — Pantheism

सहज बोध — Common Sense

सहज वृत्ति — Instinct

सहानुभूति (साहचर्य्य) भावना Sympathy

स्वचेतन (आत्मचेतन) Self conscious

स्वच्छंदवाद — Romanticism

स्वानुभूति — Intuition

अनुक्रमणिका